सहजानन्द-वस्तुतथ्य प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन

श्री [illegible] मन्दिर ट्रस्ट
सोनागिर, जिला दतिया, (म० प्र०)

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानंद" महाराज

सम्पादक—
पवन कुमार जैन
दुर्गाबाड़ी, सदर मेरठ।

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन सर्राफ
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारो ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ··· ॥ टेक ॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ····

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ····

परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ···

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारो ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारो ॥ ४ ॥ ॐ····

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोंपर पढ़ी जाती है—

१– मन्दिर आदिमें आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमंगमें टेकका व किसी छंदका पाठ ।
४– सभाओंमें बोलकर या बुलवाकर मंगलाचरण करना ।
५– यात्रा वंदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन

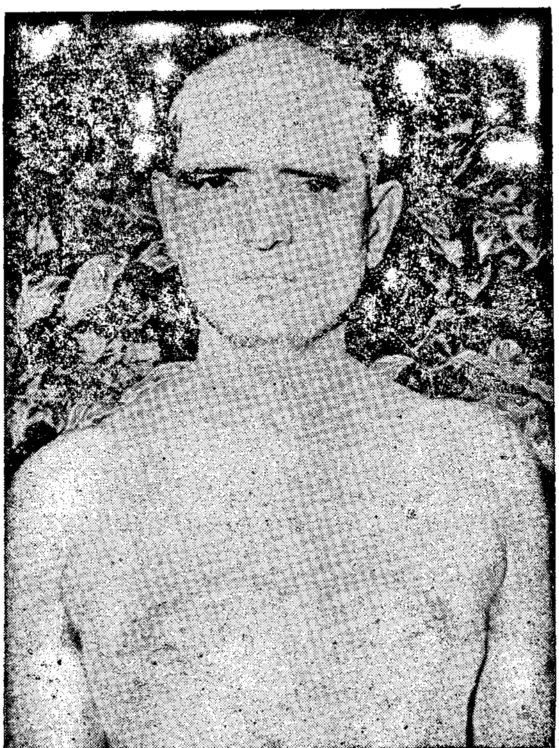

प्रवक्ता:—
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

सहजानन्द शास्त्रमाला
(मूल्य)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

लागत बिना जिल्द १)२५ रु०
जिल्द का पृथक् : १)५० रु०

सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१)

(१) **प्राणियोंके दुःखी रहनेका कारण**—हम आप सब संसारी प्राणी एक यह ही चाहते हैं कि हम दुःखी न हों और सुखी हों, शान्त हों, पर शान्तिका उपाय कषाय करना नहीं, किन्तु कषायसे दूर रहना है। कषाय स्वयं दुःख स्वरूप है। कषाय रखकर दुःखसे दूर होनेकी आशा करना बिल्कुल व्यर्थ है। तो सुख चाहिए, शान्ति चाहिए, आराम चाहिए तो यह आवश्यक है कि अपनेमें कषाय न जगें। सभी कषायोंका अनुभव परख लीजिए। जब चित्त में क्रोध जगता है तब भीतरमें यह धधक जाता है, दुःखी हो जाता है। अच्छा किसी न्याय की बात पर क्रोध होता हो तो देखो, अन्यायपर क्रोध होता हो तो देखो, किसी भी विषयमें क्रोध होता हो वह देखो, दुःखका सभी अनुभव करते हैं। जब मान कषाय जगती है तो यह सब भूल जाता है कि संसार तो अनादि अनन्त है और यह लोकक्षेत्र बहुत परिमाण वाला है। इस जरासे परिचित क्षेत्रके लिए क्या गर्व करना ? अगर सारे लोकमें हमारा यश फैले तो थोड़ा यशका प्रयत्न कर लें, पर सारे लोकमें तो यश फैलता नहीं। तो जरा सी बिन्दु बराबर जमीनमें चलाकी कामना करके क्यों दुःखी होते ? गर्व होता है यशके आधारपर। कुछ यश मिलता हो, कोई दूसरा अच्छा कहता हो तो वहाँ गर्व होता है। और जिसके गर्व हुआ उसने अपना पतन किया। किसीमें चाहे कुछ पुण्योदयवश तृष्णा बनती रहे मगर भीतर तो खोखला हो जाता है। जो बात जिस विधानसे होनी होती है उसे कौन टालेगा ? कोई सोचे कि हम गर्व करें और संसारमें शान्तिके पात्र रहें तो कैसे हो सकेगा ? मायाचार कषाय प्रकट क्लेशमय है। जब किसीके साथ छल किया जाता है तो इसका आत्मबल खतम हो

जाता है। फिर इसके ज्ञानमें क्रान्ति नहीं रहती, दबा हुआ रहता है, कायर बनकर रहता है, और निरन्तर कितनी ही प्रकारके विभाव जगते हैं, कल्पनायें जगती हैं, वहां यह दुःखी होता है। और लोभका रंग तो बहुत ही बुरा रंग है। धनका लोभ हो तो वह तो एक बहुत दुःख वाली स्थिति है।

(२) **यशोलोभकी महती मलीमसता**—किसीको ज्ञानका लोभ होता तो किसीको धन का। तो देखो जगतमें हमारा यश हो, इस भावसे ही लोभ जगता है सबके। धनका, विद्याका, अपनी नामवरीका, किसी बातका जब लोभ जगता है सो सब लोभका आधार है यश। नहीं तो पूछ लो कि धनी क्यों ज्यादा बनते जा रहे? लखपति हो गए तो अब करोड़पति बनना चाहते। अरे खानेको रोटी नहीं मिलती क्या? तन ढांकनेको कपड़े नहीं मिलते क्या? बताओ कौन सी कमी आयी जो करोड़पति बननेका भीतरमें भाव रखते? उदयवश बन जाय करोड़-पति तो उसकी बात नहीं कह रहे, मगर जो इच्छा रखता, तृष्णा करता तो यह बताये वह कि करोड़पति क्यों बनना चाहता? इसीलिए कि लोग कहेंगे कि अच्छा धनिक तो यह है। और जहां सभा होगी वहां लोग आगे बैठा लेंगे या अन्य कुछ बात, इसलिए धनी बनता है। तो आखिर आयी ना यशकी बात? कोई लोग कहते हैं कि भाई पुत्र नहीं है, सब सूना लगता है। अरे तो पुत्र न होनेसे दुःख मान रहा क्या यह? यह सोच रहा है कि मेरे बाद लोग क्या कहेंगे कि कुछ नहीं रहा। यह इसका लड़का है, मेरा नाम रहेगा, इस तरहसे कोई यश की बात चित्तमें है तब उसको पुत्रकी बात मनमें आती है। तो सब जगहके दंद-फंदोंका कारण यश वाञ्छा है जो कि बिलकुल अप्रयोजक है। सो यशकी चाह करना कितना पागल-पन है? यह यश सारी दुनियामें तो फैलता नहीं, बिन्दु भर जगहमें कुछ यश हो तो कल्पित यशमें यह लट्टू रहता है। सारे जीवोंमें तो यश फैल नहीं सकता, कुछ हजार पाँच सौ में यश आ गया वो उससे अपनेको बेसुध बना देते हैं। अनन्त काल तक तो यश रहेगा नहीं, रह जायगा कोई १०-२०-५० अथवा १०० वर्ष तक, तो इस अनन्त कालके सामने यह १००-५० वर्षका समय क्या कीमत रखता है? इतने के लिए मरते फिरते हैं। इस यशका लोभ, यशकी वाञ्छा यह इस जीवको घेर घेर करके बरबाद करने वाली चीज है।

(३) **शाश्वत सत्य शान्तिका उपाय और संकट हेतु विध्वंसक धर्मपालन**—बाहरमें कौन सा पदार्थ ऐसा है कि जिसके पा लेनेसे इस जीवको शान्ति लाभ हो? तो कुछ भी समा-गम बनाये, कुछ भी बात आये, उससे शान्तिका लाभ नहीं। तब कहाँ लाभ है? धर्मपालन में। रूढ़ि वश भी लोग कहते हैं कि धर्म करो। धर्मसे सुख होता है। और चित्तमें विचार कर देख लो, धर्म करनेसे सुख होता कि नहीं? धर्म क्या चीज है, धर्मका पालन किसलिए

करना है और धर्मकी किसको जरूरत है ? इन तीन बातोंका निर्णय हो तो धर्मपालनकी दिशा अच्छी बन सकती है । कितनी बात समझना है—धर्म किसे चाहिए, धर्म किसे कहते और धर्म किसलिए करना, इन तीनों बातोंको भली प्रकार समझना है । धर्म किसे चाहिए ? जिसको कुछ पीर हो, संकट हो, और अन्तः स्वरूप कष्ट सहित हो उसे धर्म चाहिए । संकटोंका निवारण करनेके लिए धर्मकी आवश्यकता है, पर संकट नाम किसका ? कहीं धन कम हो गया या कोई कठिन रोग हो गया या कोई हानि हो गई या घरमें कोई गुजर गया, इसको संकट नहीं कहते हैं। ये संकट हैं ही नहीं। कोई घरका गुजर गया, आयुसे आया, आयुक्षयसे गुजर गया। चला गया, कहीं भी हो । आपपर क्या संकट आया ? अगर १०-५ हजार कहीं गिर गए या कुछ हो गया, नुकसान पड़ गया तो आपपर क्या संकट आया ? वह तो बाहरकी चीज है । आप तो एक ज्ञानस्वरूप परमार्थ आत्मतत्त्व हैं । सोचिये जरा विवेकपूर्वक कि संकट क्या आया ? बाहरी पदार्थोंकी कुछ से कुछ परिणति होना इसका नाम संकट नहीं है । संकट तो इसका नाम है कि जो भेरेमें विकल्प उठते हैं और जन्म मरण होता है । तीन बातें रख लो–जन्म, मरण और विकल्पका होना, सो इन तीनमें भी मूल तो विकल्पका होना है । जन्म, मरणका भी कारण क्या है ? विकल्प होना । तो संकट क्या ? विकल्प होना । तो संकट क्या है हम आप पर ? जो चित्तमें ये व्यर्थके विकार विकल्प हुआ करते हैं ये हैं संकट । किसीकी समझमें यह बात आयी भी होगी, किसीकी समझमें नही भी आयी होगी । कभी ऐसा किसी को भी उल्टा लग रहा हो कि क्या कह रहे हैं ? अरे इन पर खुद गुजरे और शान्त रहें तब जानें । बैठ गए तख्तपर और बोलने लगे । संकट इसका नाम नहीं है कि बाहरी पदार्थमें कुछ परिणति बन जाय, अरे संकट है विकल्पका नाम । तो लग ही रहा होगा ऐसा । सो भैया यहाँ कोई दावा नहीं किया जा रहा है, जिसके संकट है वह बोल रहा है । तो आखिर यह संकट मिटे कैसे ? उसकी कोई निगाह तो बनानी होगी । बाह्य पदार्थोंकी परिणतिका संग मान मानकर सब संकट समझ-समझ कर अनन्तकाल तो व्यतीत कर डाला और संकटोंसे छुटकारा तो हो न सका ।

(४) **तृष्णारोगकी खुदके द्वारा पहिचानका दिग्दर्शन**—प्रायः सभी की ऐसी हालत है कि बहुत बड़ा धनिक हो जाने पर भी यह सोचते हैं कि इससे तो अच्छा मैं १० साल पहले था । चाहे आज कितना ही अधिक धन हो गया, कितना ही कहीं नेता बने, यशस्वी बने, वह व्याकुल होकर यह ही भीतरमें सोचता है कि मैं इससे तो पहले अच्छा था । जैसे अब एक सामूहिक चित्रण करें, आज समाजमें कुछ बेढंगे जानकार लोग होने लगे तो आज बुरी दशा हो रही, और ४० वर्ष पहले जब तक लोग अधिक जानकार न थे, मान लो अज्ञानी थे, अज्ञानी तो आजकल भी हैं । ज्ञान नाम किसका ? कुछ शब्द बोलनेका नाम ज्ञान नहीं है,

ज्ञान नाम उसका है कि जिसके होनेपर आश्रव निवृत्ति हो जाय। तो कमसे कम ४० साल पहले एक स्वर तो था, प्रभुभक्तिका माहात्म्य तो जानते थे, श्रद्धा तो थी, सरल तो थे। आज तो १५ दिनमें ही शुद्ध बुद्धकी ही बात कहकर उद्दण्ड हो गये। बात यह कह रहे हैं कि कुछ ऐसा प्रवाह है कि एक व्यक्ति भी बड़ी उम्र पाकर यह अनुभव मानता कि इससे तो हम १०-१५ साल पहले अच्छे थे। थोड़ा धन था, सुखसे रहते थे, प्रभुभक्ति करनेका समय मिलता था। अब तो इतनी बुरी हालत हो गई कि एक मिनटकी भी फुरसत नहीं मिलती, अनेक उलझनोंके बीच बने रहा करते। तो बात क्या हुई कि तृष्णाका बढ़ाव दिन प्रतिदिन समय समयपर बढ़ता चला जा रहा है, उसका कारण तृष्णा है।

(५) **धर्मपालनका प्रयोजन शाश्वत सहज सत्य आनन्दका लाभ**—जो ऐसा सोचता है कि हम इतने बड़े हो गए, अब अधिक दु:ख है तो बड़े होनेसे दु:ख नहीं। बाहरी पदार्थों के मिलने बिछुड़नेसे सुख दु:ख नहीं। सुखके विकल्प करनेसे सुख है और दु:खके विकल्प करनेसे दु:ख है। तो जो विकल्प करना है वह है अधर्म का पालन और धर्म-पालन क्या है कि विकल्पका जो भाव है उस विकल्पसे हट जाना यह कहलाता है धर्मपालन। तो ऐसे धर्मपालनका प्रयोजन क्या है? किसलिए धर्मपालन करना? इसलिए करना कि सदाके लिए हमारे संकट समाप्त हो जायें। तब होगा क्या? सहज, शाश्वत, निरपेक्ष स्वाभाविक आनन्द जग जायगा। तो धर्मपालनका प्रयोजन है शाश्वत सहज आनन्दका लाभ। देखिये धर्म धर्म सब कहते हैं और जैसा ही उनका वह धर्म है वैसा ही धर्मका प्रयोजन है। मेरा बच्चा निरोग हो जाय माता तो ढालेंगे, अमुक काम सिद्ध हो जाय तो अमुक धर्म करेंगे, तो न वह धर्म है और न यह धर्मका सही प्रयोजन है। कभी भी ऐसा नियम नहीं है कि मैं कोई कुदेव पूजा करूँ या अन्य अन्य बात करूँ और मेरा लड़का निरोग हो जाय, सम्पदा जुड़ जाय, ऐसा बिल्कुल नहीं होता। और की तो बात जाने दो। भगवान की भी पूजा करो तो भी उससे धन जुड़ जाय ऐसा कभी नहीं होता, पर सम्बंध क्या है कि भगवानकी पूजा करेंगे तो उसमें भगवानके गुणोंका स्मरण होगा, पुण्यका बंध होगा, पाप रस खिरेगा। तो पापरस खिरा, पुण्य आया वह कारण है यह जो बाहरी समागमका लाभ हुआ। प्रभुने कहीं आकर आपको दे नहीं दिया। तो यह तो यों होते, और जिसने इस धन वैभवको ही एक तुच्छ समझ रखा हो उसको इसमें प्रयोजन क्या? तो धर्मपालनका प्रयोजन यह समझना कि मेरेको शाश्वत सत्य सहज आनन्दका लाभ हो, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए, वह धर्मका अधिकारी है। देखो ऐसा भाव, ऐसा प्रयोजन तब बनता है जब कि यह मनुष्य एक बंधन अनुभव न करे घरका बन्धन अनुभव करे। तो स्वानुभव बन जायगा क्या?

श्रौर कुछ मान लो, कुछ एक पार्टी बना ले श्रौर उसका बंधन चित्तमें तो रहता ही है, ख्याल तो रहता ही है कि मैं इस पार्टीका हूं तो उसके स्वानुभव जग जायगा क्या ? श्ररे जिसके यह बोध हो गया कि मैं तो केवल सहज ज्ञानस्वभावमात्र श्रंतस्तत्त्व हूं, उसके जगेगा स्वानुभव। धर्मपालन उसके हो सकेगा। सर्व जगजालोंसे जो हटा हो श्रौर केवल एक सहज ज्ञानस्वभावके नातेसे ही सब कुछ श्रपनी पहिचान श्रौर वृत्ति करता हो वह है धर्मका श्रधिकारी। तो धर्मपालन क्या है, धर्मपालनका प्रयोजन क्या है, श्रौर धर्मपालन किसे करना चाहिए, ये तीन बातें भली प्रकार समझना है। तो श्रब चलो मान लो कि संसार सारे संकटोंसे भरा है। इस संसारमें किसी चीजकी वाञ्छा न करना चाहिए। नहीं कर रहे तो श्रब क्या करना ? धर्मपालनमें क्या काम रह गया करनेको ? काम क्या रह गया ? धर्मपालनका मतलब क्या है ? कोई हाथ पैरकी क्रियाश्रोंसे या सिर पीटनेसे धर्मपालन होता है क्या ? धर्मका पालन करना सो धर्मपालन है। श्रौर धर्म है क्या वस्तु ? स्वभाव, श्रात्माका चैतन्यस्वरूप। जिस पदार्थका जो स्वभाव है वह उस पदार्थका धर्म कहलाता है। मेरे श्रात्माका जो स्वभाव है उसका नाम है धर्म। श्रौर उस स्वभावकी दृष्टि करना, इस स्वभावका ज्ञान करना, उस स्वभावमें रम जाना, इसे कहते हैं धर्मपालन।

(६) **धर्मकी धुनमें बढ़ने वाले महापुरुषके संयमासंयम व संयमकी श्रापतितता—** धर्मपालनकी दिशामें जो श्राचार्य संतोंने मुनिव्रत, श्रावक व्रत, संयम श्रादिकका उपदेश किया है तो श्राप इसकी उपयोगिता यों समझें कि जब श्राप धर्म पालनेके लिए कटिबद्ध हो जायें, मेरेको तो श्रपने श्रात्मस्वभावका ज्ञान, श्रद्धान श्रौर श्राचरण करना है, इसपर श्राप कटिबद्ध हो जायें तो स्वयं समझमें श्रा जायगा कि व्यवहार संयमकी क्या उपयोगिता है ? जब हम इस श्रात्मस्वभावमें रमनेकी धुन ही न बनायें तो शंकायें होती हैं कि व्यवहार तो व्यवहार है, उससे क्या होता है ? श्रौर जब एक निज चैतन्यस्वभावमें वह श्रपने श्राप समझ लेगा कि बाह्य संयम या चरणानुयोगकी उपयोगिता क्या है, कैसे है सो देखो—जब इस श्रात्माकी धुन बने कि मुझे चैतन्यस्वभावमें रमकर ही रहना है तो श्राप यह बतलाश्रो कि जो बाहर की श्रौर श्रौर बातोंमें फँसा रहता हो, वहाँ उपयोगी बना रहता हो उसकी यह धुन हो सकेगी क्या कि मेरेको तो सिर्फ चैतन्यस्वरूपका दर्शन चाहिए श्रौर कुछ न चाहिए ? ऐसी दृष्टि व वृत्ति होना यह धुनकी पहिचान है। जिसको जिसकी धुन बन जाती है उसकी दृष्टिमें केवल वही समाया रहता है। तो चैतन्यस्वरूपकी धुनका श्रर्थ क्या है कि एक मात्र चैतन्यस्वरूप ही समाया हुश्रा है। तो जिसके यह चैतन्यस्वरूपमें समानेकी धुन बने उससे घर गृहस्थीकी सम्हाल बन पायगी क्या ? उससे क्या श्रारम्भ परिग्रहकी सम्हाल बन सकेगी क्या ? चित्स्वरूपके धुनियाको तो

यह ही बड़ी विडम्बना लगती कि एक लंगोट भी रखे तो उसे धोना, कहाँ धुला, शुद्ध है कि नहीं, किसीने छू तो नहीं लिया, इतना भी शल्य उसे पसंद नहीं होता जिसके निज चैतन्य स्वरूपकी धुन लग जाती है। तो क्या करे ? फल यह होता है कि जब बाहरी पदार्थोंसे कुछ प्रयोजन न रहा तो उनसे हट जाते हैं। तो उन सबसे हट जाने का ही रूप है मुनिदशा। वह एक चैतन्यस्वरूपकी धुन वाला नहीं है जिसके परिग्रह लगा हो। जो क्षोभ किया करता हो, जो बहुत निदान बाँधता हो, आगे पीछेकी बड़ी योजनायें शल्य बनाता रहता हो, वह तो बंधनमें है। जहाँ मुनित्व प्रकट होता है वहाँ ऐसा अन्तरंग और बाह्य साधन बन जाता है। अन्तर्दशा तो है चैतन्यस्वभावकी धुन और बाह्य स्थिति है समस्त परिग्रहसे रहितपना। आप उस चैतन्यस्वरूपकी धुनियाकी बात सुन रहे हैं जिसको निज सहज ज्ञायकस्वभावकी धुन लग गई। उसे अब बाकी सारी धुन मिट गई। जिस जिस चीजके बिना काम चल सकता उसको रखता नहीं, ऐसा उसका दृढ़ संकल्प हो गया। घर बिना चल सकता नहीं क्या ? हाँ चल तो सकता है। क्षुधाकी तीव्र वेदना हो तो दूसरेके घर खा लें। अपने घरका खा खाकर कोई भगवान नहीं बना। जितने भी भगवान बने वे अपने घरका खाना छोड़कर ही बन सके। चाहे उन्होंने फिर खाया ही न हो तो या परघर खाया हो। तो ऐसे दो प्रकारके लोग भगवान बन सके। अपने घरका खा खाकर कोई भगवान नहीं बनता। एक भी उदाहरण आप नहीं पेश कर सकते। तो घरके बिना काम न चलेगा क्या ? हां चलेगा। अच्छा अब इसी बात को सोचते रहो। रजाई तकके बिना काम न चलेगा क्या ? चलेगा। अच्छा चद्दर, लंगोटी बिना काम नहीं चलता क्या ? आत्माका काम चल जायगा व ऐसी स्थिति मुनिव्रतकी है।

(७) **मुनिव्रतमें परमोपेक्षाका दर्शन**—अच्छा और विचारो–पिछी, कमंडल बिना भी इस आत्माका काम न चलेगा क्या ? चल जायगा, मगर एक थोड़ी समस्या आयगी। चल तो जायगा, पिछी कमण्डल न हो तो वह भी मुनि कहलाता है मगर उसे क्षुधा लगी हो, आखिर शरीर ही तो है, तो अब शौचादिकका काम कमण्डल बिना चल नहीं सकता। पिछी कमण्डल बिना चल नहीं पाता उनका काम इसलिए पिछी कमण्डल आवश्यक हो गए। एक जगह बैठे रहते आत्मध्यानमें तो फिर पिछी, कमण्डलकी भी उन्हें क्या जरूरत थी ? बहुबली विरक्त होकर तपश्चरणमें आ गए, अब पिछी, कमण्डल उनके पास कहाँ धरे थे ? और रहे भी होंगे तो कोई उठा ले गया होगा, कहाँ तक धरे रह सके ? आत्मध्यानमें रहे और मुक्त हो गए, किन्तु वे अगर विहार करते तो पिछी बिना न कर सकते थे। और, विहार करना, चर्या करना एक जीवनमें शारीरिक नातेसे आवश्यक हो गए, इसलिए कदाचित् पिछी बिना नहीं चल सकता। और जब आहार किया तो मल मूत्र करना, यह शरीरकी बातको कौन

साध सके ? अभी आप सोच सकते हैं कि हमको रात भर भोजन नहीं करना है मगर कोई ऐसा सोच कर तो बैठे कि मुझे रात भर मूत्र नहीं करना। अच्छा हमको २४ घंटेके लिए खानेका त्याग। जरा ऐसा तो करके दिखावो कि हमारा २४ घंटेको लघुशंकाका त्याग। तो वह तो न कर पायेंगे और अगर करेंगे तो कमण्डल चाहिए। तो कमण्डल कदाचित् उपयोगी हो गया। अब ऐसे ही बैठे रहें तो कहाँ तक चित्त ज्ञानमें रमे ? तो एक शास्त्र चाहिए। इन आधारोंपर शास्त्र, कमण्डल और पिछी इन तीन बिना तो नहीं चल पाता, और किसीके इन तीन बिना भी चल जाता है। किनके चल जाता है, जिनको आहार नहीं करना है, जिनको कहीं जाना नहीं, जो एक जगह ही ध्यानमें लीन हो गये, जैसे बाहुबलि आदिक हुए। तो इसी प्रकार यह समझो कि जिसको चैतन्यस्वरूपकी धुन हो उसका बाह्यरूप तो यह आवेगा ही।

(८) विषयोंकी प्रीति व धर्मकी गप्प छोड़कर परमार्थ पौरुष करनेका अनुरोध— अब खानेमें भी मजा आ रहा, लोगोंके मेल मिलापमें भी मौज मान रहे, हँसते भी हैं, लोगों में बैठते भी हैं और सभी प्रकार की और और भी चितायें करते हैं। और, यह मेरा, यह गैर, यह विरोधी है, ये भी प्रोग्राम रखने पड़ते हैं। तो भला बतलाओ वहाँ इस चैतन्यस्वभावकी धुन रही कहाँ ? बिल्कुल विपरीत हो गया। धर्म कीजिए तो फल मिलेगा, केवल गप्पें मारने से फल न मिलेगा। जैसे कोई भोजनकी गप्प करें तो पेट न भर जायगा। भोजन करे तो उससे कहीं शान्ति, संतोष बन जायगा। अगर धर्म करते बने तो शान्ति, संतोष हो सकता है। तो धर्मका स्वभाव और उस स्वभावकी धुन बने, उसमें रमण करनेका पौरुष बने, यह कहलाता है धर्मपालन। पर ऐसे धर्मपालनके लिए जो चलता है उसकी निरारम्भ निष्परिग्रह अवस्था होती है। उसीका नाम मुनि धर्म है। और, जो मुनिधर्मको नहीं पाल सकता उसके लिए स्वाभाविक धर्म है कि वह थोड़ा परिग्रह रखकर परिमाण कर ले। जो जो कुछ थोड़ा थोड़ा रखें, बाकीका विकल्प छोड़ दें, यह आधार है श्रावक व्रतका, न कि तृष्णामें लगना। जो तृष्णामें लगा है वह स्वाभाविक वृत्तिमें नहीं है। तो धर्मपालन करना है। वह धर्मपालन अपने आपके स्वभावमें है। उसकी दृष्टि बनावें, उसका ज्ञान करें, उसकी धुन बनावे, ऐसा करें और फिर कोई प्रयोगमें बात आती हो उसे करके बतावें। करें तो है नहीं और यह भी ठीक नहीं, वह भी ठीक नहीं, ऐसा कहते रहें तो ऐसी वृत्ति ठीक नहीं। अरे न धर्म करते बने और न भक्ति करने बने, तो फिर क्या करना ? इसलिए यह ही पद्धति है कि अशुभको छोड़ें और शुभमें आवें। और फिर शुभको भी पार करें, धर्ममें दृष्टि रखें, आगे बढ़ें। और सर्व शुभ, अशुभ विकल्पोंसे रहित होकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव करें, यह ही धर्मपालन है।

(९) धर्म और धर्मका पालन—अभी तक यह बताया गया कि जीवका हित धर्म पालनमें है। विषय कषायमें जीवका हित नहीं है। धर्मका नाम लेकर भी विषय कषाय यदि थोपे जाते हैं तो कहीं धर्मपालनका लाभ नहीं मिलता। वह तो जो परिणति होती उस परिणतिका नफा टोटा चलता है। तो धर्म बिना जीवका कोई शरण नहीं है। धर्म ही एक आत्माका साथी है। उस धर्मपालनमें धर्म क्या चीज है? तो बताया है कि धम्मो वत्थु सहावो, याने वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं। देखो धर्म करनेकी चोज नहीं है किन्तु धर्मसे देखने की और धर्ममें लगनेकी बात है। धर्म कोई कर नहीं सकता है। वस्तुका जो स्वभाव है उसका नाम धर्म है। कोई स्वभावको कर देता है क्या? स्वभाव तो वस्तुमें अनादिनिधन है। धर्म किए जानेकी चीज नहीं, किन्तु वह तो अनादि स्वतःसिद्ध तत्त्व है। उस धर्मकी दृष्टि होना, उस धर्मकी धुन होना, उस धर्ममें मग्न होना यह ही धर्मपालन कहलाता है। तो सार क्या चीज हुई? वस्तुका स्वभाव। जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। अब मोटे रूपमें जैसा घटाना है घटा लीजिए। अग्निका धर्म क्या है? गर्मी, जलका धर्म क्या है? ठंडापन और यों कहो—जैसे लोकरूढ़िमें कहते कि बिच्छूका धर्म क्या है? काटना, दयालुका धर्म क्या है? दया करना। हम परमार्थ धर्मकी बात नहीं कह रहे किन्तु लोकमें लोग किस तरह कहा करते हैं और उनके कहनेकी मंशा क्या है? जिसका जो स्वभाव है उसका वह धर्म है। अब परमार्थसे देखें तो पदार्थमें निरपेक्षतया अनादि अनन्त जो स्वरूप है वह कहलाता है स्वभाव याने धर्म। तो अन्य पदार्थोंमें जो धर्म है उससे अपनेको तो कोई प्रयोजन नहीं। पुद्गल परमाणुका धर्म पुद्गल परमाणुमें है, और और द्रव्योंका धर्म उन-उन द्रव्यों में है। धर्म मायने स्वभाव। तो उन धर्मोंसे हमें क्या मिलता? अपने धर्मकी बात कहो। आत्माका धर्म क्या है? आत्माका धर्म है आत्माका सहजस्वभाव, ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, यह है आत्माका धर्म। सो बात यह आयी ना कि स्वभावकी दृष्टि करें, स्वभावका ज्ञान करें, स्वभावमें मग्न हों तो धर्म मिलेगा। तो धर्म जब स्वभावसे ही सम्बंधित है तो स्वभावदृष्टिका उपाय बनाना कर्तव्य है। हम अपने आप स्वभावको ही न जान सकें तो धर्म हम क्या करेंगे, क्योंकि धर्म नाम है स्वभावकी दृष्टि करना। और स्वभावमें मग्न होना उसे कहते हैं धर्म। तो इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वभावका परिचय पायें।

(१०) स्वतंत्र सत्का परिचय होनेपर स्वभावके परिचयकी संभवता—स्वभाव-परिचय कब मिलेगा जब कि वस्तुका परिचय हो। स्वभाव कोई अलग वस्तु नहीं है, स्वतंत्र सत् नहीं है, वह तो पदार्थका ही जो निरपेक्ष स्वरूप है उस ही को स्वभाव कहते हैं। जैसे लोग रूपको देखते हैं, बोलो कोई रूपको देख सकता है क्या? रूप देखनेमें आ ही नहीं

सकता। आप लोग सोच रहे होंगे कि रोज रोज रूप देखते हैं काला, पीला, नीला, लाल, सफेद आदिक देखा करते हैं और कहते हैं कि रूपको कोई नहीं जानता, क्योंकि रूप स्वतंत्र सत् नहीं है। तो सुनिये जो सत् है वही प्रमेय होता है, असत् प्रमेय नहीं होता। अगर रूप स्वतंत्र सत् हो तो रूपमें साधारण गुण, असाधारण गुण और प्रदेशवान और द्रव्यपर्याय, गुण-पर्याय ये सब उसमें होने चाहिए। ये सत्के लक्षण हैं। जो भी है, जो भी वस्तु है, उस वस्तु में जो बातें पायी जाती हैं सो वे कुछ हैं ही नहीं। तो रूप कोई पदार्थ नहीं, स्वतंत्र सत् नहीं, सत्तावान नहीं। तो फिर देखनेमें क्या आता? देखनेमें आता है पुद्गल। जाननेमें आता है स्कंध। आँखोंसे देखा तो रूपकी प्रमुखतासे यह स्कंध देखा और रसनासे जाना तो रसकी प्रमुखतासे स्कन्ध जाना। रस कोई अलग वस्तु नहीं, रूप अलग वस्तु नहीं, रस रूपादिकसे अलग पदार्थ मानने वाला दर्शन कहलाता है बौद्धदर्शन। उनका ज्ञेय है रस अणु, रूप अणु, उनका यह अणु बन जाता है, क्योंकि वे स्कंधको मानते ही नहीं हैं, परमाणुको मानते ही नहीं हैं। वे तो खाली रूप पदार्थ, रस पदार्थ, गंध पदार्थ इस तरह माना करते हैं, क्योंकि इनकी आदत और विशेषवादियोंकी आदत करीब करीब समान है। अखण्ड वस्तुके खण्ड बनाकर उन्हें ही स्वतंत्र पदार्थ कह देना यह अजैन दर्शनमें होता है, इसे कहते हैं वैशेषिक दर्शन और बौद्ध दर्शन। तो ऐसे ही समझिये जैसे रूप रस कोई अलग पदार्थ नहीं, किन्तु आंखसे स्कंधको जानते हैं तो रूपमुखेन ज्ञानमें आता, रसनासे जानते हैं तो रूपमुखेन ज्ञानमें आता, ऐसा आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। अब जब समझने चलते हैं तो व्यवहार-नयसे यह समझा जाता है कि आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदिक, सो समझ लो, पर ज्ञान स्वतंत्र सत् है, दर्शन स्वतंत्र सत् है, इस तरह एक आत्मामें अनेक पदार्थ मत लगाना, क्योंकि यदि गुण स्वतंत्र सत् हो जाय तो उनमें गुण जरूर होना चाहिए। बताते ना कि गुणपर्ययवद् द्रव्यं। जो द्रव्य है, जो सत् है वह गुण पर्याय वाला है। अगर ज्ञान सत् है तो उसमें गुण बतलावो, भिन्न प्रदेश बतलावो, पर्याय सत् है तो उसमें भी गुण बतलावो, प्रदेश बतलावो, पर्याय बतलाओ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाओ। सत् तो बताया है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् याने जो सत् है वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वाला है। तो समझो जैनदर्शनकी जान क्या है? खूब खुलकर कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें ज्ञेया-धिकारमें खूब वर्णन किया है। सत् ही वस्तु है, द्रव्य वह एक पदार्थ है। अब उस द्रव्यको समझनेके लिए उसमें दृष्टियां मिली। अन्वय शक्तिकी मुख्यतासे जब द्रव्यको जाना तो गुण समझमें आया। गुण स्वतंत्र सत् नहीं है। स्वतंत्र सत् तो जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ६ प्रकारके जो द्रव्य हैं वे ही स्वतंत्र सत् हैं। इसके अतिरिक्त लोकमें कोई

स्वतंत्र सत् नहीं है। पर विशेषवादमें बताया गया है ऐसा कि द्रव्य अलग पदार्थ है, गुण अलग पदार्थ है, पर्याय अलग पदार्थ है, क्योंकि विशेषवादकी नियत यह ही है कि विशेष विशेष जो समझमें आयें उन्हें स्वतंत्र पदार्थ मानें।

(११) **परमार्थ एकत्वका प्रतिपादक व्यवहार**—अब देखो एकताकी ओर–गुणपर्याय कोई भिन्न चीज नहीं है किन्तु एक अखण्ड द्रव्यकी ही ये विशेषतायें हैं। तो उस अखण्ड द्रव्यमें अब ध्यान दें, वह तो अवक्तव्य है, वह तो अखण्ड है, फिर उसे समझें कैसे ? तो समझानेके लिए अभूतार्थनयका प्रयोग होता है। देखो भूतार्थ और अभूतार्थ या निश्चय और व्यवहार ये दोनों ही प्रमाणके अंश हैं, सम्यग्ज्ञानके अंश हैं। केवल उपचार ही सम्यग्ज्ञानका अंश नहीं। तो व्यवहार दो प्रकारके होते—एक प्रमाणका अंशरूप व्यवहार और एक उपचाररूप व्यवहार। उपचार रूप व्यवहार तो मिथ्या है। जिस भाषामें कहा उस रूपसे न समझना और प्रमाणका अंशरूप व्यवहार श्रुतज्ञानका प्रयोगरूप व्यवहार यह सत्य है और इस व्यवहारसे ही सब ग्रन्थोंकी रचना हुई है। तो ध्यानमें देनेकी बात है कि जिसके घरका पूत हो उसे तो पितापर दया होती है, किन्तु गैरको तो कठिन है। आचार्य संत जो दिगम्बर सम्प्रदायके हुए हैं उनको जैनशासनमें इतनी रुचि थी और एक मोक्षमार्गमें लगें ऐसे भव्य जनोंके प्रति परम करुणा थी। वहाँ व्यवहारनयके द्वारा जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, कर्मबंध, उदय, सत्त्व आदिक सब कुछ स्पष्ट वर्णन किया है। तो अब ध्यानमें लाइयेगा कि यदि कहीं ऐसा लिखा हो कि व्यवहारका अर्थ ऐसा लेना कि व्यवहार जैसा कहता है वैसा नहीं है तो वहाँ समझना कि यह उपचाररूप व्यवहारके लिए कहा गया है, किन्तु जो सम्यग्ज्ञानका अंशरूप व्यवहार है वह तो जैसा कहता है वैसा ही है। उसमें मिथ्या की बात नहीं है। जैसे व्यवहारनय बताता है कि जीवके दो भेद हैं—(१) मुक्त जीव और (२) संसारी जीव। तो क्या इसका अर्थ यह लगायें कि ऐसा न समझना ? अरे है ही। व्यवहारनय कहता है कि पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है तो क्या इसका अर्थ यह लेना कि यह असत्य है ? ऐसा न मानना। अरे पर्यायार्थिकनयसे है।

(१२) **व्यवहारकी द्विविधताके परिचयका प्रकाश**—देखो यह बहुत ध्यानमें लाने की बात है। आपको कई समस्यावोंका समाधान इन दो बातोंके ठीक ठीक समझ लेनेसे हो जायगा। एक तो व्यवहार नाम दो जगह आता है एक तो श्रुतज्ञान प्रमाणके याने सम्यग्ज्ञान के अंशरूपमें और एक उपचाररूप या रूढ़ि वाला। जैसे कोई कहता है कि अजी टट्टीका लोटा लाना, तो क्या कहीं होता है टट्टीका लोटा ? पीतलका होता, ताँबेका होता, टीनका होता। तो यह एक लोकरूढ़ि है, यह कहलाता है उपचार। उपचार जिस भाषामें बोले उस भाषामें

उसे ठीक न समझना। यों तो भंगी लोग भी कहते हैं—अच्छा बतलावो—तुम्हारे कितनी हवेलियाँ हैं ? तो वह कहता कि हमारे १० हवेलियां हैं, किसी भंगीके २० हवेलियां हैं और आप लोगोंसे पूछें कि बताओ आपके पास कितनी हवेली हैं ? तो कोई कहेगा एक, कोई कहेगा दो। और भी देखो वे भंगी लोग आप लोगोंकी हवेलियां आपसमें एक दूसरे को कर्ज पर भी दे देते हैं। तो बात क्या है कि वह व्यवहार लोकरूढ़िका है। इस बातका बहुत ध्यान देना और आचार्योंके प्रति श्रद्धा पूर्ण सही रखना। जो सम्यग्ज्ञानपर चलेगा सो पार होगा। देखो उपचार मिथ्या है, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय आदिक जो नय बताये हैं वे झूठ हैं क्या ? कितना अज्ञान है जो सब व्यवहारोंको एक लाठीसे हांकता है, जरा सी जीभ दहला दिया, ना समझीसे कुछ बता दिया और समझ लिया कि श्रोतावों पर दया कर दी। श्रोताओंको समझाना चाहिये, जिसका प्रयोग दो जगह होता है, उपचारमें भी और श्रुतज्ञानके अंशमें भी, वहाँ बताना चाहिये कि जो उपचाररूप व्यवहार यह मिथ्या होता है, उपचार वाला व्यवहार एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कर्तृत्व आदि कहता, श्रुतज्ञानका अंश वाला व्यवहार मिथ्या नहीं होता। जैसे लोग दूध शब्दका प्रयोग करते हैं तो बड़, पीपल आदिकके भी दूध होते, आकका दूध होता और गाय, भैंस वगैरहका भी दूध होता। अब कोई कहे आकके दूध लक्ष्य करके कि दूध पीना अनिष्ट है, उसके पीनेसे पीने वाला मर जाता है तो उसकी यह बात सुनकर कोई यह कहे कि अरे हम तो गाय, भैंसका दूध न पीवेंगे, बताया है कि दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता है, तो क्या उसकी यह बुद्धिमानी कही जायगी ? अरे वह तो उपचार कथन है। उपचार मिथ्या होता है, इससे सब व्यवहार मिथ्या है यह बात नहीं समझना। व्यवहार शब्दकी द्विविधता न बताकर व्यवहारको मिथ्या कहना यह बड़े कपटकी बात है और समस्त द्वादशांगकी अभक्तिकी बात है। कहां क्या बात है सो समझो, एक बात तो यह जानें।

(१३) **निमित्तकी द्विविधताके परिचयका प्रकाश**—दूसरी बात यह समझें जीवविकार के प्रसंगमें कि निमित्त शब्दका प्रयोग भी दो जगह होता है—एक तो होता है आश्रयभूत निमित्तमें और दूसरा प्रयोग होता है अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमें। अन्वयव्यतिरेकी निमित्तको अन्तरंग निमित्त कहते हैं और आश्रयभूत निमित्तको बहिरंग निमित्त कहते हैं। तो देखो जीव के विकारके प्रसंगमें ही दो प्रकारके निमित्त होते हैं और कामके लिए निमित्तके दो प्रकार नहीं होते, वहाँ तो केवल एक ही निमित्त है—सीधा अन्वयव्यतिरेकी। जैसे अजीव अजीव पदार्थका निमित्त नैमित्तिक योगमें परिणमन हो तो वहाँ आश्रयभूत निमित्त नहीं होते। आश्रयभूतका अर्थ है कि उपयोग जिस पदार्थका आश्रय करे वह पदार्थ आश्रयभूत है, उसका

अजीव क्या आश्रय करे ? तो बहिरंग निमित्तका आश्रय करके यह जीव विकार व्यक्त करता है सो उपदेश है कि भाई यह तो तुम्हारे हाथकी बात है । तुम उपचरित निमित्तका आश्रय मत करो। उसपर उपयोग मत दो। ज्ञानबल तो तुममें आया ही है, अपने ज्ञानबलका पौरुष बनायें, उपचरित निमित्तको छोड़ दें। हम आश्रय करेंगे तो यह निमित्त कहलायगा और आश्रय न करेंगे तो यह निमित्त न कहलायगा। तो आश्रय निमित्तका करें तो विकार हो जाता है। यह कथन जहाँ आवे वहाँ निमित्तका अर्थ समझना आश्रयभूत निमित्त, बहिरंग निमित्त, नोकर्मरूप निमित्त, किन्तु जो वास्तविक निमित्त है, अन्वय व्यतिरेकी निमित्त है कर्मविपाक, वह तो अज्ञात है, उसका कौन आश्रय करता है ? वह है, वहाँ तो जैसे अजीव अजीवमें निमित्तभूतका नाप है, ऐसे ही वास्तविक निमित्तका हैं। और अशुद्ध उपादानकी अव्यक्त विकार दशा है, वहाँ आश्रयभूत नहीं होता। वहाँ मात्र अन्वयव्यतिरेकी निमित्त होता है ? देखो जो हमारे वशकी बात है वह करके दिखा दें। हमारे वशकी बात क्या है ? व्यक्त बकार न करना। आश्रयभूत बाह्य पदार्थका आश्रय मत लें, सहारा मत लें, वहाँ उपयोग न दें, व्यक्त विकार न करें। व्यक्त विकार न होगा तो स्वयं ही ऐसा उपयोग बनेगा आत्मामें कि अव्यक्त विकारकी भी जड़ खत्म हो जायगी। तो जो कर सकते हैं, जो बुद्धिपूर्वक बात है वह उपदेशमें अध्यात्मशास्त्रमें कही जावेगी। जैसे कथानकमें कई कथन ऐसे होते हैं कि जो सम्भव कथा है और एक ऐसी कि जो असम्भव कथा है। जैसे श्री राम दशरथके पुत्र थे, यह सम्भव कथा है, मोक्ष गए यह भी सम्भव कथा है और कहना कि अमुक देवता अमुकके मैलसे निकला, अमुक देवता मछलीसे निकला, यह असम्भव कथा है। तो इसमें आप यह विवेक करें कि क्या तो सम्भव कथा है और क्या असम्भव कथा है। इन आश्रयभूत पदार्थोंका आश्रय लेना यह सम्भव है, न कि ज्ञान द्वारा कर्मविपाकका आश्रय लेना यह संभव है। तो निमित्त भी दो प्रकारके हैं। जहाँ यह कहा जाय कि निमित्तका आश्रय लो तो निमित्तपर आरोप होता है और वहाँ समझना आश्रयभूत निमित्तकी बात, कर्मविपाक, कर्मदशा तो उपयोगमें नहीं है। उससे तो ज्ञानस्वभाव तिरस्कृत हो जाता है। और तब उपयोग अधीर होकर बाह्य विषयोंमें लगता है। कर्मविपाक तो ऐसा निमित्त है जैसे आगपर आपका पैर पड़ गया बिना जाने तो वहाँ यह गुंजाइस तो नहीं है कि अरी आग तूने मुझे जला कैसे दिया ? मैंने तो तेरा उपयोग ही नहीं किया, सहारा ही नहीं लिया। वह तो जल जायगा। वहाँ ऐसी ही योग्यता है कि ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर ऐसी बात बने। और व्यक्त विकारके लिए दूसरा आश्रयभूत निमित्त जरूर चाहिए जिस आश्रयभूत पदार्थका यह उपयोग कर सके याने उपचरित निमित्त चाहिए। उपचरित निमित्त न हो, उपचरित निमित्तका आश्रय न ले कोई तो व्यक्त

विकार न हो, यह तो आपके हाथकी बात है। सत्संग बनायें, उसमें एक संयमकी पात्रता जगायें। देखो व्यक्त विकारके आश्रयभूत पदार्थका आश्रय न लें, इसीके मायने तो संयम है।

(१४) **स्याद्वादका आश्रय कर समस्याओंका समाधान पानेका संदेश**—देखो स्याद्वाद का तो उपयोग करती है सारी दुनिया, पर स्याद्वादको नहीं मानती। जैसे उदाहरण लो, स्याद्वादका सहारा लिए बिना बोलो रोजिगार चल सकता क्या? लेन देन चल सकता क्या? कैसे सो सुनो—जैसे आपने आज किसीको ५००) का कर्जा दिया, रुक्का लिख गया, रुपये सैंकड़ेपर ब्याज मिलेगा, और २ साल बाद उससे आपको रुपये मिलते हैं तो आप यह बतायें कि आप जानते हो या नहीं कि वह वही आदमी है जिसने कर्ज लिया था या कोई दूसरा? तो आप तो कहेंगे कि वही आदमी है। तो इसके मायने है कि यह नित्य बन गया, अब दो वर्ष गुजर गए तो यह नई चीज है ना, तभी तो आप उससे ब्याज माँगते हैं। तो आपको अनित्यकी भी श्रद्धा है। यों नित्यकी भी व अनित्यकी भी श्रद्धा है तब व्यापार कर सके। खाना-पीना, उठना, बैठना, बोलना, सुनना, किसीकी बात समझना ये सब कुछ नित्य और अनित्य देखे समझे बिना कोई कर नहीं सकता। तो जो बात जिस विधानसे होती है, होनी उसी ढंगसे पड़ेगी। अब न माने कोई तो यह उसके हठकी बात है। स्याद्वादको नहीं मानते, पर स्याद्वादके बिना किसीका काम चला तो नहीं। तो ऐसा ही सब जगह विवेक करके परख बनावें और खुद भी तो प्रभु हैं। खुद क्यों इतने कायर होते कि जिसने लाठी पकड़ा दी तो पकड़कर खुश हो गये। अरे तुम खुद ज्ञानी हो, सब काम छोड़कर एक सत्यका आग्रह करके बैठ जावो। मुझे कुछ नहीं सोचना है। मुझे किसी दूसरेको कुछ नहीं सोचता है, ऐसे सत्य का आग्रह आप अगर करें तो आपके भीतरका ज्ञान, अन्तः प्रभु आपको सब समाधान कर देगा। एक ऐसी घटना है कि जब आदिनाथ भगवान विरक्त हो गए, सबको राज्य बाँट दिया। अब रह गए नमि विनमि, तो उन्होंने कहा महाराज आपने सबको तो सब कुछ दिया, पर हमें कुछ नहीं दिया, तो अब वह बोलें क्या, वह तो ध्यानस्थ थे, तो वहाँ एक देव आया जो बोला कि चलो हम देंगे तुमको जो कुछ तुम्हें चाहिए हो, बोलो क्या चाहिए? तो उसने कहा कि हमें तो तुमसे कुछ न चाहिए, हमें तो यही दें तो लेना है नहीं तो नहीं लेना है। जरा इस तरहसे अपने प्रभुका आग्रह तो करो। तो यह अन्तः प्रभु खुद ज्ञान करायगा, खुद समाधान देगा कि अगर तुम सब कुछ ख्याल भुलाकर एकचित्त होकर बैठ जावो कि हमें तो अपने ज्ञानमें किसीको भी ध्यानमें नहीं लाना है तो यह अन्तः प्रभु आपको समाधान दे देगा। तो एक तो व्यवहार वाली बात, एक निमित्त वाली बात, ये दो बातें समझना हैं और गहरी

चर्चामें जब बहुत अध्ययन हो तो वह भी समझमें आयगा। हम तो दिल मसोसकर रह जाते कि क्या कैसे कहा जाय? पर ज्ञानका भंडार ऐसा विशाल होता है कि आप इसे जितना समझते जावें उतना ही कम जंचेगा और जंचेगा कि अभी तो बहुत समझना बाकी पड़ा है। यदि अपने आपकी ओर दृष्टि दो तो कैसे ज्ञान न बनेगा? जो बेकार चीज है, हमारे वशकी चीज नहीं है वहां तो बड़ा मन लगाते और जो अपने वशकी चीज है उसकी ओर मन नहीं लगाते, उसमें अपने को बड़ा असमर्थ समझ रहे हैं।

(१५) **धर्म और धर्मपालन**—धर्म कहते हैं वस्तुस्वभावको। जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह उस वस्तुका धर्म है। तो आत्माका जो स्वभाव है सो आत्माका धर्म है। किसी का स्वभाव किसी दूसरेमें जा नहीं सकता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावमें ही तन्मय है। तब ऐसा निर्णय हुआ ना कि किसी पर पदार्थके आश्रयसे धर्म नहीं होता, किन्तु अपने ही धर्मके आश्रयसे धर्म होता है। धर्म है व धर्म होना ये दो बातें समझिये। धर्म है मायने आत्माका स्वभाव है। धर्म होता है अर्थात् आत्माके स्वभावका विकास होता है। तो अपने आपमें जो अपना स्वभाव है उसका आश्रय करें। ये आश्रय कैसे करें? हाथ पैरसे नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वभाव दृष्टिमें आये, उसकी दृढ़ता रहे, बस यही है धर्मपालन। देखो परमार्थतः धर्मपालन तो यह है। अब कोई उद्दण्ड हो जाय कि क्या रखा उसमें, बाहरमें जैसी चाहे प्रवृत्ति करें। तो जो जीव वासना, अज्ञान, संस्कारमें बसा हुआ है वह अपने इस स्वभावमें मग्न हो जाय तो बताओ क्यों नहीं कहने वाले मग्न हो गए? सब कहते क्यों रहते हैं? जब अशक्त हैं तो फिर कुछ तीर्थ प्रवृत्ति जैसी परम्परामें आचार्योंने बतायी है उस ढंगसे रहना होता है तब हम उस धर्मकी दृष्टिके पात्र हो पाते हैं। अब यह बतलावो कि आप भिण्डसे ६ मील दूर पहुंच गए और आपसे कहें कि आप भिण्ड जावो। रास्ता नापना नहीं बीचका और भिण्ड आ जावो। तो जितना आप फिरेंगे, मानो ६ मील फिरे तो उस फिरनेमें बीचमें ये सब अनेक बातें आयेंगी। भला बतलाओ जो परिग्रहमें आशक्त हो गया है जीव और वह धर्ममें आयगा तो परिग्रहमें आशक्त बना रहे और धर्ममें आ जाय यह हो सकता है क्या? परिग्रह का त्याग करना होगा, यह बात तो आपतित है। जिसे कहते हैं क्या करें? जबरदस्ती आ पड़ी है। जो मोक्षमार्गमें चलता है, मोक्ष जाता है उसको जबरदस्ती संयम पड़ जाता है। वह रास्ता ही है उस ओरसे निकलनेका। पर ज्ञानी पुरुष उस लक्ष्यको नहीं भूलता। धर्मको न भूलें। जो क्रिया प्रवर्तन किया जा रहा उसमें मग्न न हो। करते ही तो हैं सब ऐसा मान लो बम्बई जाना है तो रास्तेमें बड़े-बड़े स्टेशन मिलते हैं खूब सजे सजाये भी, पर किसी स्टेशन पर उतर तो नहीं जाता कोई भोंदू। वह लक्ष्य तो रखता है कि बम्बई जाना है, और बम्बई

जाता है तो बीचमें वह सारे स्टेशनोंसे गुजरता है ना ? बिना उन सभी स्टेशनोंके गुजरे वह बम्बई पहुंच जाय यह भी नहीं होता और किसी स्टेशनमें रमता नहीं, दोनों बातें करता जाता है, उसमें फिर कहनेकी बात क्या रह गई ? जिसको यों कह लीजिए कि व्यवहार छोड़े बिना मुक्ति नहीं और व्यवहार किये बिना मुक्ति नहीं। दोनोंका संगम है। जैसे निर्ग्रन्थ लिंग बिना मुक्ति नहीं। दोनोंका संगम है। जैसे निर्ग्रन्थ लिंग बिना मुक्ति नहीं, और निर्ग्रन्थ लिंगसे मुक्ति नहीं। जो शरीरका रूप बनता है, नग्न हो गए हैं, जैसा यथाजातरूप बना है क्या इससे मुक्ति हो जाती है ? मुक्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र परिणामसे होती है, पर जिसको मुक्ति होती है वह निर्ग्रन्थलिंग पाये बिना मुक्त हो सकता है क्या ? नहीं होता। तो ये दोनों ही तथ्य हैं—निर्ग्रन्थ लिंगसे मोक्ष नहीं, निर्ग्रन्थ लिंग बिना मोक्ष नहीं। अब दोनोंका तत्त्वभाव समझ लेना चाहिए।

(१६) लक्ष्यको भूलकर कलह कौतूहलमें पड़ जानेसे अपूर्व अवसरका दुरुपयोग—भैया ! कोई करनेका काम तो भूल जायें और लड़नेका काम बीचमें आ जाय तो वह क्या स्थिति कहलायगी ? मनुष्यभव तो पाया कुछ कर जानेके लिए, पर नौबत आ गई लड़ जानेके लिए, तो बतलाओ क्या फायदा पाया ? उद्यम करें, पर परिग्रहमें आशक्त मत होवें। पापमें लीन मत हों। लक्ष्य बनायें निश्चयका, स्वभावका, यह ही मैं हूं, दूसरा मैं नहीं हूं, निःशंकित अंग में क्या है ? एक विशुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र मैं हूँ, दूसरा मैं कुछ नहीं, क्यों नहीं ? दूसरा जो कुछ है वह सब उपाधिका निमित्त पाकर है, इस कारण यह मैं कुछ नहीं। मैं तो वह हूं जो अपने आप निरपेक्ष सहज होऊँ। बस उसको पकड़ लीजिए सत्याग्रह कर। मैं यह हूं। देखो पर्यायबुद्धि किसे कहते हैं ? जो चैतन्यस्वरूप है उसको तो भूल जायें और पर्यायमें आपा मान लेवें उसीको कहते हैं पर्यायदृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टि जीव। अब पर्यायको कोई इतना ही समझे कि हम तो बस शरीर पर्यायसे भिन्न हैं, हम न मानेंगे कि शरीर मैं हूं, तो इतनेसे काम न चलेगा। भीतरमें जो कषाय जग रही, वह मैं हूं जिसके यह बात भीतर गुजर रही है सो भले ही मना करे कि शरीरको मैं आत्मा नहीं मानता, पर शरीरको आत्मा मान रहा तब वह कषायको अपना मान रहा। क्यों जी, जो लोग आत्महत्या कर डालते हैं, कोई बात से मानो फेल हो गये, कुछ हो गया, बतावो वे देहसे विरक्त हैं क्या ? इस देहसे यदि अलग हो रहे, देहको कष्ट कर रहे तो बतावो वे इस देहसे विरक्त हैं क्या ? अरे देहसे विरक्त नहीं है, देहमें इतनी तेज आत्मबुद्धि है कि वे समझ बैठे कि बस जो मेरा यह देह है यही मैं हूं, और इस मुझको प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये, मेरा सब जगह नाम होना चाहिये, इस तरहकी पर्यायबुद्धि होनेसे वे इष्टलाभके अभावके शोकमें आत्महत्याकी बात विचारते हैं। अब जरा

कुछ ध्यानमें लावो। कषाय ऐसी बुरी चीज है कि यह कुछ नहीं देखता। अपने आपका मरण कर जाय, बड़ेसे बड़े साधु ज्ञानी जनोंका अपमान कर जाय। ऐसा समझकर किसीका तिरस्कार न करें कि ये कुछ नहीं जानते, मैं बड़ा जानकार हूं, मैं इन सबमें बड़ा चतुर हूं। इस कषायमें यह जीव न जाने क्यासे क्या कर डालता? जो न किये जाने योग्य कार्य हैं उन्हें भी कर डालता है। अब बतलावो कोई जैनधर्मके मानने वालोंको चमड़ेके जूता, चप्पलोंका व्यापार करनेके लिए कहा गया है क्या? मिलेटरीके लिए मांसादिक गंदी चीजोंका ठेका लेना बताया गया है क्या? कोल्डवाटरमें मछलियाँ रखना बताया गया है क्या? किसीके झूठे लेख लिखना या किसीकी चीज चारसौ बीसी करके अपने नाम करा लेना आदि उस प्रकारके खोटे कार्य करना कोई जैनोंको बताया गया है क्या? पर कषायोंके वश होकर यह जीव न जाने क्यासे क्या अयोग्य कार्य भी कर डालता है।

(१७) **कषायसंस्कारके विनाशके लिये महान् ज्ञानबलकी आवश्यकता**—जो कषायवान है उसकी कषाय कहीं घरमें ही नहीं बल्कि समाजके बीच बैठकर, धार्मिक प्रसंगोंमें बैठकर सभी जगह उसकी कषाय उमड़ पड़ती है। जिसकी जो प्रकृति है वह सहसा कहांसे छूटे? जो तोतला बोलने वाले लोग होते हैं उन्हें कितना ही समझानेपर कहाँसे सुधरेंगे? जैसे कोई एक पंडित जी थे वह तोतले थे, वह स को ट बोलते थे। जब वह विद्यार्थियोंको पढ़ाने बैठें तो बड़ी हिम्मत करके कहें कि देखो बच्चो, हम कुछ भी कहें तुम बोलना—टिद्धिरस्तु। वह बोलना तो चाहता था सिद्धिरस्तु, बड़ा बल लगाया, मगर उसके बोलनेमें आ ही जाता था—टिद्धिरस्तु। तो भाई इस कषायके करनेमें आप अपना अपराध समझो। कोई दूसरा पुरुष किसीका विरोधी नहीं। सब जीवोंमें वही स्वरूप है जो हममें हैं। कोई विरोधी नहीं और जगतमें जिसे आज विरोधी समझते वही पहले कई बार परिवार भी हुआ, मित्र भी हुआ और जिसे आज मित्र समझते हैं वह कोई अन्याय भी करं तो भी वह प्यारा है, यह ही तो संसारकी गोष्ठी है। आज जो गोष्ठीमें है वह आपका कई बार दुश्मन भी हुआ होगा तो वस्तुतः न कोई जीव मित्र है, न शत्रु है। ये सब अकेले हैं, सफर करने वाले कितने ही लोग होते हैं, पर सबको अपनी अपनी पड़ी रहती है। रेलगाड़ी आयगी तो आप जल्दी बैठ जायेंगे और जो ५-७०० मुसाफिर हैं उनपर तो कोई दया नहीं करता कि इन्हें बैठ लेने दो, बादमें हम बैठ जायेंगे। ऐसा कोई करता है क्या? तो जैसे सफरमें लोग अकेले अकेलेकी धुन बनाये हुए हैं ऐसे ही ये संसारी मुसाफिर हैं। इनमें भी अकेले अकेलेका काम है। कोई किसीको साथ लेकर नहीं जाता। यहाँ भले ही बहुत गलेसे गले मिलकर कहें कि तुम हमारे बहुत मित्र हो, तुम हमसे कभी छूट नहीं सकते, क्योंकि हम अन्याय करते, तुम भी अन्याय

करते, उनकी गोष्ठी हो जाती, हम छूट नहीं सकते, ऐसा ही तो होता है भाई। अभी एक पुरुषका कोई दुश्मन है और उसीका दूसरा दुश्मन हो तो वे दोनों दुश्मन आपसमें मित्र बन जाते हैं कि नहीं ? एकके भाव हैं मुनिनिन्दाके और दूसरेके भाव हैं मुनिनिंदाके तो उन दोनों की कषायसे कषाय मिल जानेसे वे आपसमें मित्र हो जाते हैं। कोई सी भी जगह देख लो—घरमें देखो, रोजिगारमें देखो, कहीं देखो। तो बात यह चल रही है कि इस जगतमें सब कुछ अकेले अकेलेपनकी बात है।

(१८) दुर्भावकी शल्यरूपता—देखो भाई हम तो साधारणतया कहें जैसे हम कहते हैं कि अरे तुम मोह करते हो, खराब हो, तो जो जो मोह करते होंगे वे सब सोचते होंगे कि महाराज तो हम ही पर ढालकर कह रहे। अभी कोई बात पापकी बतायें कि ऐसा पाप करना ठीक नहीं, तो जो पाप करता होगा वह यह सोचता होगा कि महाराज हमको ही कह रहे। यह तो सामान्य बात चल रही है। और, चोर ऐसे ही तो पकड़े जाते हैं। एक बार सागर विद्यालयमें किसीकी चीज चोरी चली गई। तो अब यह हुआ कि चोर कैसे पकड़ा जाय। तो क्या उपाय किया कि प्रधानाध्यापकने एक छोटे कमरेमें एक देवीके नामका डंडा रखा दिया और उसमें कुछ तेल कोयला वगैरह लगवा दिया और कह दिया कि देखो बच्चो वहां एक देवीका डंडा रखा है, सभी लड़के बारी बारीसे उस डंडेको छूकर आयेंगे। जिसने उस चीजको चुराया होगा वह तो उसमें चिपक जायगा और जिसने नहीं चुराया होगा वह न चिपकेगा। तो सभी लड़के बारी बारीसे छूकर आते गए और उधर प्रधानाध्यापक दरवाजेपर बैठकर सबका हाथ देखते गए कि इसने डंडा छुवा कि नहीं। आखिर जिस बालकने वह चीज चुरायी थी उसने डंडा न छुवा, यह सोचकर कि मैं डंडेमें चिपक जाऊँगा, वहाँ प्रधानाध्यापकने देखा कि उसके हाथमें कोयला लगा ही न था तो समझ लिया कि इसीने चुराया है और उसे झट पकड़ लिया। तो जैसे कहते हैं ना कि चोरकी दाढ़ीमें तिनका। हम तो सबसे साधारण बात बोलते हैं, अब पाप करने वाले प्रायः लोग बहुत हैं तो अब कोई समझे कि हम पर ही होती बात, तो समझो उनकी उनकी बात है। टीकमगढ़का ही एक कथानक है, गुरुजी सुनाते थे कि एक भाई जी थे, वे जानते तो कुछ नहीं थे मगर पंडित बन गए। प्रवचन कर रहे थे। प्रवचनके बाद एक भाईने भजन गाया। मैंने बहुतेरे पंडित देखे पर पेट कतरनी, बाहर से कुछ और। इस तरहकी बातें उसमें थीं, तो उस भजनको सुनते सुनते पंडित जी यह सोच रहे थे कि यह तो हमारे ऊपर ही कह रहा है सो बादमें वे उस भाईपर बिगड़ गए, लड़ने लगे, दो थप्पड़ जड़ दिये, कहने लगे कि अरे तुमने तो हम पर ही ढालकर भजन कह दिया है। तो फिर वहाँ उन पंडित जी की जो दशा की जानी चाहिए थी सो लोगोंने किया। तो ऐसे ही

समझ लो, हम तो कह रहे सबकी बात मगर कोई अपने ऊपर ही घटा ले और कहे कि महाराज तो हमको कह रहे तो यह उसकी अलग बात है। और ठीक भी है, वैसी बात हुए बिना किसीके मनमें इस तरहकी बात आयगी ही नहीं।

(१६) अशुभ मनोवृत्तिमें धर्मकी अपात्रता—आप समझो धर्म और अधर्मकी बात कि ये ही जो विकार हैं सो तो अधर्म हैं और जो आत्मस्वभावका दर्शन है सो धर्मपालन है। यह धर्म कहीं दूसरी जगह न मिलेगा। दूसरेके आश्रयसे न मिलेगा। यह धर्म तो स्वरूप है, स्वभाव है, सो मुझसे मेरे ही आश्रयसे मिलेगा। और, देखो परमार्थ बात यह ही है कि भगवानकी भक्ति करे तो भगवानके आश्रयसे धर्म तो नहीं मिलता, किन्तु प्रभुगुणस्मरणमें अंतस्तत्त्वका दर्शन होता है वह धर्म है। अगर भगवानसे अलग बने रहे, भक्ति न करें, घरमें बने रहें और भगवानको गाली दें, जैसे कि अभी जबलपुरमें एक ऐसा नये स्टाइलका गुजराती सोनगढ़की शिक्षा पाया हुआ विद्वान आया, उसने अपने प्रवचनमें यह भी बोल दिया कि अरहंत होना पापका फल है। भला बताओ अरहंत भगवानका उपासक भक्त ऐसा कैसे सुन सकता? जो भगवानका भक्त हो, श्रद्धालु हो, जिसे जैन धर्मसे प्रेम हो वह कैसे यह बात सुन सकता कि अरहंत होना पापका फल है? तो उनकी यह बात सुनकर लोगोंको जो कुछ करना था सो किया। तो भगवानको छोड़कर रहें और भगवानकी भक्तिमें उमंग न जगे तो ऐसे प्रभुके विरोधीको कहाँ स्वका आश्रय हो सकता है? यद्यपि भगवानके आश्रयसे धर्मपर्याय नहीं बनी, बनी है आत्माके स्वभावके आश्रयसे मगर ये सब साधन बताये गए हैं। भगवानकी भक्ति करते हैं, भगवानके गुणोंका गान करते हैं और देखो जो जितना अधिक पापी है भगवानकी भक्तिसे वह उतना अधिक लाभ उठा लेता है, पाप खिर जाते हैं, अपने पापका ध्यान रहता है और भगवानकी उस एक पवित्र दशाका भान रहता है और दोनोंमें अंतर ताड़ता है तो एक पश्चातापके जो अश्रु बहते हैं तो उसके मानो बिन्दु बिन्दुमें पाप खिर रहे। साधन तो साधन है, लक्ष्य अपना दूसरा मत रखें, साधन लक्ष्य नहीं, अगर लक्ष्यमें लड़ाई करें जैसे अन्तः स्वरूप, अंतस्तत्त्व, कारण समयसार, आत्मस्वभाव, ज्ञायक स्वभाव, वह लक्ष्यमें रहता। इसका अगर विरोध हो तो वहाँ विवाद करें, मगर जो मामूली बात है, साधनकी बात है, उसमें इतना विसंवाद करना कि लक्ष्य ही कोई भूल जाय तो इसमें हित क्या पाया? और विडंबना तो देखो कि करते तो कुछ नहीं बनता और प्रायः विवाद ऐसा हो जाता कि सूत न कपास जुलाहासे लट्ठमलट्ठ। एक जा रहा था अहीर और एक जा रहा था कोरी। रास्तेमें कोई एक बहुत बड़ा खेत था तो उसे देखकर अहीर बोला कि यदि यह खेत मुझे मिल जाय तो मैं इसमें अपनी भैंसें चराऊँगा। तो जुलाहा बोला—यदि यह खेत मुझे मिल जाय तो मैं इसमें

कपास बोऊँगा, फिर कपड़े बनाऊँगा। तो अहीर बोला—तुम कैसे उसमें कपास बो सकते, उसमें तो मैं कपास बोऊँगा। (कुछ ककड़ उठाकर खेतमें फेंकते हुए)""वह देखो मैंने कपास बो दिया। अहीर (कुछ ढेले फेंकते हुए) वे देखो मेरी गाय, भैंसें चरने लगीं। लो आपसमें लट्ठमलट्ठ होने लगा। अरे वहाँ न सूत, न कपास, न कहीं अहीरकी गाय भैंसें, पर लट्ठमलट्ठ होने लगा। कैसा विचित्र नाटक है यह। तो यह मनुष्य बेकारकी बातोंमें अपना जीवन गंवा देता है। शान्तिसे, समतासे, एक लक्ष्य बनाकर अपनी सिद्धि करनेकी बात नहीं सोचता। और सोचे कैसे? जब अपनेको साधारण मानें तब ही तो स्वभावदृष्टि बने और अपनेको दुनिया से ऊंचा माने, दूसरेको तुच्छ माने। गोकुलसे मथुरा न्यारी, ऐसा तो काम करें और सोचें कि स्वभावका दर्शन हो जाय, तो जहाँ शल्य लगा रखा है वहाँ अनुभव कहाँसे बनेगा? जीवन बेकार हो जाता। बड़ी दुर्लभतासे तो यह मनुष्यजीवन पाया""। इससे खूब सोचें समझें कि धर्म कहाँ है?

(२०) **धर्मपालनकी पात्रता**—धर्म है आत्मस्वरूप। अपनेमें अपने स्वभावकी दृष्टि, प्रतीति, आलम्बन, आश्रय। इसके लिए बहुत अधिक ऊपरी ज्ञानकी भी जरूरत नहीं। अगर कोई सरल हो और विधि बने तो उसके सम्यग्दर्शन जरूर होगा। कोई कषायवान हो तो उससे न बनेगा यह स्वभावदर्शन। सरल अगर हो तो थोड़े ज्ञानसे भी पार हो जायगा। कुटिल अगर है, कपटी अगर है तो कितनी भी ज्ञानसाधना करे, वह पार नहीं हो सकता। तो यों दया, नम्रता, सरलता ये तीन गुण हों तो मनुष्य अपनी प्रगति कर सकता है। पर कषाय जग गई हो कुछ तो ये तीनों भी नहीं ठहरते। न दया रहती, न नम्रता रहती, न सरलता रहती। देखो जिसमें अपना भला है उसके लिए अगर अपनी कषाय छोड़नी पड़े तो उसमें क्या तकलीफ मानना? छोड़ दें कषायें। हम सब एक समान हैं। सब चैतन्य-स्वरूप हैं। अब यह समझना कि मैं तो सम्यग्ज्ञानी हूं और ये सब जीव जो हैं ये हैं संसार में रुलने वाले, हम तो अब प्रभु हो गए। तो जहां ऐसी कषाय जग रही हो, अज्ञान छाया हो वहां स्वानुभव धरा कहां? अपने को एकरस मानो। सब जीवोंमें समता परिणाम रखो। देखो सबमें चित्स्वरूपको अनादि, अनंत, अहेतुक, विज्ञानघन सहजानन्दमय। अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्। आत्मा स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते। अमृतचन्द्र सूरिका यह वाक्य है। यह स्वयं है स्वसंवेद्य। कैसा है यह उत्कृष्ट चकचकायमान। ऐसा अनुभव कैसे जगे? जो कषायोंमें आत्मबुद्धि न रखेगा उसके ही जग सकेगा। तो धर्म तो है अपने आपमें स्वयं। आत्मा स्वयं धर्ममूर्ति है। अगर इसको भूल गए तो संसारमें रुलते रहे। तो धर्मलाभ है तो निज सहज चैतन्यस्वरूपके आश्रयमें है। तब क्या बात आयी? उपादान क्या है?

स्वभावदृष्टि । देखो बात-बातमें मर्म निकलता है । है ना स्वभावदृष्टि उपादेय ? कोई दूसरा भी उपादेय है क्या कुछ ? स्वभावदृष्टिको छोड़कर जगतमें कुछ भी उपादेय नहीं । अब एक जो विभावमें रंगा हुआ पुरुष है और उसके लिये स्वभावदृष्टि है बहुत आगेकी मंजिलकी चीज, अब वह जैसे स्वभावदृष्टिमें निकट आये उस प्रकार उसे समझाना चाहिये । सो ऐसा होता है कि भाई जैसे लोग कह तो देते हैं कि अरे फूफ ग्राम या अमुक ग्राम यहीं तो धरा है नाकके आगे । ऐसा बोलते हैं ना ? और यह जब चले तब पता पड़े कि ऐसे जाना पड़ता है । गप्प करनेमें, गाल बजानेमें तो कोई देर नहीं लगती । अन्तस्तत्त्व यह ही तो है, और जब उपयोगमें करने बैठे तब पता पड़ता है कि क्या होता है, किस तरहसे पार हुआ जाता है, कैसे क्या होता है । एक लड़का था तो उसे शौक हुआ कि हमें तो तालाबमें तैरना सीखना है । तो वह गया तालाबमें तैरनेके लिए तो डूबने लगा । खैर किसी नें उसे डूबनेसे बचा लिया, पर उसके मनमें यह बात बनी रही कि हमें तो तैरना सीखना है । तो माँ के पास जाकर बोला—मां जी मुझे तैरना सिखा दो । तो मां बोली—अरे बेटा चलो किसी तालाबमें वहां तुम्हें तैरना सिखा देंगे । तो वह लड़का बोला—मां मुझे पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाय ऐसा करो । अब भला बतावो, पानी न छूना पड़े और तैरना आ जाय यह बात कैसे हो सकती है ? यह तो एक प्रयोगसाध्य बात है । अरे उसका प्रयोग करे और प्रयोग करनेमें बहुत सी प्रवृत्तियां करनी होंगी । उन्हीं प्रवृत्तियोंको व्यवहारधर्म बोलते हैं ।

आत्महितार्थीके लक्ष्यलाभके पौरुषमें मार्गलाभ—जिसके मनमें व्रत, तप, संयम करने की बात नहीं है उसके लिए व्यवहारधर्म हेय है और जिसे करना है स्वभावदृष्टि उसके लिए व्यवहारधर्म कदाचित् उपादेय है, पर लक्ष्यमें नहीं हैं वे सब प्रवृत्तियां, शुभोपयोग उसके लक्ष्य में नहीं है इसलिए अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारमें तीन शब्द दिये हैं—अत्यन्त हेय, उपादेय, अत्यन्त उपादेय । देखना उनके तीन शब्द अमृतचन्द्र सूरिके प्रवचनसारमें कितना मर्म बताते हैं । अशुभोपयोग अत्यन्त हेय, शुभोपयोग उपादेय, शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय । आप अमृत-चन्द्र सूरिके शब्द देखो, उनमें क्या बात बसी है ? उपादेयका अर्थ तो स्पष्ट ही है, उसका ही पौरुष उत्कृष्ट सार है । अत्यन्त उपादेयका यह अर्थ होता है कि यह कथञ्चित् उपादेय है, चलता है । अत्यंत हेयका अर्थ है सर्वथा हेय है । मतलब यह है कि जिसको स्वभावदृष्टि करने का काम है उसे तो सब कुछ करना होता है और जो केवल गप्प मारनेका काम है उसको तो केवल गप्प ही है । तो भाई तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जायें, प्राण जायें, कुछ जाय पर हर तरहसे तैयार रहें कि हमें तो शुद्धोपयोगकी प्राप्ति करना है और शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य बनाना है, उसके लिए बढ़ते चले जाना है । तो देखो स्वभावदृष्टि अत्यन्त उपादेय

है। तो स्वभावदृष्टि करनेके लिए वस्तुका स्वरूप जानना होगा। स्वभाव कहीं अलग नहीं पड़ा रहता है। वस्तुके निरपेक्ष स्वरूपका नाम स्वभाव है। कहीं यह न मानना—स्वभाव सत् और द्रव्य सत्। यह वैशेषिकवादका रोग अपनेको न लावें। वस्तु एक है, अखण्ड है। सत् वहाँ दो नहीं है, पर एक ही वस्तुको जब हम स्वभावदृष्टिसे निरखते हैं तो स्वभाव ही मुख्य होकर हमारे ज्ञानमें रहता है। तो स्वभावदृष्टि करनेके लिए स्वभावका परिचय करें। स्वभाव परिचयके लिये वस्तुका परिचय करे और वस्तुका परिचय होता है प्रमाण और नयसे। सूत्र जी में बताया है कि प्रमाणनयैरधिगमः। तो सच्चे प्रमाण व नयका ही जिक्र है ना वहाँ। प्रमाण और नय सम्यक्का ही प्रकरण है जिससे कि अधिगम होता है, वह तो समीचीन अधिगमके उपायका प्रकरण ही है। तो प्रमाणके जितने भेद कहे जायेंगे वे सब सच्चे हैं कि नहीं? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, और नयके जितने भेद किए जायेंगे वे सब सच्चे हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, समभिरूढ़, एवंभूत आदिक, इनके द्वारा वस्तुका अधिगम होता है। कुछ जान लेने के बाद चूंकि स्वभावदृष्टिके लिए जाना हैं सो हमको तो स्वभावदृष्टिके उपायको मुख्य करना है सो बाकी तो गौण हो जायगा, स्वभावदृष्टि मुख्य हो जायगी। सबका नाश करके स्वभाव-दृष्टिको मुख्य बनाना अविवेककी दौड़ है। आपको कोई बाजारसे चीज खरीदना है तो आप उस चीजके लेने के लिए जा रहे, और वहाँ ऐसा कहे कोई कि बस दुनियामें सत् है तो यह है जिसको कने हम जा रहे, बाकी सब कुछ नहीं है। तो आप उसे क्या समझेंगे? मानो आपको बाजारसे दही लाना है, सो आप क्या यह कहते कि बस दही ही एक चीज है जगतमें, अन्य सब मिथ्या हैं, हैं ही नहीं? अजी ऐसा कोई नहीं कहता। जिसको जो चाहिये वह मुख्य है। उसकी मुख्यता रखेंगे, उसको खरीदेंगे, और बाकी सबको गौण कर देंगे, इससे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। तो जैनदर्शनमें अधिगमका उपाय है कि जानें सबको सही। सही जानने वाला सुपूत, कुपूत कुछ न देखे।। उसकी दृष्टिमें सब यथार्थ है। फिर जो हमारे लिए प्रयोजन है उसे मुख्य बना लें। यों स्वभाव वर्णनके लिए प्रमाण नयका वर्णन चलेगा।

—o—

(२)

(२२) **प्रमाण और नयोंकी वस्तुपरिचायकता**—वस्तुका परिचय होता है प्रमाण और नयोंसे। सब लोग पढ़ते हैं—प्रमाणनयैरधिगमः। वस्तुका परिचय प्रमाण और नयोंसे होता

है। तो प्रमाण क्या चीज ? सम्यग्ज्ञान—वे कितने होते हैं ? पांच होते है— (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन:पर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान, ये प्रमाण कहलाते हैं। इनसे वस्तुकी सही जानकारी होती है। तो सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं–और नय प्रमाण से जाने हुए पदार्थमें किसी दृष्टिकी मुख्यतासे जो एक अंशका बोध होता है उसे नय कहते हैं। नय जो कहता है वह पूर्ण वस्तु नहीं है, क्योंकि वह एक देश बताता है, मगर प्रमाणसे जान कर अपेक्षापना रखकर किसी भी नयसे परिचय करें तो वह नय सुनय कहलाता है, और उस नयके द्वारा वस्तुका अधिगम होता है। तो अब यह देखो—प्रमाण किसे कहते हैं ? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान क्या ? इन्द्रिय और मनसे जो पदार्थका बोध होता है वह मतिज्ञान है। जैसे हम देखते हैं, सूंघते हैं, स्वाद लेते हैं ये सब कहलाते हैं मतिज्ञान। और श्रुतज्ञान क्या कि मतिज्ञानसे जानकर उसी पदार्थमें उसके विशेष को जानना श्रुतज्ञान है। सो देखो—५ ज्ञानोंमें से समझाने वाला, प्रतिपादन करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञानसे जान भर लें मगर बता नहीं सकते, ऐसे ही अवधिज्ञान, मन:पर्यय-ज्ञान और केवलज्ञानसे जान भर लें लेकिन उससे वर्णन नहीं होता। वर्णन होता है श्रुत-ज्ञानसे और उस श्रुतज्ञानके अंश दो हैं— (१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय, या कहो निश्चयनय और व्यवहारनय। ये प्रमाणके, सम्यग्ज्ञानके अंश हैं। तो जैसे प्रमाण सत्य है ऐसे ही प्रमाणसे जानकर उनके अंशोंको जानना भी सत्य है। तो इस दृष्टिसे निश्चय भी सत्य है और व्यवहार भी सत्य है।

(२३) उपचारके मिथ्यापनकी दिशा—एक बात ध्यानमें रखो कि एक होता है उपचार याने जो बिल्कुल अलग वस्तु है। उस वस्तुको दूसरेका स्वामी कहना, दूसरेका कर्ता कहना, भोक्ता कहना यह सब उपचार कहलाता है। जैसे घड़ेका मालिक अमुक मनुष्य मकानका मालिक अमुक मनुष्य, यह उपचार कहलाता है। भिन्न वस्तुका अभिन्न वस्तुमें सम्बंध जोड़े, यह मेरा है, यह पराया है इस प्रकारका जो सम्बंध जोड़ उसे कहते हैं उपचार। तो उपचार जैसा बोलता है वैसा समझना तो झूठ है, इसीलिए कहते हैं कि उपचार मिथ्या है। अब व्यवहारमें या शास्त्रोंमें भी उपचारकी जगह व्यवहार शब्दका भी प्रयोग है। तो यह जानना कि व्यवहार दो प्रकारका होता है–एक उपचाररूप व्यवहार और दूसरा श्रुतज्ञान के अंशरूप व्यवहार। तो जो श्रुतज्ञानके अंशरूप व्यवहार है वह तो सत्य है। अगर श्रुतज्ञान का ज्ञानांशरूप व्यवहार असत्य हो जाय तो सर्व शास्त्र असत्य कहलायेंगे, क्योंकि सभी शास्त्रों का निर्माण व्यवहारसे ही होता है। निश्चय तो प्रतिपादक नहीं। जितना भी वर्णन होता है वह सब व्यवहारनयसे होता है। तो श्रुतज्ञानका अंशरूप जो व्यवहार है वह सत्य है। अगर

असत्य माना जाय तो सब शास्त्र असत्य हो जाते हैं। हाँ उपचार वाला जो व्यवहार है वह असत्य है। क्यों असत्य है वह कि एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका स्वामी बताया, कर्ता बताया, भोक्ता बताया, पर त्रिकाल भी एक द्रव्य दूसरेका कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, स्वामी नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमें तन्मय है, अपने प्रदेशमें रहती है। कोई पदार्थ प्रदेश से बाहर अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखता। तो जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं, स्वामी नहीं तो ऐसी बात कहे कोई तो वह उपचार है और मिथ्या है। हाँ थोड़ा वहाँ भी प्रयोजन समझा जा सकता है। जैसे घी का घड़ा कह दिया तो भी यद्यपि ऐसा कोई समझे कि इसमें घी धरा वहां इस निमित्तसे एक घी का घड़ा कह देते है तो यह उसका प्रयोजन ज्ञात होता है।

(२४) प्रमाण और नयोंके परिचयका सदुपयोग-- बात यह कह रहे हैं कि प्रमाणके अंश दो ही है- निश्चयनय और व्यवहारनय। इन दोनों नयोंसे वस्तुका सही-सही बोध होता है। अब देखो तीन बातें आयीं आपके आगे। प्रमाण, द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय। चाहे यों बोलो—प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय। अब इन तीन बातोंका विषय क्या है? ये तीन जानते किस प्रकार हैं। तो प्रमाण तो जानता है- द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयोंको एक समान देखते हुए, क्योंकि प्रमाणके कोई पक्षके पतन नहीं हैं। वे दोनों नयोंके विषयको प्रधानतया जानते हैं, यह तो है प्रमाणकी पद्धति और निश्चय व्यवहार या द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय उसकी पद्धति यह है कि द्रव्यार्थिकनयकी बातको गौण करके निश्चयनयकी प्रधानतासे जाने वह है निश्चयनय और व्यवहारनय निश्चयनयको गौण कर व्यवहारनयकी प्रधानतासे जाने वह है व्यवहारनय। सीधा स्पष्ट है। जैनागमका एक उपायभूत तत्त्व, जिसमें कहीं विसम्वाद नहीं। दृष्टान्तमें देखो- जैसे सबके दो आँखें हैं ना, तो दोनों आँखोंसे देखें वह तो है प्रमाणकी पद्धति याने दोनों नयोसे देखें प्रधानतया वह है प्रमाण और कभी बाईं आँख बंद करके केवल दाहिनी आँखसे देखें ऐसा कर सकता ना कोई और दाहिनी आँख बंद करके बाईं आंखसे देखें कोई तो ऐसा ही नयोंका प्रयोग है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमें नयके द्वारा उसका आंशिक बोध करना सो नय कहलाता है। देखो वस्तुकी परीक्षाका उपाय कितना अभ्यास बढ़ावें कि जगतमें सीधा स्पष्ट है, जानें खूब, समझें खूब, और ज्ञानका खूब अपनेमें कोई भी संग सारभूत नहीं है, बिल्कुल निश्चित बात है। कुछ समय तकका जीवन है, फिर मरण होगा, फिर किसी भवमें जायेंगे, फिर यहाँके लोग कैसे मिलेंगे? फिर कहाँ राग करना, कहाँ द्वेष करना, ये तो सब असार बातें हैं, क्षणिक संयोग है। जैसे मुसाफिर लोग चलते हैं, कोई यहांसे आया, कोई दूसरी दिशासे आया, एक जगह चौहट्टे पर मिल गए तो वह कितना

कितनी देरका है, आखिर शीघ्र ही एक दूसरेसे बिछुड़ जाते हैं ऐसे ही हम आप सबका यह कितनी देरका मिलाप है, कोई १०-२०-५० वर्षका। पर इस अनन्तकालके सामने ये १०-२०-५० वर्ष कुछ गिनती भी रखते हैं क्या ? तो थोड़े समयके लिए जीवित हैं, इसमें अगर आत्महित कर लें तो पार हो जायेंगे। आत्महित होता है, अहंकार ममकार छोड़ देनेसे। अहंकारका मतलब, जो मैं नहीं हूं उसे मैं मानना। इस शरीरको देखकर माना कि यह मैं हूं, ऐसी पोजीशन वाला हूं यह अहंकार है। ये कर्म मैं नहीं, यह शरीर मैं नहीं, विषय मैं नहीं, विचार मैं नहीं, पर इन्हें माने कि ये मैं हूं तो यह हुआ अहंकार। तो मैं क्या हूं ? सबसे परे, केवल प्रतिभासमात्र ज्ञानस्वरूप जो निज अंतस्तत्त्व है वह है सार उपादेय, शरणभूत, इसका परिचय किए बिना कोई सुख न पा सकेगा। अतः आत्माका ज्ञान करें, आत्माके सहज स्वरूपकी परख करें और अनुभव करते रहें कि बस यही मैं हूं, मुझे अब क्या करना है ? तो ऐसी अपने आपके स्वरूपकी ओर दृष्टि हो, ऐसा ही साधन बना रहे तो इसे कहते हैं एक मोक्षमार्गका प्रारम्भ।

(२५) ज्ञानीकी वृत्ति—देखो अगर कोई ज्यादह ज्ञानकी बात नहीं चित्तमें आयी तो इतनी तो आती है कि जो भी बाहरी चीजें हमें मिली हुई हैं वे सब मिट जाने वाली हैं। और मैं मिटने वाला नहीं, वैसे भी देखें तो कौन ऐसा भाव रखता है कि मैं मिट जाऊँ ? मिटनेका भाव कोई नहीं रखता। हर एकके अन्दर यही भावना है कि मैं सदा जीवित रहा करूँ। पर यहां यह बात नहीं बन सकती, किन्तु स्वरूपकी कोई दृष्टि करे तो वह अमर हो गया, क्योंकि उसने मरण रहित, विकार रहित अंतस्तत्त्वका आश्रय किया, अब उसे कोई शंका नहीं, कोई भय नहीं। सम्यग्दर्शनके ८ अंग हैं, इनका व्यावहारिक पालन भी होना चाहिए निःशंकित अंगमें कोई भय नहीं होता। अपनेमें कोई शंका न होना, निःकांक्षित—कोई इच्छा न होना। धर्मधारण कर भोगकी चाह नहीं है। निर्विचिकित्सक—धर्मात्माजनोंको (मुनियोंको) देखकर ग्लानि न करना, क्योंकि मुनियोंका शरीर गंदा भी हो तो भी उनसे ग्लानि न करना चाहिए, स्नान करनेका तो उनका त्याग होता है। दातून करनेका भी त्याग होता है। कदाचित् उनके मुखसे बदबू आये तो भी उन्हें देखकर मनमें ग्लानिका भाव न लायें और उन्हें देखकर यह विचारे कि यह शरीर तो रत्नत्रयकी मूर्ति है। पवित्र है, उसमें ग्लानि न करना। देखो अपनेको अगर यह परम्परा बनी रहेगी गुरुजनोंकी विनय करना, और भगवानकी भक्ति करना तो अपने कुलमें आगेकी संतान, उसके बादकी संतान, ये सब धर्ममें टिके रहेंगे और अगर इनको कोई मिटा दे, कुछ है ही नहीं गुरु, उनको खानेको न दें, उनकी सेवा न करें, तो भला बतलावो दिगम्बर परंपराका क्या हाल होगा ? हम आप पहले क्या थे, क्या करते थे उसका कुछ स्म-

रण करना चाहिए, तो निर्विचिकित्सा अंग—ग्लानि न करना अमूढ़दृष्टि अंग, मूढ़ता नहीं, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ऐसा मायाचार, किसीका चमत्कार हो गया, और उसका चमत्कार देखे तो श्रद्धा बिगड़ जाय। ये मेरे गुरुजन हैं, श्रद्धा भक्ति द्वारा वीतराग देवका आदर करें, यह है उपास्य। उपगूहन अंग– देखो बहुत समय पहले समाज कितना सुखपूर्वक रहती थी, शान्तिसे रहती थी। ये बड़े-बड़े विशाल मन्दिर जो खड़े हुए हैं, समझो कि उस समय कैसा एक मुक्त हस्तसे खर्च करके उन्होंने मन्दिरोंका निर्माण किया। कितने सरल होते थे, कितने सज्जन होते थे, गुरुजनोंके प्रति कितना नम्र रहते थे, सर्वत्र शान्ति चाहते थे। तो जो लोग इस समाजको जिन्दा रखना चाहते हैं वे गुरु जनोंकी प्रतिष्ठा रखें। गुरुजनोंसे ग्लानि न करें। कदाचित् किसी धर्मात्मा पुरुषमें कोई दोष देखें तो उसे पब्लिकमें प्रचार कर अप्रभावनाकी बात न करें, धर्मपर लांछन न आने दें। ऐसा यह उपगूहन अंग है। इसका दूसरा नाम है उपबृंहण याने गुणोंकी वृद्धि करना। फिर है स्थितिकरण– कोई गिरता हो, पतित होता हो, किसी कष्टसे व्याकुल हो तो उसे धर्ममें स्थिर करना, तन, मन, धन, वचन आदि लगाकर उसे धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है। वात्सल्य अंग, प्रेम रखना, निष्कपट बनना, धर्मात्माओंमें आदर भाव रखना। यह दिगम्बर जैनशासन सदा जयवन्त होवो। और इसकी उपासना, इसके प्रति वात्सल्य उमड़े, यह कहलाता है वात्सल्य अंग। और प्रभावना अंग—जैसे अज्ञान अंधकार दूर हो उस प्रकार जैनशासनका माहात्म्य फैलाना इसे कहते हैं प्रभावना अंग। अपने जीवनमें इन ८ अङ्गोंको गहो, यह हुई प्रारम्भिक श्रेणी और फिर तत्त्वाभ्यास करो प्रमाण और नयकी विधि समझकर, वहाँ स्वभावदर्शन होगा, अपने स्वभावकी दृष्टि बनेगी, मैं क्या हूं परमार्थसे, एक इसका निर्णय हो जाय तो वह संसारसे नियमसे पार होगा।

(२६) **परिचयात्मक व क्रियात्मक धर्मवृत्ति करके संप्राप्त मानवजीवनको सफल करनेका अनुरोध**—देखो संसारमें जन्म मरण करते हुए अनन्त भव अज्ञानमें खो दिये, अब एक भव यदि सम्यग्ज्ञानमें जुट जाय, बाहरी पदार्थोंके लोभादिक कषायोंके रंग इनका परित्याग हो जाय, मैं कुछ नहीं हूं तो उसे वहां सब कुछ मिल जायगा। जो कुछ चाहता उसे तो कुछ नहीं मिलता और जो कुछ नहीं चाहता उसे सब कुछ मिलता है। तो संसारके ये सुख इन्हें न चाहें तो उसे सर्वस्व मिल जाय। एक सेठ था। उसकी हजामत एक नाई बना रहा था, तो जब छुरा उसके गले तक पहुंचता था तो सेठ घबड़ाता था, अरे अब तो हमारी जान इस नाईके हाथमें है, सो डरते हुएमें वह कहता जा रहा था कि देखो नाई जी तुम हमारी बहुत बढ़िया हजामत बनाना, हम तुम्हें कुछ इनाम देंगे... अच्छी बात। जब हजामत बन चुकी तो बादमें सेठ एक अठन्नी देने लगा। तो नाईने कहा—मालिक हम अठन्नी न

लेंगे। हमें तो आपने 'कुछ' देनेको कहा था सो हम 'कुछ' ही लेंगे।...अच्छा रुपया ले लो।...नहीं लेंगे।....५) ले लो,....नहीं लेंगे।....१०) ले लो,....नहीं लेंगे। सेठ बड़ा हैरान हो गया, कहा—अच्छा जरा हमको प्यास लग गई है, उस आलेमें जो दूधसे भरा गिलास रखा है, उसे जरा उठाना, हम दूध पी लें, फिर तुम्हें कुछ इनाम दें। सो नाईने आलेमें रखा गिलास उठाया तो क्या देखा कि उस दूधमें कोयलेका एक टुकड़ा पड़ा हुआ था, तो उसे देखकर झट बोल उठा—अरे सेठ जी इसमें कुछ पड़ा है।....कुछ पड़ा है?....हां कुछ पड़ा है।....अच्छा तू उस कुछको उठा ले, कुछ की ही तू तो हठमें था। तो कुछकी हठमें उसे क्या मिला? कोयला। तो जैसे वह नाई कुछ की प्राप्तिके लिए अटकता था तो उसे फल मिला कोयला, ऐसे ही ये जगतके प्राणी इन असार अत्यन्त भिन्न परद्रव्योंमें अपनी अटक किए हुए है, इनसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं है, इनके पीछे अटक रखनेके फलमें कुछ भी लाभ न मिलेगा। ऐसा जानकर इन असार भिन्न परपदार्थोंसे अपने आपको विविक्त रखना, निराला निरखना, यह है अपना एक सम्यक् पौरुष। तो भाई प्रमाणसे परिचय करें, नयोंसे परिचय करें और जिस नयसे अपने आपके स्वभावका दर्शन हो और अपना संयम हो उसे मुख्य बनायें, शेष नयोको गौण बना लें। इस तरहकी वृत्तिसे धर्मसाधना होती है। यह तो है एक परिचयात्मक धर्मकी वृत्ति। एक होती है क्रिया। अगर शुभ प्रवृत्ति करें तो अशुभ प्रवृत्ति दूर हो जायगी नहीं तो शुद्ध तो है नहीं, शुभका भाव नहीं, तो अशुभमें ही जीवन जावेगा। इस समय तो शुभ प्रवृत्तिमें लगें, करें उसमें अटकें नहीं। लक्ष्य अपना सही बनायें, हमें जिस तत्त्व तक जाना है वही हमारा लक्ष्य है, वही शुद्ध तत्त्व हमारी चीज है। यों परिचयात्मक और क्रियात्मक इन दोनों प्रकारोंसे अपनी धर्मसाधना करें और पाये हुए इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करें।

—०—

(३)

(२७) **प्रमाण और नयके स्वरूपका स्मरण**—कल यह बतलाया गया था कि प्रमाण और नयसे वस्तुका परिचय होता है। तो सामान्यतया प्रमाण और नयके बारेमें कुछ चर्चा हुई थी। अब उसी को ही विशेषरूपसे सुनो। प्रमाण कहते किसे कि वस्तुके विषयमें पूरी जानकारी हो। हर नयसे, हर दृष्टिसे पूरी जानकारी होनेका नाम है प्रमाण। तो प्रमाणका दूसरा नाम है सम्यग्ज्ञान सकलादेशी मायने जो समस्त नयोंको समझे और

सर्वविलोकन याने पदार्थमें रहने वाली समस्त विधियोंका अवलोकन करे यह सब कहलाता है प्रमाण। अच्छा और नयोंमें कल बताया था ना—(१) द्रव्यार्थिक, (२) पर्यायार्थिक। वस्तु सदा रहती है और क्षण क्षणमें बदलती है। इतना तो है ना सब वस्तुओंमें कोई माने कि वस्तु सदा रहे और क्षण-क्षणमें नई नई अवस्था न पाये तो वह वस्तु ही नहीं। उदाहरणमें एक भी बता दो कि जो है सो है, पर उसकी अवस्था नहीं बनती, उत्पाद व्यय होता, ऐसा कुछ भी नहीं हैं और कुछ सोचेंगे तो वह कल्पनासे सोचते होंगे और ऐसा भी कुछ नहीं है कि जो नित्य न हो और कुछ उत्पाद व्यय हो, ऐसा भी कुछ नहीं है। है वस्तु और सदा रहती है और अपने अपने समयमें अपनी अपनी अवस्था बनती है। तो दो चीजें हुईं ना, जो सदा रहे सो द्रव्य और जो समय समयपर नया नया बने सो पर्याय। तो द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, द्रव्यपर जिसकी दृष्टि हो उसे कहते हैं द्रव्यार्थिकनय और पर्यायपर जिसकी दृष्टि हो मायने पर्यायकी मुख्यतासे जानकारी की जा रही हो उसे कहते हैं पर्यायार्थिकनय।

(२८) द्रव्यार्थिकनयके कुछ अनर्थान्तर—द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनय। ये कुछ थोड़े थोड़े अन्तरको लिए हुए हैं, बाकी सब एकार्थवाचक शब्द हैं, वहां थोड़ा थोड़ा अन्तर है? यह बहुत गहरी चर्चा हो जायगी। जैसे मानो भूतार्थनय जो सहज शुद्ध निरपेक्ष अखण्ड स्वभावको जाने सो भूतार्थनय। अब देखो भूतार्थनय और शुद्ध नय। दोनोंका यद्यपि एक ही अर्थ है, फिर भी उनमें ऐसा जानना चाहें तो भूतार्थनयसे और स्वच्छ है शुद्धनय, जिसकी अन्य कुछ कल्पना ही नहीं है, केवल लक्ष्य ही होता है, अखण्ड तत्त्व है, भाई जैसे कहते ना वह देखता है, वह तकता है। तो देखना और तकना इनमें कुछ फर्क है ना? दिखना नाम है थोड़ा दिखनेका और तकना नाम उसका है जैसे बच्चे लुक छिपकर किसी दीवालके छिद्रसे देखते हैं। तो जितने शब्द हैं वे एकार्थवाचक हैं, पर उनमें अन्तर होता है सूक्ष्म दृष्टिसे। जैसे काय, देह, शरीर, तन आदिक ये सब एकार्थवाचक हैं, इस शरीरके ही य सब नाम हैं, पर सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो इन सब शब्दोंके अर्थ जुदे-जुदे है। अच्छा अब आप इन शब्दोंमें फर्क सुनो देह, जिसका परमाणु बढ़ें सो देह। यहाँ बूढ़ोंके शरीरको देह न कहेंगे। शरीर जो जीर्ण शीर्ण हो सो शरीर। यहाँ बच्चोंके शरीरको शरीर नहीं बोलेंगे। तन जो फैला हो सो तन। तो इस तरह इन सभी शब्दोंके अर्थ जुदे जुदे हैं और नाम है एक ही चीजके तो नयोंका इतना सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए कि सबके अन्दर देखें द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, परमशुद्ध निश्चयनय। है करीब करीब एक ही बात, मगर उनमें भी सूक्ष्म दृष्टिसे अन्तर पाया जाता है।

(२६) **द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय व उपचारका विषय**—अभी सूक्ष्म अन्तरकी चर्चा नहीं करके सामान्यतया देखो यहाँ जीवके एक अभेद भावको जो ग्रहण करे वह है सब द्रव्यार्थिकनय, भूतार्थनय, शुद्धनय, यह अभेद विषयक है। जो भेद करे सो पर्यायार्थिकनय अभूतार्थनय। अशुद्धनय, व्यवहारनय, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, पर इतना समझ लेना कि जितना नयबल है वह सब सत्य है, क्योंकि ये प्रमाणके अंश हैं, ये वस्तुका यथार्थबोध कराते हैं। केवल उपचार मिथ्या होता है, उपचारमें क्या फर्क है ? उपचारमें तो भिन्नोंका कारकत्व आदि कहा जाता है। मायने जुदे जुदे पदार्थ है और उनमे सम्बन्ध बनावें, यह इसका करने वाला, यह इसका भोगने वाला। यह इसका मालिक यह उपचारनय हो गया। तो उपचार नयमें तो भिन्न कर्तृत्व होता है इसलिए वह मिथ्या है। भले ही समझानेके लिए तो समझो उससे निमित्तका बोध होगा कि इस कार्यमें इसका निमित्त है, लेकिन निमित्त करते हैं दूसरेका परिणमन यह बात नहीं बनती और यह कहता है उपचार इसलिए उपचार मिथ्या है, पर निश्चय और व्यवहार ये दोनों सम्यक् हैं। बहुत बार समझाया है कि व्यवहारका प्रयोग दोनों जगह होता है। प्रमाणका अंशरूप व्यवहार इसे भी व्यवहार बोलते और उपचाररूप व्यवहार इसे भी व्यवहार बोलते तो यह समझ बनानी होगी कि व्यवहार जहां मिथ्या कहा वहाँ कौन सा व्यवहार लिया ? उपचार वाला व्यवहार लिया या प्रमाणांशरूप व्यवहार लिया।

(३०) **निश्चयनय व व्यवहारनयकी प्रमाणांश रूपता**—ये दोनों नय निश्चयनय व व्यवहारनय प्रमाणरूप सम्यक् श्रुतज्ञानके अंश हैं। तो जो प्रमाणके अंश हैं, वे सत्य है प्रमाण सत्य है तो नय यह भी सत्य है याने नय सदंश है। जैसे कहा समुद्र और बूंद। समुद्रमें बूंद होती है ना ? तिनकासे बूँद उठाया और पूछा कि बताओ यह बूँद समुद्र है या असमुद्र। याने समुद्र है या समुद्र नहीं है तो बताओ आप लोगोंको उसका उत्तर देनेमें आफत आ गई कि नहीं ? अब अगर कहते हैं कि यह बूँद समुद्र है तो फिर नहा लो उससे और अगर कहें कि समुद्र नहीं है तो फिर वह बूँद असमुद्र हो गया। तो ऐसे अनगिनते बूँद भी मिल जायें तो भी वह समुद्र नहीं हो सकता। कहीं असमुद्र असमुद्र मिल मिलकर समुद्र बन जायगा ? अजीव अजीव मिलकर जीव बन जायगा क्या ? तो जो समुद्रकी बूँद है वह समुद्र है कि असमुद्र ? तो जैनशासन उत्तर देता है कि समुद्रांश है समुद्र है तो नहावो फिर और असमुद्र है तो ऐसे अनगिनते बूँद मिल जायें तो भी समुद्र नहीं बन सकता। तब क्या है ? समुद्रांश है। ऐसे ही नयके बारेमें समझें चाहे द्रव्यार्थिकनय हो, पर्यायार्थिकनय हो, निश्चयनय हो, व्यवहारनय हो। यह बताओ कि यह व्यवहारनय प्रमाण है कि अप्रमाण ?

बस वही समस्या आयगी । अगर कहो कि प्रमाण हैं तो लो नय ही प्रमाण हो गया । नयसे ही पूरी बात जान लो । प्रमाणकी क्या जरूरत ? कोई कहे कि अप्रमाण है नय । तो बहुत से नय मिला दिया तो भी वह प्रमाण नहीं बन सकता । अप्रमाणका मिलाप प्रमाण कैसे बन जायगा ? तो क्या उत्तर दिया जाय कि नय न प्रमाण है न अप्रमाण । किन्तु प्रमाणांश है । तो प्रमाणांश होनेके कारण निश्चयनय और व्यवहारनयकी समीचीनता एक समान है । केवल एक उपचार जो भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सम्बन्ध और कारकत्व बताता है तो जिस भाषा में बोला उसीमें समझे तो उसका वह मिथ्यापन है । तो यह उपचार इन नयोंसे अलग चीज है, यह रूढ़ि कहलाती है, यह लोक रूढ़ि है, जैसा लोकमें बोल दिया उसके अनुसार इसका चलन है इस कारण उपचार मिथ्या है । अब इतनी बातें आ गई निश्चयनय व्यवहार नय और उपचार । उपचार भी संगमें लदा, नय नहीं है उपचार मगर लोकरूढ़ि चलती है । तो निश्चयनयका अर्थ क्या है ? यह अभेद विषयक है जो अभेदको विषय करे, एकको विषय करे वह है निश्चयनय और व्यवहार नय कैसा ? वहां दो विषय हैं भिन्न कारकत्व, और अभिन्नकारकत्व । अभिन्न कारकत्व निश्चयनयका भी विषय है । जो एक दृष्टिमें अभिन्नकारकत्व है वह निश्चयनयका विषय है उसमें भी अशुद्धनिश्चयनयका या शुद्धनिश्चयनयका । किन्तु जो घटना बताकर निमित्तनैमित्तिकभाव बताकर उपादानमें कारकत्व दिखाया जाता है सो समझो व्यवहारनयका विषय है । निमित्तनैमित्तिक भावका निर्णय करें, अमुक पदार्थ का निमित्त पाकर यह पदार्थ इस रूप परिणम गया, ऐसा निर्णय बताना यह व्यवहारनय का काम है । अग्निका निमित्त पाकर शरीर जल जाता है, यह व्यवहारनयका विषय है और अग्नि अग्निमें काम करती है, हाथ हाथमें काम करता है । ऐसा बताना निश्चयनयका काम है, अब यहां देखा गया निश्चयनय मिथ्या नहीं व्यवहारनय । क्या ऐसा देखा नहीं जाता ? अग्नि मात्रका निमित्त पाकर हाथ अपनी परिणतिसे जल गया, तो व्यवहारनय असत्य नहीं किन्तु सत्य है । जैसे अग्नि हाथको जलाती तो यह भिन्न कारकका प्रयोग हो गया यह मिथ्या हो गया, पर निमित्तनैमित्तिक भाव मिथ्या नहीं । कोई कहे कि मिथ्या है तो झट उसके हाथपर अग्निकी चिनगारियां धर दो, बस वह कह देगा कि हां मिथ्या नहीं है ।

(३१) **नयोंके प्रयोगमें प्रयोजनका दर्शन**—बात यहां सब प्रमाणांशकी चल रही है । तो प्रयोजन निरखना है । प्रयोजन क्या है ? स्वभावदर्शनका आश्रय । स्वभावदर्शन करें । व्यवहारनयके प्रयोगमें भी स्वभावदर्शनकी ही पद्धति बनावें निश्चयनयके प्रयोगमें भी स्वभावदर्शनकी पद्धति बनावें । मैं ज्ञानमात्र हूं । और, देखो भाई करें प्रयोग कभी-कभी घरपर कहीं

बैठकर, एक निरन्तर धारा प्रवाह, ऐसा मनमें मनन करें कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूं। ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानसिवाय कुछ नहीं हूं। ज्ञान ज्ञान जग रहा, जगमग हो रहा, बस वही मेरा कर्तापन, यही मेरा भोक्तापन, ज्ञान ही स्वरूप है मेरा। ज्ञान सिवाय कुछ नहीं। जब कोई बड़ी चिन्ता हो जाती है, कोई बड़ा कष्ट मानने लगता है किसी बात पर भी उस समय अपनेमें ज्ञानमात्र स्वरूपमें निहारने चलता हैं तो सारे संकट टल जाते हैं एक औषधि यह भी कर लो। कैसी औषधि कि अपनेको यह मान लेना कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूं। मात्र ज्ञान ज्ञान रूप हूं। बहुतसे कष्ट मिट जायेंगे, अब इसमें क्या दूसरोंपर क्रोध करना, क्या दूसरोंसे आशा करना। सारी समस्यायें हल हो जाती हैं जब कि अपनेको ज्ञानमात्र स्वरूपमें विश्वास किया जाय, मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रत्ययमें सारी समस्याका समाधान हो जाता है। तो व्यवहार का विषय बताया है भेद, यहाँ भी प्रयोजनका प्रवेश है तो अखण्ड और उसके भेद कर लो। समयसारकी ७ वीं गाथामें बताया गया है कि 'ववहारेणुवदिस्सइ जीवस्स चरित्त दंसणं णाणं'। स्पष्ट बताया है कि यह तो बात दूर जाने दो, कि आत्मबोध होनेकी वजहसे अशुद्ध है, अरे आत्मामें दर्शन ज्ञान चारित्र ये भी व्यवहारसे कहे जाते, लेकिन यहाँ कौनसे शुद्धकी बात चल रही है ? द्रव्यशुद्धि मायने वह वस्तु जो समस्त परसे रहित है और अपने आपके स्वरूप में तन्मय है ऐसा एक वस्तुको देखकर कहा जा रहा है कि उसमें तो गुण भी नहीं, पर्याय भी नजर नहीं आता, केवल वही एक अखण्ड विषय नजर आता है। तो देखो यह अभेदकी ओर चलें तो यह हो गई निश्चयकी पद्धति और भेदकी ओर चले तो यह हो गई व्यवहारको पद्धति। तो व्यवहारनयका विषय भेद है अब देखो भेदकी बातका आधार लेकर अनेक विषय बताये गए हैं। ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चरित्रगुण आदिक रूप ये भेद आचार्य संतोंने किस प्रकार से बताया है हम उन्हें असत्य न कहेंगे। वे प्रमाणके अंश तो आगम हैं।

(३२) आगमवाक्योंकी समीचीनता—एक बार जबलपुरका ही कथानक है, हम भी थे दसलक्षणके दिनोंमें जब श्री बड़े वर्णीजीका वहाँ चातुर्मास था। वहाँ पर बहुतसे पंडित थे, तो सभीको पढ़नेके लिए अध्याय बाँट दिये गए, किसीको पहला, किसीको दूसरा किसीको चोथा, किसीको ५ वाँ। तीसरा अध्याय रह गया, उसमें था नरकोंका वर्णन, उसको किसीने न लिया तो अन्तमें हमारे गुरु जीने कहा अच्छा मनोहर तुम इस तीसरे अध्यायको ले लो। तो हमने कहा ठीक है ले लेंगे। सो दो दिन बाद तीसरा अध्याय पढ़नेका नम्बर हमारा आया तो हमने पढ़ा। तो पहिले ही यह बता दिया कि देखो जैसे सूत्रजीको बड़ी आस्थासे देखते हैं किस तरह ? सूत्र पढ़नेके बाद अर्घ चढ़ाते हैं ना ?.... हाँ चढ़ाते हैं। तो समग्र सूत्रजीका पाठ करके भी अर्घ चढ़ाते, तो कोई प्रत्येक अध्यायपर अर्घ चढ़ाता है और कोई प्रत्येक सूत्रपर अर्घ चढ़ाये तो

नहीं चढ़ाया जा सकता है। इस सूत्रमें नरकोंके नाम बताये हैं—रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः। आगममें बताया कि सात नरक हैं। इस सूत्र को आगममें बताया तो यह सूत्र भी पूज्य है, प्रत्येक आगम वाक्य पूज्य है। तो यह भेद किसने बताया ? व्यवहारनयने। और उसकी ही करुणासे हम निश्चय नयके विषय को जाननेमें समर्थ हो सके तो यह तीर्थप्रवृत्ति है। अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि 'जई जिणमयं पवज्जह ता या ववहारणिच्छये मुयए।' याने निश्चयनय व्यवहारनय अगर जिनमतको सही जानना चाहते हो, और तत्त्वका परिचय करना चाहते हो तो इन दोनों नयोंको न छोड़ो। यदि निश्चयनय छोड़ा जाय तो तत्त्व खतम हो जायगा और व्यवहारनय छोड़ दिया तो तीर्थ खतम हो जायगा। तीर्थके मायने ऐसी परम्परा चलना कि जिससे घरके ये छोटे छोटे बच्चे भी फायदा उठायें, आगे और जो हों वे भी फायदा उठायें। वर्तमानमें भी आपको समझ बन सके उसे कहते हैं तीर्थ। तो तीर्थकी रक्षा करने वाला है व्यवहारनय और तत्त्वका अन्तः परिचय कराने वाला है निश्चयनय। तो बताया है कि दोनो ही हमारे हितकर हैं उन्हें मत छोड़ें। व्यवहारका विषय है भेद, उसका यह निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बंध बताना यह व्यवहारका विषय है। यहाँ तक तो हुई सब सम्यग्ज्ञानकी बातें, अब उससे अलग रह गया उपचार। लौकिकी रूढ़िमें उन्हीं शब्दोंमें समझे तो उपचार मिथ्या होता है। उपचारमें कितनी-कितनी बातें लोग बोल देते हैं, घीका घड़ा, यह मेरा यह अन्यका, यह उपचार कथन है। यों नहीं है अतः मिथ्या है। इस तरह प्रमाण नय और उपचार, इनके स्पष्टीकरणमें विवेचन चला।

—o—

(४)

(२३) नयोंके प्रयोगमें धर्मपालनका प्रयोजन—धर्मके बिना अपना कोई शरण सहाई नहीं है। जगतमें दृश्यमान जितने पदार्थ हैं वे निराले हैं, उनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं। उनसे मेरी कोई हानि नहीं, एक धर्मपालन ही इस जीवका शरण है। यह बात बहुत संक्षेपमें कह रहे हैं। आत्माका धर्म है आत्माका स्वभाव। धर्म करने की चीज नहीं है। धर्म तो अपने आप ही आत्मामें मौजूद है, अन्तः प्रकाशमान है। उस धर्म पर दृष्टि देना यह ही धर्मपालन कहलाता है। तो धर्मदृष्टि कहो, स्वभावदृष्टि कहो यह ही धर्मका पुरुषार्थ कहलाता है। तो यह धर्मदृष्टि हमें आगमके प्रत्येक शब्दसे मिल सकती है। शास्त्रोंमें कितने ही नयोंके प्रयोग किए गए हैं, जिनमें से चार नय रख लीजिए। परमशुद्ध

निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय। इसका मतलब समझिये परमशुद्ध निश्चयनयका अर्थ है– अखण्ड एक वस्तुस्वभावको परखना, शुद्धनिश्चयनयका अर्थ है कि वस्तुकी शुद्धपर्याय ही देखना, उस ही में हुई है ऐसे एकत्वपूर्वक देखना शुद्ध निश्चयनय है। और वस्तुमें अशुद्ध पर्यायको एकत्व पद्धतिसे देखना अशुद्ध निश्चयनय है। किन्तु पर पदार्थका नाम अभी न लेना। जानें अशुद्ध पर्यायको मगर पर पदार्थकी अपेक्षासे न जानें। अगर परकी अपेक्षा रखकर जाना तो व्यवहारनय बन गया। अशुद्ध निश्चयनय, जैसे सामने दर्पण है और सामने मानो कोई दो बालक खड़े हैं तो उन दो बालकोंका प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ गया। अब चाहे तो इस तरह देखलें कि उन बालकोंका निमित्त पाकर दर्पणमें प्रतिबिम्ब हुआ और चाहे मात्र दर्पणको ही देखलें, यह दर्पण ऐसा प्रतिबिम्बित हुआ, यह दर्पण अपने मे अपना आकार रख रहा, चाहे इस तरह देख लें। तो पर पदार्थका नाम लेकर निमित्त बताकर देखनेका नाम है व्यवहारनय और उस ही द्रव्यको देखकर उसमें अशुद्ध पर्याय देखकर उस ही में देखे तो इसको बोलते हैं अशुद्ध निश्चयनय। तो ये चार नय हो गए जिनमे सब पर विचार करें तो स्वभावदृष्टिका प्रयोजन सब नयोमें मिलता है।

(३४) सर्व नयोंका प्रयोजन स्वभावकी दृष्टि कराना—परम शुद्ध निश्चयनय अखण्ड वस्तुको स्वभावको जो परखे सो परम शुद्ध निश्चयनय है। यह तो साक्षात् स्वभावदृष्टिका साधन बन रहा है क्योंकि इसका विषय है अखण्ड एक स्वरूप। तो परमशुद्ध निश्चयनय तो साक्षात् एक स्वभावदृष्टिका काम करा देता है। अब शुद्ध निश्चयनयको देखो, शुद्ध निश्चयनयमें क्या जाना कि प्रभु केवलज्ञानी है। प्रभु द्रव्य जो विशुद्ध आत्मद्रव्य है उसमें देखो केवलज्ञान और कुछ नहीं परखना कि किस कर्मके क्षयसे होता है। कोई बात परकी न देखना। शुद्धपर्यायको देखो तो यह कहलायगा शुद्ध निश्चयनय। इसमें अपने स्वभावको देखें और उसीमें उसकी सहज शुद्ध अवस्थाको देखें तो एक ही द्रव्यको देखा गया, अन्य द्रव्य तो नहीं देखा गया। तो जब अन्य पदार्थ ख्यालमें नहीं है तो व्यक्त विकार न बनेगा और जहाँ व्यक्त विकार नहीं बनता वहाँ अव्यक्त विकार काल पाकर उसका मूल नष्ट होनेपर स्वयं नष्ट हो जाता है। जितना उपदेश है वह बुद्धिपूर्वक काम जो किया जा सकता उसका उपदेश है। तो शुद्ध निश्चयनयके विषयमें ऐसा स्वभाव दृष्टिका अवसर आता है, अब तीसरी लो स्थिति अशुद्ध निश्चयनयकी। यह वस्तुमें अशुद्धपर्यायको तो देखता है मगर निमित्त पाकर हुआ यों परकी दृष्टि नहीं करता पर द्रव्यपर दृष्टि नहीं रखता तो वहाँ भले ही देखें कि जीव रागी है, देखा तो है विकार, फिर भी यदि परद्रव्यको निमित्त न बनावें, वहाँ परका आश्रय न करें तो ये विकार भी इसमें ठहर नहीं सकते हैं। तो अशुद्धनिश्चयनयसे भी चूँकि

बाह्य निमित्तका वहाँ विकल्प नहीं है तो वह भी स्वभावदृष्टिका साधक है। अब व्यवहार-नय देखिये—व्यवहारनयसे जाना कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीवमें अशुद्ध दशा हुई है तो ऐसा जाननेसे यह उमंग उठती है कि परभाव मेरा कुछ नहीं, विषय कषाय मेरा कुछ नहीं। मैं तो इनसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। व्यवहारनयका तो प्रयोजन है अशुद्धका निषेधका कर देना, बाह्य तत्त्वका हटा देना और निश्चयका भी प्रयोजन है लक्ष्यभूत अंतस्तत्त्वमें दृढ़ता बना लेना। तो यों व्यवहारनयसे भी स्वभावदृष्टिकी शिक्षा मिलती है। ये परभाव मैं नहीं। मैं तो सहजशुद्ध ज्ञानमात्र हूं। यों इन नयोंका विवेक पूर्वक प्रयोग करनेमें जैन शासनका सार आ जाता है। यह बात समझना कि स्वभावदृष्टि होना सर्वोपरि उपादेय तत्त्व है। तो स्वभावदृष्टि कैसे बने, उसका वर्णन इस निबंधमें आया है। परभावका निषेध करके स्वभावदृष्टि बनावें और स्वभावको विधिमें लेकर उसकी दृष्टि रखकर स्वभावदृष्टि बनावें। स्वभावदर्शन ही एक धर्मपालन है।

(३५) विशुद्ध दृष्टिका अलौकिक बल—अब कोई कहे कि हमें तो स्वभावदर्शन होता रहता है। तो स्वभावदर्शन होता है और उसके विषय कषायोंमें अन्तर नहीं आ पाया यह बात तो बड़े अचरजकी है। जिसको स्वभावदर्शन होता है वह यहाँ वहाँकी बातोंमें भटकता नहीं, किन्तु अपने निर्णयके अनुसार अपने लक्ष्यमें ही ध्यान रखता है। नयोंका प्रयोग यदि विधिवत् न हो तो उस उपदेशमें भलाई नहीं रह पाती। तो नयका प्रयोग बहुत संभाल कर करना चाहिए और जिस नयसे जो बात कही है वह मुख्य लक्ष्यमें होना चाहिए, पर साथ ही एक प्रतिपक्षनय गौण रूपसे इनके परिचयमें रहना चाहिए। अगर प्रतिपक्ष नयका विषय साथ नहीं लेते तो जो कहा जा रहा है कि उस नयसे सत्य है तो भी प्रतिपक्षनयका अज्ञान होनेसे असत्य है। हम आपको दृष्टिका महान बल मिला है। वह भी और कहाँसे प्रकट होता है? कहाँसे साहस जगता है? वह जगता है तो बस इस स्वभावदृष्टिसे दृष्टिबलसे। किसीमें शरीरका बल अधिक नहीं है, पर हिम्मतका बल है तो वह अपनी विजय प्राप्त कर लेता है। किसीके शरीरमें बल अधिक है, पर साहसका बल नहीं है तो वह विजय नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसे ही अपने आपमें मैं किस स्वभावरूप हूं ऐसा दृष्टिका बल न मिले तो हमारा उपयोग बाहर ही बाहर घूमता रहता है। हम ठीक ठिकाने नहीं आ पाते। दृष्टिबल एक बहुत बड़ा बल होता है। गुरु जी एक कथा सुनाते थे कि एक था बनियाका लड़का और एक था क्षत्रियका लड़का। सो बनियाका लड़का तो था खूब हृष्ट पुष्ट और क्षत्रियका लड़का था कमजोर। दोनोंमें हो गई कुश्ती तो पहले तो बनियाके बच्चेने झट उसे गिरा कर दाब दिया, पर नीचेसे क्षत्रिय बालक ने पूछा कि सच बताओ तुम किस

जातिके हो ? तो उसने बताया कि मैं बनियाका बच्चा हूं। अब तो क्षत्रिय बालकमें वहां ऐसा बल प्रकट हुआ कि उठकर उस बनियाके बालकको झट उठाकर फेंक दिया। क्यों फेंक दिया ? उसने सोचा अरे कहां तो मैं क्षत्रिय पुत्र और कहां यह बनियाका पुत्र। तो मैं क्या हूं, इसका ठीक निर्णय हो जाय तो वह कहलाता है दृष्टिका बल। जहां दृष्टिबल प्रकट होता है वहां धीरता, समता, शान्ति सब कुछ बन जाती है। ये भी कब प्रकट होते हैं, जब एक अपने शुद्ध सहज स्वभावको जान लिया जाय कि मैं यह हूं। यह एक बात बतायी जा रही है और सुनकर कोई ऐसा न मानले कि मैं सर्वथा ऐसा ही हूं शुद्ध बुद्ध निरञ्जन। नहीं तो वह धोखा खा जायगा। कोई किसीको दगा नहीं देता, क्योंकि किसीको किसीके साथ दगा देनेका प्रयोजन नहीं, किन्तु अपनेको सुख शान्ति मिले, इसका प्रयोजन है। देखो—जीवनमें धीरता हो तो लाभ मिलेगा, गम्भीरता हो तो लाभ मिलेगा। जरा जरा सी घटना देखकर घर गृहस्थीमें अनेक बातें उत्पन्न होती हैं, उनको देखकर दुःखी होनेसे आखिर कुछ लाभ न मिलेगा। उनके पीछे अधीर बननेसे कुछ लाभ न मिलेगा। सब स्थितियोंमें अपनेमें धीरता रखें। धीरता कब रखी जाती है जब यह ज्ञाता दृष्टा बने। जाननहार बने तब धीरता प्रकट होती है और उसके साथ उसे शान्ति प्राप्त होती है। यह बल मिलता है सम्यक्त्वके प्रतापसे।

(३६) **सम्यक्त्वकी श्रेयस्करता**—सम्यक्त्वके समान जगतमें श्रेयस्कर कुछ नहीं है और मिथ्यात्वके समान जगतमें अश्रेयस्कर कुछ नहीं है। अब तक इस संसारमें भ्रमते आये इसका कारण है मिथ्यात्वका प्रताप। यह जीव न जाने किस किस परभावमें अपने आत्मस्वभावका विश्वास बनाये रहता है। मैं मनुष्य हूं, अमुक जाति कुलका हूं, मैं यह धर्म करने वाला हूं, मैं व्रत करता हूं, उपवास करता हूँ, इस आशयमें मिथ्यात्व पड़ा हुआ है। अरे व्रत पालन करते हुए भी ज्ञानीके यह विश्वास रहता है कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूं। पर उस चैतन्यस्वरूप मात्रको पानेके लिए जो कदम बढ़ाई जाती है वहां यह सब सहज बात हो रही है। तो जिसने अपने आपके सहजस्वरूपका निर्णय बनाया उसमें धीरता प्रकट होती है। देखो एक आदत बनायें कि सबको क्षमा करनेका भाव रखें। जिन अपराधोंसे, जिन बातोंसे हमारा कुछ नहीं बिगड़ता ऐसे ही कुछ बातोंको लेकर क्रोध उत्पन्न करना। अरे कोई उपकार सधे तो क्रोध करले, वहां भी ज्ञानी जीव समझता है सब कुछ कि यह करना पड़ रहा है, पर मेरा स्वभाव करनेका नहीं। जिसकी दृष्टि इतनी विशुद्ध है कि मैं तो कृतकृत्य हूं, मेरे करनेके लिए कुछ नहीं पड़ा। मैं किसी परमें कुछ कर सकता ही नहीं हूं। 'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम' ? मैं हूं और अपनेमें अपना काम करता चला जा रहा हूं। मैं कभी किसी दूसरेका काम नहीं करता। वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है कि परपदार्थसे किसी अन्य पदार्थ

को कुछ मिल सके। तो जब मैं परमें बाहर कुछ कर नहीं सकता तो उस करनेका विकल्प ही छोड़ दूं। यह है अन्तरात्माकी स्थिति। बस कहते हैं ना कि जो एक ही काम देख ले वह तो विजयी बनता है और एकको छोड़ दूसरोंको ही लेनेके लिए प्रयास लगाये तो वह भटकता ही है। देखो एक अज्ञान मिटा कि सारी बात दूर हो जाती है। अज्ञान रहा तो सब पाप उसके सिर मंडराते हैं। अज्ञान बहुत बड़ा महापाप है। जैसे कहते हैं ना कि महापाप न करो, तो पाप न करो इसमें सबसे बड़ी शिक्षा यह लेनी है कि अज्ञान न रहे, वस्तुका यथार्थ बोध रहो। प्रत्येक पदार्थ केवल अपने स्वरूपमय है। वह है स्वयं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वाला अपने आपमें अपना परिणमन कर रहा है। तो किसी अन्य दृष्टिसे कर्ता कर्मभाव नहीं है. हाँ अशुद्ध विकार स्थितिमें आश्रयभूत कारण तो होता है मगर परिणमता है यह खुद ही। जैसे नाचने वाला नाचता है और तबला बजाने वाला तबला बजता है। वहाँ अगर तबला वाला न बजाय तो नाचने वाला नाच नहीं पाता। नाचने वाला अपनी परिणतिसे नाचता, नाचता तबलेकी ठुमकसे। तो ऐसे हो कितने ही निमित्त हों और कार्य बनता है, मगर जो कार्य बना है वह केवल उपादानके परिणमनसे बना। यहाँ स्वतंत्रता देखो, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपनेमें अपना परिणमन करता हुआ चला जा रहा है। एक दृष्टिसे निरखा जाय तो वहाँ फिर आकुलता नहीं रहती। मैं हूं, ज्ञानमय हूं। जानन हो मेरा वैभव है, अन्य पुद्गल मेरा वैभव नहीं है। ऐसा जिसके ध्यानमें जग रहा हो उसको फिर आकुलताका क्या काम है? स्वभावदर्शन सर्व पापोंका ध्वंस कर देने वाला है। तो बहुत बहुत अपने मनमें विचार करें कि मैं क्या हूं। स्वभाव परिचय बन जायगा। मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं भीतरमें बात समा जाय उसकी बात कह रहे हैं। तो ऐसे चेतनामात्र निज तत्त्वको मानें कि मैं यह हूं, बस इसके निर्णयपर ही हमारा सच्चा कदम उठता है।

—o—

(५)

(३७) नयोंके स्वरूपका पुनः अवधारण—कल बताया गया था कि परम शुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगसे स्वभावका दर्शन प्राप्त होता है। पुनः थोड़ा अवधारण करें। परम शुद्ध निश्चयनय देखता है अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव को तो उसमें तो सीधा ही अर्थ निकला कि परमशुद्ध निश्चयनयसे स्वभावका दर्शन सुगम है। देखो अब भी थोड़ी सी कमी है। जिस समयमें परमशुद्ध निश्चयनयका उपयोग है उस

कालमें स्वभावका दर्शन नहीं मगर बहुत निकटका है यह नय। स्वभावदर्शन होता है निर्विकल्प स्थितिमें और जब तक कोई सा भी नयका प्रयोग चल रहा हो तब तक अनुभूति नहीं है इस कारण अनुभवको नयातीत कहते हैं। प्रमाण, नय, निक्षेपसे अतीत कहते हैं। इससे यह जानें कि स्वानुभवके लिए तो व्यवहारनय हेय है, अशुद्ध निश्चयनय हेय, शुद्धनिश्चयनय हेय है, फिर परमशुद्ध निश्चयनय भी हेय है, क्योंकि नय सब विकल्परूप होते हैं। अब उपयोगिता जाने। सबकी अपनी अपनी जगह उपयोगिता है। परमशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगसे तो सत्वर शाश्वत स्वरूप जाना और, शुद्धनिश्चयनयके प्रयोगसे एक ही द्रव्यमें शुद्धपरिणतिको जाना गया, जैसे भगवानमें, प्रभुमें, केवलज्ञान है। केवलज्ञान प्रभुसे उत्पन्न हुआ, प्रभुका परिणमन हुआ, प्रभुके द्वारा हुआ, इस तरह एकत्वके परिचयकी पद्धतिसे अभिन्न षट्कारक लेते हुए जो वहाँ निर्णय बना शुद्धपर्यायके बारेमें वह है शुद्ध निश्चयनय। इससे स्वभावदर्शन कैसे होता है? तो इस नयकी दृष्टिमें अन्य कोई द्रव्य तो रहा नहीं, क्योंकि निश्चयदृष्टि है। एक ही तत्त्व दिख रहा है, तो अन्य द्रव्य निमित्तदृष्टि न होनेसे इनके अध्यवसान भाव व्यक्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ अध्यवसानके लिये कोई नोकर्म नहीं है, कुछ भी इसके आश्रयमें नहीं। जब प्रभु भगवान की एक निश्चयकी पद्धतिसे भक्ति की जा रही है तो वहाँ जो भाव बन रहा है उस भावको हम संसारका हेतुभूत भाव न कहेंगे, वह प्रभुकी भक्ति है। वहाँ एक शुद्ध दशाकी निरख हैं। और उस निरखमें बात बन रही है गुणानुरागकी, स्वभावानुरागकी। स्वभाव दर्शनके लिए एक बहुत सुगम पद्धति है कि शुद्धपर्याय देखिये और देखिये स्वभाव पर्याय। स्वभावके अनुरूप भाव है सो वह स्वभावमें मग्न हो गयी तो स्वभावपर्याय इस स्वभावमें मग्न हो गया। किस तरहसे हम शुद्धनिश्चयनयकी शुद्ध पर्यायको निरखकर अपने स्वभावमें आते? प्रभुकी शुद्धपर्याय प्रभुके स्वभावमें गर्भित करके। प्रभुका स्वभाव मेरे स्वभावमें गर्भित कैसे होगा? यह उपयोग कर देता है तो इसके मायने यह नहीं कि वह स्वभाव उसमें आ गया। देखो जब उपयोग एक शुद्धपर्यायको देख रहा है तो शुद्धपर्याय और स्वभावका मेल होना स्वभावके अनुरूप होता है तो उस अनुरूप पर्यायको निरखकर यह जीव पर्यायको भूलकर स्वभावका दर्शन करता है और चूँकि स्वभावमें व्यक्ति नहीं सो स्वभावका जब सही परिचय हो रहा है तो वहाँ प्रभु व्यक्ति नजर न आकर सहजसिद्ध प्रभुका स्वभाव दृष्टिमें रहता है। जहाँ स्वभाव दृष्टिमें है वहाँ कार्य प्रभु अब नहीं रहा उपयोगमें। क्या रहा? स्वभाव। तो उपयोग कहाँ रहा? निराधार तो रहता नहीं। स्वभाव तो कोई स्वतंत्र सत् है नहीं, तब वह अपने रूप पड़ता है। अपने आपके स्वभावमें ज्ञान जगता है और अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमें अगर संयत

प्रयोग हो, यह राग हुआ है, इस आत्मद्रव्यसे हुआ है। संयत प्रयोगके मायने यह है कि पर्याय को ही नहीं देखता है, किन्तु पर्यायके स्रोतको देखता है। वह पर्याय प्रकट कहाँसे हुई ? वह द्रव्य देखेगा। तो जहाँ वह द्रव्य देखे तो स्वभाव देखेगा। स्वभाव नजरमें आया तो अपनेमें आ जायगा। देखो परमशुद्ध निश्चयनयमें मोड़ नहीं, सीधा स्वभावको लक्ष्यमें लिया है। और शुद्ध निश्चयनयमें कितनी मोड़ है ? दो मोड़ हैं। शुद्धनिश्चयनयसे देखें—शुद्धपर्याय भी हो मग्नस्वभावमें और स्वभाव आयगा अपनेमे, उनका स्वभाव नहीं आया। खूब ध्यानमें रखा परन्तु स्वभाव वह और यह कोई व्यक्तिका आधार नहीं तकता, इस तरहसे इसमें दो मोड़में अपने आपपर आया और अशुद्ध निश्चयनयसे तीन मोड़में अपने में आया। अशुद्ध निश्चय-नयने अशुद्ध पर्याय देखा। अशुद्ध पर्यायके स्रोतको देखा और श्रोतसे वहाँ स्वभावपर आये और स्वभावसे निजस्वभावपर आये। इस तरह आये।

(३८) प्रमाणांशरूप व्यवहारके सत् प्रयोगसे स्वभावके दर्शनकी उमंग—अब आज के निबंधमें व्यवहारकी बात चल रही है। व्यवहारनयके प्रयोगसे किस तरह स्वभावदर्शनमें आ सकते हैं। देखो अनेक बार बता चुके कि व्यवहारका प्रयोग उपचारमें भी होता है और व्यवहारमें भी होता है। वहाँ यह विवेक करना होता कि उपचार वाला व्यवहार तो मिथ्या है और प्रमाणके अंशरूप व्यवहार सत्य है। प्रमाणांशरूप व्यवहारकी चर्चा कर रहे है, उपचार रूप व्यवहारकी बात यहाँ नहीं कह रहे। व्यवहारनयका प्रयोग कैसे बने कि हमको स्वभाव का दर्शन प्राप्त हो ? तो अब देखिये—व्यवहारनयसे क्या दीखा ? अपनेमें होने वाली दशा। मेरेमें रागद्वेष कषाय बिकार होता है तो वह किस प्रकार होता है ? ये रागादिक विकार नैमि-त्तिक भाव हैं। कर्मविपाकका सन्निधान पाकर यह आत्मामें विकार जगा है। व्यवहारनय यह ही तो बताता है। देखो व्यवहारनय एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं कहता, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका भोक्ता नहीं कहता, एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका स्वामी नहीं बताता। आप समझ लो व्यवहारनयमें कितनी समीचीनता है ? आप कहेंगे कि कहीं कहीं कथन तो आया है कि व्यवहारनयसे जीव कर्मका कर्ता है, व्यवहारनयसे कुम्हार घटका कर्ता है तो वह व्यवहार उपचार वाला व्यवहार है, और प्रमाणका अंश वाला व्यवहार एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं कहता। वह समीचीन है, सत्य है। तो क्या बताता है व्यवहारनय ? एक घटना बताता है ? कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीवमें विकार परिणमन होता है। यह बात असत्य तो नहीं। व्यवहारनयका विषय असत्य नहीं, केवल उपचाररूप व्यवहार असत्य है। तो हम इस प्रमाणके अंशरूप व्यवहारसे किस प्रकार स्वभावदर्शनमें पहुंचते हैं, यह बात यहाँ निरखना है। तो देखो यहाँके कर्मविपाकका सन्निधान पाकर यह ही अज्ञानदशाके कारणसे मुझमें यह

विकारदशा प्रकट हुई है । यह है व्यवहारनयके परखनेकी मुद्रा । जब वहाँ यह बोध होता है कि विकारभाव औपाधिक हैं, परभाव हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, स्वभाव तो मेरा वह होगा जो मेरेमें सहज भाव है । मेरा सहज भाव है मेरा चैतन्यस्वरूप, सहज ज्ञानानन्द भाव वह मेरा स्वरूप है । देखो जैसे आता है ना कि आये थे हरि भजनको ओटन लगे कपास । इस मनुष्य-भवमें आये तो थे संसारका बंधन काटनेके लिए, मगर घरमें देखो तो वहाँ, समाजमें देखो तो वहाँ, सब जगह ये विषय और कषायकी बाधायें हम आपके साथ लगी हैं । अब तो अपनेमें कुछ विवेक जगना चाहिए । कषायें मंद करें, हटायें, अपने आपमें अपनी दृष्टि जगनी चाहिए । तो जब यह जाना व्यवहारनयसे कि ये रागादिक विकार परभाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं, तो इनसे लगाव लगाना ठीक नहीं । लोकमें भी तो ऐसा करते हैं कि जिनको जानते कि ये गैर हैं उनसे लगाव नहीं लगाते और जिनको जाना कि ये मेरे हैं उनसे लगाव लगाते । तो इसी पद्धतिसे थोड़ा और आगे बढ़ें । अब जरा और अपने अन्दर देखिये बाहरसे दिखने वाला यह देह गैर है, मैं आत्मा एक भिन्न पदार्थ हूं, यह देह अचेतन है, मैं आत्मा चेतन हूं । मैं इस शरीरसे लगाव न लगाऊँगा । मैं स्व चेतन हूं । मैं कर्मसे लगाव न लगाऊँगा । ये कषायें गैर हैं, मैं आत्मा इनसे भिन्न हूं, मैं इन कषायोंसे लगाव न लगाऊँगा । यह प्रेरणा मिली व्यवहारनयसे । तब इसका फल क्या होगा ? जब परभावोंसे उपेक्षा हो गई तो अब बतलावो हमारी पूर्व वासनाके कारण ये विकार आयें भी तो सबल होकर आयेंगे कि बलहीन होते जायेंगे ? बलहीन होते जायेंगे शुष्क होते जायेंगे । जैसे किसी पेड़की जड़ काट दी जाय, पेड़ गिर जाय तो वह हरा भरा रहेगा या सूखता जायगा ? वह तो सूखता जायगा, बलहीन हो जायगा । इसी प्रकार जब परभाव समझकर इस उपयोगका लगाव छोड़ दिया तो अब भले ही पूर्व संस्कारसे ये विकार आये तो भी ये बलहीन शुष्क हो जाते हैं । देखो व्यवहारनयसे परिचय किए जानेकी उपयोगिता, तब ये विभाव बलहीन होकर, निराधार होकर बाहर हो जाते हैं । मानो अलंकारमें इस विकारने सोचा कि जिसका हम सहारा अनादिकालसे किए जा रहे थे अब ये साहब ही मुझसे बिगड़ गए हैं, अब उसका क्या सहारा है ? सो निराधार होकर खिर जाते हैं । अब देखो जब हमारे उपयोगसे विकार भाव तो निकल गया, क्योंकि उसमें उपेक्षा की तो अब रह क्या गया उपयोगमें ? मेरा यह चैतन्य स्वभाव । चित्स्वरूप रह गया । देखो आये ना स्वभावदर्शनपर, तो व्यवहारनयके संयत प्रयोगमें हम किस प्रकार शुद्ध स्वरूप की ओर आते हैं उसको देखते जाइये । यों व्यवहारनयसे जिसने इस विकारका परिचय किया वह पुरुष इन विकारोंसे हटकर अपने स्वभावमें आता है ।

(३६) प्रयुक्त व अनुभूत व्यवहारोंकी उपयोगिताका स्मरण—देखो धर्मके लिए

पुरुषार्थ करना है क्या ? स्वभावका दर्शन करना, स्वभावदृष्टि होना । मैं कहाँ उपयोग लूँ । किसका सहारा लें कि मेरा भला हो ? अरे अपनेमें अपना जो सहज स्वभावरूप परमात्मतत्त्व है उसका सहारा लें । यह उपयोग इसका सहारा ले । यह ही धर्मके लिए पौरुष है । देखो जैसे कहते ना, तब किसके गीत गावें ? जिसका विवाह हो । नयोंमें भी यह ही बात है । सारी बात एक समयमें एक बारमें कही जा सकती है । इस समय व्यवहारनयकी बात कह रहे और वह भी प्रमाणके अंशरूप व्यवहारकी बात । तो वहाँ आप निरखिये कि यह व्यवहार कितना उपकारी है जो व्यवहार मेरेको इतना पात्र बना देता है । हम आप सब लोग बच्चे थे, माँ के साथ दर्शनको आते थे, चाहे भगवानकी ओर पीठ करके ही वंदना करते थे, करते ही हैं बच्चे लोग ऐसा पर धीरे धीरे कुछ ज्ञान जगता है, कुछ भक्ति और प्रभुसे प्रीति जगती है । कुछ बड़े हुए, सत्संगमें रहे, ऋषि मुनि त्यागी ब्रह्मचारी पुरुषोंका मिलन होता रहा । कुछ भाव बनते रहे, एक उस धर्ममार्गमें रहे, ज्ञान पाया, सीखा और और ज्ञान बढ़ाया, दार्शनिक बोध बढ़ा, आज बहुत विशेष जान गए, शुद्धनयका विषय जान गए, तो देखो हमको किसका सहारा मिला जो हम शुद्धनयके विषय तक आये ? यह व्यवहारनय कितना उपयोगी तत्त्व है और फिर जितना भी वर्णन है वह व्यवहारनयसे वर्णन होता है । सब आगम व्यवहारनयका वर्णन है । कुछ भी प्रतिपादन करें, तो व्यवहार व्यवहार शब्द सुनकर एक जगह उपचाररूप व्यवहार असत्य दीखा तो सारे व्यवहारोंको असत्य कहना यह क्या नन्हें मुखसे बड़ी बात करना नहीं है ? तो यहां तक क्या बात बताया । परमशुद्ध निश्चयनय स्वभावदर्शनके लिए उपयोगी है । शुद्ध निश्चयनयसे भी स्वभाव दर्शनका मार्ग मिलता है, अशुद्ध निश्चयनयसे भी स्वभावदर्शनका मार्ग मिलता है और व्यवहारनयके प्रयोग से भी स्वभावदर्शनका मार्ग मिलता है । देखो ना—एक ट्रेन जा रही और उसमें मानो चार डिब्बे लगे, इंजन प्रथम डिब्बेको लिए जा रहा । अरे तो आगे बहुत डिब्बे हैं । बादमें दूसरा है, फिर तीसरा है, फिर चौथा है, सब जा रहे ना एक दिशाकी ओर ? थोड़ा एक साक्षात् और परम्पराका अन्तर आता है । ऐसे ही विविधनय एक मार्गकी ओर प्रेरित करते हैं, बस साक्षात् व परंपराका अन्तर है । तो यहां प्रमाणके अंशरूप व्यवहारकी बात की जा रही है कि व्यवहारनयसे स्वभाव दर्शनका इस तरह मार्ग मिलता है । अब इसके बाद उपचारकी बात कही जायगी केवल । किसकी बात कही जायगी ? जिसको सब ओरसे गाली मिलें, मिथ्या झूठ, असत्य, बोलें, किन्तु बोले बिना काम न चले । अब घी का डिब्बा मांगना हो तो देखो भाई टीनसे निर्मित डिब्बेमें जिसमें घी का संयोग हो ऐसा डिब्बा लावो, ऐसा कोई बोलता है क्या ? सीधा बोल देता है । तो वहां जिस तरह बोला उस तरह माने तो मिथ्या

है, मगर उसका निष्कर्ष समझें तो वहां भी शिक्षा मिले। तो अब उपचारका इसके आगे वर्णन होगा।

— ० —

(६)

(४०) **उपचारका मिथ्यापन**—अब तक यहां बताया गया कि परम शुद्ध निश्चयनय से हम किस तरह स्वभावदर्शनमें आते। शुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमें किस तरह स्वभावदर्शन में आते? अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगमें किस प्रकार स्वभाव दर्शनमें आते? और व्यवहार नयके प्रयोगमें किस प्रकार स्वभावदर्शनमें आते? इन चारका वर्णन करनेके बाद आज उपचारका वर्णन किया जा रहा है। उपचारका अर्थ है उप मायने समीप, जो है खास वहां तो नहीं, किन्तु उसके पासमें चार याने चलना फिरना इसका नाम है उपचार। देखो लौकिक बातोंमें और अलौकिक बातोंमें कितना अन्तर है। अगर दो सरकारोंमें कोई बातचीत चल रही है और लिखा पढ़ी सहित पक्की चल रही है तो उसे कहेंगे कि औपचारिक वार्ता चल रही है। अपनी लौकिक बातोंमें तो उपचारका बड़ा महत्त्व दिया। अब दोनों सरकारोंमें औपचारिकरूपसे बात चल रही है, मायने बड़ी प्रमाणीक और लिखा पढ़ी सहित बात चल रही है, लेकिन मुक्तिके सिद्धान्तमें धर्ममार्गमें औपचारिक रूपका महत्त्व नहीं है किन्तु अनुपचारका महत्व है। तो उपचार भाषामें जब कुछ वर्णन होता है उस ही भाषामें उस ही शब्द को एक सही माना जाय तो वह मिथ्या है। यह बात अनेक दृष्टान्तोंसे जान सकते हैं। जैसे घी का घड़ा। भला घी का घड़ा बनता है क्या? फिर भी घी का घड़ा कहते। तो यह उपचार भाषामें कहते हैं।

(४१) **उपचार वर्णनमें गुप्त तथ्यका अन्वेषण**—उपचारके बारेमें एक बातका उत्तर मनमें सोचिए, उसे घी का ही घड़ा क्यों कहते? गेहूंका घड़ा कह देते, चनेका घड़ा कह देते। सभी लोग घी का घड़ा कहते, और कुछ अटपट क्यों नहीं कहते? जब इस आरेकामें उतरेंगे तो वहां भी कोई तथ्य मालूम होगा कि उसमें घी का सम्बंध है, उसमें घी भरा है, इसलिए वह घी का घड़ा कहलाता है। तो जब तथ्यपर दृष्टि चलेगी तो उपचार भाषामें भी कुछ मिलेगा, पर तथ्यपर दृष्टि न डालकर केवल शब्दों पर ही दृष्टि रखेंगे तो उसमें विडम्बना बढ़ती है। जैसे एक सेठके यहां उसकी लड़कीका विवाह हो रहा था और उसके घर एक बिल्ली पली हुई थी सो वह बिल्ली बार बार यहां वहां आये। सेठने उसे असगुन समझकर एक टिपारेमें बन्द करवा दिया और आरामसे

विवाहका काम हो गया। कुछ समय बाद वह बिल्ली भी गुजर गई और सेठ भी गुजर गया। सेठके लड़के की लड़की का विवाह जब हो रहा था तो वहाँ सारे नेगचार रीति रिवाज हो गए, भांवर पड़नेका समय था, सो एक भाई झट बोल उठा—अरे ठहरो ठहरो, अभी एक दस्तूर तो रहा ही जाता है, क्या कि एक बिल्लीको टिपारेके अन्दर बन्द करो। आखिर ५-६ घंटे बिल्ली पकड़कर लानेमें लगे, भांवर पड़नेका मुहूर्त भी खत्म हो गया। जब बिल्ली आयी, टिपारेमें बन्द किया तब कहीं भांवर पड़ी। तो बात क्या हुई? अरे बिल्लीको टिपारे में बन्द करना यह कोई दस्तूरका काम था या परिस्थितिका काम था? अरे वह बिल्ली यहाँ वहाँ भागती थी, असगुन होता था तो उस असगुनको मिटानेके लिए टिपारेमें बंद किया, और यहाँ क्या मान बैठे कि दस्तूर है। अब ऐसा किए बिना कैसे शादी हो जायगी? सारे दस्तूर होने चाहिए ना? तो ऐसी ही उपचार भाषाकी बात है। उपचार भाषामें जैसा बोला जाता है वैसे ही शब्दोंमें मान लें तो विडम्बना है, मिथ्या है, पर उपचारमें भी कोई तथ्य छिपा हुआ है, नहीं तो वही शब्द क्यों बोला जाता? और कुछ भी तो अटपट शब्द बोलें जा सकते। तो आप तथ्य भी उसमें समझ लें, अगर तथ्य बिना उपचार है तो उसका नाम भी न लेना चाहिए। उपचार मिथ्या है तो भी उसमें कोई तथ्य जरूर है। उस तथ्यको परखिये तो उसकी दृष्टिसे यह उपचार भी प्रयोजनवान है, और व्यवहारमें उपचारका लोग बहुत सहारा लेते हैं। बोलते हैं ना— हमारा मकान, हमारी टोपी, हमारी कमीज, अब सोचो तो सही कि तुम्हारी टोपी, कमीज आदि कैसे बन गई? तुम तो यहाँ ही धम्मा धम्म बैठे हो, तुमको कपड़ेकी तरह काटा नहीं, सिलाया नहीं, तुम कैसे उसे अपनी बताते? अरे वह तो एक उपचार कथन है। इस उपचार बिना लोकव्यवहार नहीं चलता, मगर मिथ्यापन कैसे आया? जिस ढंगमें बोला उसी ढंगमें समझा तो मिथ्यापन है।

(४२) **उपचारको सत्य माननेसे बिगाड़का दिग्दर्शन**—अब जिस ढंगसे कहा, जिस शब्दसे कहा, उपचार भाषाको बात उस ही शब्दसे माननेमें क्या बिगाड़ है? इस पर विचार करें। मिथ्या तो तब कहलाये जब कि स्वभावदर्शनका मौका न मिले। सम्यक् और मिथ्याकी यह परिभाषा बना लें—जिस ज्ञानसे स्वभावदर्शनमें बाधा आयी वह तो है मिथ्या और जिस ज्ञानसे स्वभावदर्शनमें मदद मिले वह है समीचीन। कारण क्या कि जीव का लक्ष्य है स्वभावदर्शन। ये लड़ें मरें, छिदें भिदें कुछ हों। मेरेको यदि स्वभावका दर्शन है, स्वभावका है तो मेरा भला है। जैसे अहानेमें कहते ना—लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा। जगतके पदार्थ कुछ भी हों, छिदें भिदें, लुटें पिटें, कुछ भी हो, उसमें मेरा क्या कर्तव्य? ज्ञाता द्रष्टा रहना ही श्रेयस्कर है। और करें क्या? अपने भीतरमें अपना कलेवा करें।

स्वभावदर्शन करें, अपनेमें ही तृप्त हों, अपनेमें ही रम जावें। यह ही एक बात है। तो जब उपचार भाषामें जैसे बोला–पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया तो यह कौन सी भाषा है ? उपचार भाषा है। पुद्गल कर्म है अलग द्रव्य और जीव है अलग द्रव्य। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ कर सकता नहीं, पर बोल रहे हैं पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया। कोई ऐसा ही समझ लें, अरे मेरेको तो ये कर्म ही रागी बनाते तो उसकी बातमें और ईश्वर कर्तृत्वकी बात में कुछ अन्तर न रहा। कोई कहते हैं कि एक ईश्वर ही जीवको बनाता है, सुखी बनाये, दुःखी बनाये, और कह दे कि कर्म सुखी बनाते, दुःखी बनाते, रागी बनाते तो ऐसी समझमें ऐसा भाव जगता है कि मैं तो विवश हूं, मैं कुछ कर सकने लायक ही नहीं हूं, कर्म ही राजा हैं, चाहे सुखी बनायें, दुःखी बनायें, सब कुछ कर्म ही करते हैं तो विवश हो गए। अब इसको स्वभावदर्शनका अवसर न रहा इसलिए मिथ्या है। उपचार और उसके तथ्यको अगर समझें, क्यों कहा ऐसा कि पुद्गल कर्मने जीवको रागी बनाया, ऐसा नहीं है, पर बात क्या है कि पुद्गल कर्मका उदय तो निमित्त है और जीवने उस समय अपने उपयोग माध्यमसे अपनेमें विकार बना लिया, ऐसा सम्बंध है, निमित्त नैमित्तिक योगने एक उपचार भाषामें कर्ता कर्मके रूपमें पेश कर दिया, लो मिथ्या हो गया। अब समझ गए सब। कोई कहे कि मेरा लड़का, तो बतलाओ यह उपचार है कि सत्य ? उपचार है। मुखसे तो लोग जल्दी बोल देंगे कि उपचार है पर जरा भीतरसे बोलो—मेरा लड़का है, यह उपचार है कि सत्य है ? भीतर तो सोच रहे हो कुछ, मुखसे बोलोगे उपचार। यह ही श्रद्धा जिस दिन बन जाय कि यह सब उपचार है, ये सब लौकिक बातें हैं, ये सब केवल रूढ़िमात्र हैं, यह ममताका प्रदर्शन है, वास्तव में मेरा कुछ नहीं। देखो हम तुम्हारा लड़का नहीं छुटवा रहे, लड़का वही रहेगा, तुम वही रहोगे, घरमें रहोगे, मगर श्रद्धामें सही बात आ जाय कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही ज्ञान मेरा स्वरूप है, इसके सिवाय अन्य कुछ नही है तो बड़ीसे बड़ी बाधायें आती हों वे भी सब शान्त हो जाती हैं। मेरेको क्या करना ? क्या लेना देना ? अपने कर्तव्यसे प्रयोजन है, अपनी क्रिया करना। तो उपचार भाषामें जैसा बोला जाता वैसा ही समझे तो उसमें विडम्बना आती है। पुद्गलकर्मने जीवको रागी बनाया, ऐसा उपचारमें बोलने पर कोई यह बात सत्य समझ ले तो वह कायर बन जायगा, विवश हो जायगा, अब मेरा वश क्या है ? तो स्वभाव दर्शनमें उसको अवसर न मिलेगा।

(४३) उपचारमें भी शब्दार्थ और तथ्यार्थकी विभिन्नता—जब सही बात समझी जा रही हो निमित्त नैमित्तिक योग और वस्तुस्वातंत्र्यकी कि यह पुद्गल कर्मका उदय निमित्त है और जीवने उस निमित्तका सन्निधान पाकर अपनेमें रागपरिणमन किया तो वहीं

यह बात विदित हो जायगी कि कर्म तो निमित्तमात्र हैं। वह अपनी शक्तिसे, अपनी परिणतिसे मुझे रागी नहीं बनाता। उस कालमें मैं ही स्वभावसे च्युत होकर रागी बनता हूं। देखो यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव है, यह होना पड़ता है। रागी हुआ, यही बात यदि सत्य समझमें आये कि कर्म मेरी परिणतिको नहीं करता, मैं कर्मकी परिणतिको नहीं करता तो यह सत्य समझमें आने पर यह बल प्रकट हो जायगा कि व्यक्त विकार तो किसी आश्रय भूत पदार्थका आश्रय करके होता है। आश्रय नहीं करें तो व्यक्त विकार न होगा। विकार बननेकी गैलमें क्यों चले ? जिस गैलमें चलनेसे बड़े कांटे लगते हैं और पास ही में दूसरी विधि गैल लगी तो फिर कांटे वाली गलीसे क्यों चलते ? वह ज्ञानी पुरुष जान जाता है कि इसमें तथ्य यह है। अब उपचार भाषा असत्य है यह बात तो खूब समझते ? उसके लिए अनेक दृष्टान्त रोज रोज सिर पर मंडराते रहते हैं, अलगसे क्या दृष्टान्त दें ? पर एक बात वहां ध्यानमें लावें कि सभी लोग इसी तरह क्यों बोलते ? अगर बिल्कुल मिथ्या हो, बिल्कुल अटपट हो तो सभी लोग एक समान क्यों बोलते ? आगने रोटी सेंकी, आगने खिचड़ी पका दी, तो कभी यों क्यों नहीं बोलते कि धूलने खिचड़ी पका दी ? तो अटपट सम्बन्ध क्यों नहीं लग पड़ता ? ऐसा कोई समझना चाहे तो विदित होगा कि उपचार भाषामें कुछ तो प्रयोजन है, कोई बात है, कोई तथ्य है उसके अन्दर तभी तो लोग उसी प्रकार बोलते। देखो जो निष्पक्ष हो, दार्शनिक हो, ज्ञानप्रेमी हो उसको अगर शत्रुमें गुण दिख जाये तो उसे उस शत्रु को भी अच्छा कहना चाहिए और अगर किसी मित्रमें दोष दीखें तो दोष भी कहना चाहिए। उपचार भाषा असत्य है किस अपेक्षासे कि जिन शब्दोंसे वर्णन किया उन्हीं शब्दोंमें माना जाय तो असत्य है, मिथ्या है। अगर उसमें क्या तथ्य पड़ा है, जिस कारण सभी लोग एक ही प्रकारकी उपचार भाषामें बोलते हैं ? इसे भी समझना हो तो खोज करें, उसमें तथ्य मिलेगा कि यह कारण है। मगर तथ्यकी ओरसे भी आंखें मींचकर एकान्त करने लगें तो अनर्थ होगा। क्या अनर्थ होगा ? जैसे कहते ना कि ये चलते फिरते कीड़े जीव हैं। कोई कहे कि वह तो शरीर हैं, जोव कहां है, सो भैया यद्यपि यह भी बात सही है, ऐसा जब आत्मस्वभावकी दृष्टिमें लगें और उसका प्रोग्राम हो तो यह बात सही है मगर जब हम चलते हैं, फिरते हैं, व्यवहार करते हैं और उस प्रसंगमें परमार्थकी ही हठ बनायें कि यह ही जीव है तब तो किसी भी प्राणी की हिंसा भी कर ले तो पापका बंध क्यों हो ? पशुकी हिंसा करने में दोष क्यों हो ? और फिर कसाईखानोंका विरोध क्यों किया जा रहा ? जो कह रहे वे सब अजीव कट रहे बकरी, भेड़, गाय आदिक, क्योंकि परमार्थसे जीव तो चैतन्यस्वरूप है। ऐसी हठ अगर करोगे तो कसाईखाने भी धर्म बन जायेंगे, क्योंकि नवनिर्मित (सोनगढ़ी)

शासनका प्रयोग हो रहा है। उनको प्रोत्साहन मिलेगा। जैनसिद्धान्तमें आत्मस्वरूप तो बताया, पर व्यवहारको एकदम असत्य जैसे नही बोला ऐसे ही उपचारमें भी कोई तथ्य ढूंढ़कर निकालें तो वह निकल आयगा। तो उपचारमें जिन शब्दोंमें बोला जाता है उन ही शब्दोंमें सही समझें तो वह मिथ्या है, मिथ्यात्व है। उपचारका जो प्रयोजन है, तथ्य है वह समझे बिना उपचारमें जिन शब्दोको बताया है उन शब्दोंमें ही वह तथ्य समझाना सो मिथ्या है।

(४४) प्रयोजनसापेक्षता नहीं होनेसे शब्दोंके अर्थकी समीचीनताका अभाव—देखो भैया! शब्द क्या समझायेंगे? प्रयोजन न मालूम हो तो शब्दकी क्या कीमत? एक बार सहारनपुरमें हिन्दू मुस्लिम दंगा था और एक बच्चेके पास एक खोटी चवन्नी थी जो चलती न थी, जहाँ कोई चीज लेने जाय वहाँ कोई उस चवन्नीको न ले, तो वह बच्चा बड़ा परेशान हुआ। एक बार उसने किसी हलवाईसे दो आनेकी मिठाई खरीदी तो उसने वह चवन्नो ले लिया और दो आने फेर दिया, वह बच्चा बड़ा खुश हुआ और मारे खुशीके उछलता हुआ भगा और यह कहता जाय कि चल गई, चल गई, चल गई। उसका मतलब तो था कि चवन्नी चल गई, पर लोगोंने समझा कि हिन्दू मुस्लिम लड़ाई चल गयी तो सभी लोग दुकानोंमें ताले लगा-लगाकर अपने-अपने घरोंमें घुस गए। अब कुछ देर बाद यह खोज की गई कि बात क्या हुई? तो वहाँ पता पड़ा कि किसी बच्चेकी चवन्नी चल गई। तो जब तथ्य ही नहीं मालूम किसी चीजका तो उन शब्दोंमें विडम्बना भरी हुई है। तो उपचारमें यों ही विडम्बनायें हैं। तो तथ्यका परिचय न हो तो वह विडम्बना है। तो उपचार भाषामें जिन शब्दोंमें कुछ बात रखी जाती है उन्हीं शब्दोंमें सही समझना सो मिथ्यावाद है। इस प्रकार प्रकरणमें यह वर्णन किया कि वस्तुके जाननेके उपाय तो प्रमाण और नय हैं, और प्रमाण तो ठीक ही है। नयोंमें चार प्रकार हैं—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय अब जो बचा एक उपचार जिसको सभी लोग बोलते हैं वह उन्हीं शब्दोंमें माने तो वह मिथ्या है। जब आपसे पूछते हैं कि आपका कौनसा गाँव है? तो आप बोलते हैं—भिन्ड। सच बात है क्या? याने आप भिन्डके पूरे मालिक हो गए, क्या आपका भिन्ड हो गया? अरे यहाँपर ही कह देते कि हमारा तो घर है, पर कहते हैं कि हमारा तो भिन्ड है। एक बार ऐसा ही हुआ। एक कोडरमा स्टेशन है, वहाँ किसी एक बड़ी जगहपर दो भाईयोंकी लड़ाई थी। एक कहे कि यह जगह हमारी है दूसरा कहे कि हमारी है। उसका न्याय गया अदालतमें। वहांसे आया एक साहब तो साहबने एक भाईसे पूछा यह जमीन किसकी है? तो वह बोला— साहब यह जमीन तो आपकी ही है। साहब

बोला लिखो बयान– यह जमीन साहबकी है। दूसरे भाईको बुलाकर पूछा—यह जमीन किसकी है ? तो उसने भी कहा—हुजूर यह जमीन तो आपकी ही है, साहबने कहा इसका भी बयान लिखो कि यह जमीन साहबकी है। बस बयानोंपर दस्तखत ले लिये, लो उस जमीनको साहबने ले लिया। होता है ना ऐसा कि लोग ऐसा कहने लगते हैं कि यह चीज तो आपकी है, कभी कभी लोग कह बैठते ना– महाराज यह बच्चा तो आपका है। भला बताओ वह बच्चा महाराज का है क्या ? पर उपचारमें इस तरहसे लोग बोल देते हैं। इस तरहसे कहीं आप लोग अपने मकानको यह न कह देना कि महाराज यह तो आपका है नहीं तो बड़े टोटेमें पड़ जावोगे (हँसी)। तो उपचार भाषामें जो शब्द बोले गए उन्हीं शब्दोंसे वही बात समझना सो मिथ्या है। तो नय सब सत्य हैं, पर उपचार मिथ्या है। उपचार नय नहीं कहलाता। उपचार नयसे बहिर्भूत है। वह एक लोकरूढ़ि है। जैसे लोकमें बोल देते– मेरा गांव, तो यों उपचारको अलग कर लीजिए और बाकी चार नयोंसे जो अध्यात्मशास्त्रमें उपयोगी हैं, उन नयोंसे वस्तुका परिचय कर लीजिए।

—o—

(७)

(४५) उपचारकी असत्यार्थता—यहां चर्चा चल रही है उपचारकी। चार-पांच बातें हैं ना– परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, व्यवहारनय और उपचार। परमशुद्धनिश्चयनय तो दिखाता है आत्माके सहज स्वरूपको, शुद्ध निश्चयनय बताता है आत्माकी शुद्ध पर्यायको, अशुद्ध निश्चयनय बताता है आत्माकी अशुद्ध पर्यायको और व्यवहारनय यह बताता है कि इसका निमित्त पाकर इस उपादानमें यह प्रभाव बन गया। जैसे कर्मके उदयका सन्निधान पाकर जीवने विकाररूप परिणमन कर लिया। अब रह गया उपचार, तो उपचार बतलाता है एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कर्तापन, भोक्तापन, स्वामीपन। तो यह उपचार मिथ्या है, क्योंकि प्रत्येकका स्वरूप स्वतंत्र है, प्रत्येक सत् स्वयंका उत्पादव्यय-ध्रौव्य लिए हुए है। अपने आपके ही अस्तित्वसे वह निरन्तर परिणमता रहता है। तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करता नहीं, फिर भी रूढ़िमें तो बोलते ही हैं। मैंने यह किया, उसने यों कर दिया। बोलते कि नहीं बोलते ? ऐसे ही कोई समझे कि हां मैंने कर दिया इसे तो वह मिथ्या है, क्योंकि कोई किसी दूसरेका कुछ कर सकता नहीं। तो उपचार एक वस्तुको दूसरी वस्तुका कर्ता बताता, भोक्ता बताता, स्वामी बताता, पर ऐसा ही कोई समझे

तो वह असत्य है। जैसे कहते हैं कि मैं इस मकानका मालिक हूं तो यह बात सच है कि झूठ ? झूठ है। वस्तुतः झूठ है, क्योंकि मकानका मालिक कौन ? वे ईंट, पत्थर, चूना, लोहा आदि जिनसे वह मकान निर्मित है उनका है वह मकान। आपका कैसे ? एक बार एक संन्यासी किसी नगरसे गुजर रहा था तो बीचमें उसे एक हवेली दिखी, जिसके द्वार पर एक पहरेदार खड़ा हुआ था। तो वहां संन्यासीने पहरेदारसे पूछा– ऐ पहरेदार यह किसकी धर्मशाला है ? तो पहरेदार बोला– महाराज यह धर्मशाला नहीं, आगे जावो वहां धर्मशाला मिलेगी।···अरे मैं यह नहीं पूछता, मैं तो पूछता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है ?···अरे महाराज बता तो दिया कि धर्मशाला आगे है, यह धर्मशाला नहीं। इतनेमें सेठने ऊपरसे सुन लिया और आकर बोला– महाराज यह धर्मशाला तो नहीं है, यह तो आपकी हवेली है, पर यदि आप ठहरना चाहें तो यहीं ठहर सकते हैं।····नहीं मुझे ठहरना नहीं है, मुझे तो बस जानकारी करनी थी।····तो महाराज यह तो हमारी हवेली है····अच्छा इसको किसने बनाया ?····हमारे दादाने।···वे इसमें कितने दिन रहे ?····अरे वह तो पूरा बनवा भी न पाये थे कि मर गए थे।····फिर किसने बनवाया था ?····हमारे पिताने।····वह इसमें कितने दिन रहे ?····सिर्फ दो वर्ष।····और आप इसमें कितने दिन रहेंगे ?····लो अब तो सेठकी आंखें खुल गईं और समझ लिया कि सचमुच यह धर्मशाला है। यह हमारी हवेली नहीं, स्थायी चीज नहीं। ऐसा ज्ञान बन गया, तो ऐसे ही समझो कि यहां जो कुछ मिला है वह स्थायी चीज नहीं है। हम आप भी यहांके कुछ नहीं हैं, आशक्ति न करें और धर्मकी ओर बुद्धि दें। तो उपचार बताता है एकको दूसरेका कर्ता भोक्ता और स्वामी, मगर एक वस्तु दूसरी वस्तुका न कभी कर्ता हुआ और न भोक्ता हुआ, इस कारण उपचार मिथ्या है।

(४६) उपचार और व्यवहारमें अन्तरका दिग्दर्शन—अब देखो दो बातें सामने रखे रहें– उपचार और व्यवहार। जहां दो बातें सामने रखीं कि उपचार और व्यवहार वहां यह अर्थ समझना कि उपचार तो कहलाता है मिथ्या, एकका दूसरेमें कुछ मिला देना और व्यवहार कहलाता है कि अमुकका निमित्त पाकर अमुकमें अमुक बात बन गई, बना वह उसका उसीमें जिसकी कि परिणतिसे वह उसमें स्वतंत्र है, मगर उसका निमित्त पाकर हुई। तो ऐसा दिखावा वह व्यवहारनय है। तो व्यवहार मिथ्या नहीं होता। उपचार मिथ्या होता है, लेकिन एक बात और समझना कि ग्रन्थोंमें अनेक जगह उपचारके प्रकरणमें व्यवहार नाम चलनेसे भी व्यवहार शब्दसे बोधन किया है। जैसे उपचार मिथ्या है यों कहना चाहिए ना तो उस उपचारको व्यवहार शब्द देकर कहा गया कि यह व्यवहार मिथ्या है। तो वहां विवेक करना पड़ेगा कि हां यह उपचार वाला व्यवहार है इसलिए सही लिखा है कि मिथ्या

है मगर कहीं व्यवहार मिथ्या है इतनी बात देखकर सारे व्यवहारको यों कहना कि मिथ्या है तो वह जैनशासनसे बाहरकी बात है। देखो जितने शास्त्र बने हैं वे सब शास्त्र व्यवहारनयसे बन सके हैं, निश्चयसे शास्त्र नहीं बनते। निश्चयनयकी बात तो व्यवहारनय ही बताता है। तो अगर व्यवहार मिथ्या है तो सब शास्त्र मिथ्या हो गए। फिर तो भगवान की मूर्तिकी भक्ति, रुचि करना वह भी मिथ्या हो गया। अरे प्रभु तो यहाँ हैं मूर्तिमें और ये तो पत्थरके बने हैं, उपचारसे कहते हैं कि यह भगवान हैं, और व्यवहार होता है मिथ्या, तो यह भी छोड़ो। याने कितने खतरे पड़े हैं व्यवहारको सर्वथा मिथ्या बखान देनेमें। अच्छा एक बात और सुनो—व्यवहार मिथ्या है, ऐसा एकान्त ब्रह्मवादमें और बौद्ध दर्शनमें है। जैनदर्शनमें यह एकान्त नहीं है। यह व्यवहार प्रयोजनवान है, कब तक ? जब तक कि हम परमार्थमें मग्न न हो जायें। तो देखो—बौद्ध ऐसा मानते हैं कि जो निर्विकल्प ज्ञान है वह तो है सही और जो विकल्प ज्ञान है वह है मिथ्या। विकल्प ज्ञान कहो, संवृति कहो, व्यवहार कहो सब एकार्थक माने हैं वहाँ। तो क्या अर्थ हुआ ? निर्विकल्प ज्ञान प्रमाण माना। जिस समय पदार्थको जाना और पदार्थका कुछ निश्चय नहीं बनता, ऐसा जो एक प्रतिभास है वह है सच्चा और पदार्थ का प्रतिभास हो जाय कि यह पदार्थ है तो वह कहलाता है व्यवहार। वह व्यवहार होता है मिथ्या बौद्ध दर्शनमें और ऐसा माननेका कारण क्या है ? जिस समय पदार्थ है उस समय तो निश्चय हो नहीं पाता। थोड़ा प्रतिभास हो पाता और निश्चय करनेमें थोड़ा समय लगता। सो तब वह पदार्थ मिट गया। अब वह पदार्थ रहा नहीं, जिसका निश्चय बन रहा है। तो उसे मिथ्या बताया है बौद्धदर्शनने। यह कहलाता है व्यवहार। तो व्यवहारको सर्वथा मिथ्या कहनेकी बात बौद्धदर्शनमें है और ब्रह्मवादमें भी है। एक ही जगह है। सब जगह मिथ्या है। तो जैनदर्शनका आश्रय लेकर अपनेको धर्मसाधनामें बढ़ना चाहिए, अन्य दर्शनका आधार लेकर जो आजकल थोड़ा अध्ययन चल रहा है उससे ही संघर्ष चल गया। अब तक दिगम्बर जैन आम्नायके अनेक आचार्य हुए और अनेक पंडित भी हुए, उन्होंने सब कुछ लिखा पर आज तक कोई विवाद न चला तो वह सब दिगम्बर जैन आम्नायकी परम्परामें था। आज तो विद्वान हैं कितने ? बस इने गिने कुछ। बस १०-१५ दिनकी पढ़ाई पढ़ लिया और अपने को विद्वान समझ बैठे। अरे पहले ऐसा था कि गुरुजनोंके चरणोंमें अनेकों वर्ष लोटकर उनके चरणोंकी धूल अपने मस्तकमें लगाकर विद्याध्ययन किया करते थे, बड़े बड़े दार्शनिक, न्याय आदिके विषयोंका गहन अध्ययन करके अपनेमें एक ठोस विद्वत्ता प्राप्त किया करते थे। आज तो एक बहुत बड़ी गम्भीर दशा है दिगम्बर जैन सम्प्रदायपर। जब व्यवहारको मिथ्या

कहा जाय तो समझो कि यह उपचार वाला व्यवहार है और प्रमाणमें आने वाला व्यवहार सम्यक् है, निर्णायक है, व्यवस्था करने वाला है और निश्चयनयका भी मार्ग बताने वाला है।

(४७) उपचारके मिथ्यापनकी सिद्धि—उपचार मिथ्या है यह बात आजके निबंधमें भी चल रही है। देखो कुछ दृष्टान्त लो। जैसे एक शब्द है सुख। अच्छा तो संसारी जीवोंके लिए भी कहते हैं कि यह बड़ा सुखी है और भगवानके लिए भी कहते हैं कि ये अनन्त सुखी हैं। सुख शब्दका प्रयोग संसारी जीवोके लिए करते और भगवानके लिए भी करते। पर यह तो बताओ कि दोनोमें (भगवानमें और संसारी जीवोंमें) सुख समान है क्या? एक जातिका है क्या? सुख तो दोनोको बोलते हैं। तो जैसे सुख शब्दका प्रयोग संसारी सुखोंमें लगाते हैं और मोक्षके आनन्दमें भी बोलते हैं, पर वहाँ विवेक करना होगा कि मोक्षका सुख जैसा नहीं, किन्तु शुद्ध आनन्द है। और, जो संसारी सुख है वह दुःखरूप है। ऐसा विवेक करना है। जैसे एक शब्द है सुख और दो जगह कहे जाने पर विवेकी तो अन्तर पहचान लेता इसी तरह व्यवहार शब्द है एक और वह दो जगह कहा जाता, प्रमाणके अंशरूपमें भी और उपचारमें भी। तो वहाँ विवेक करना चाहिए कि उपचार वाला व्यवहार मिथ्या है और प्रमाणांश वाला व्यवहार सत्य है। वहाँ भगवानके लिए सुख शब्द न बोलना चाहिए। आनन्द शब्द बोलना चाहिए था। और, लिखा तो है ग्रन्थोंमें हर जगह भगवानके अनन्त सुख है, तो सुनो सुखका अर्थ क्या? सु मायने सुहावना लगना और ख मायने इन्द्रिय याने इन्द्रियको जो सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। भगवानको सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं। भगवानके इन्द्रियाँ कहाँ और सुहावना क्या लगा? और अगर सुहावना लगे तो वह तो हम आपकी तरह ही संसारी प्राणी हो गए। तो भगवानके सुख जरा भी नहीं है। सुख तो बुरी चीज है। जैसे दुःख बुरी चीज है ऐसे ही सुख भी बुरी है, पर आचार्योंने भगवानके आनन्दको सुख शब्दसे क्यों कहा? यों कहा कि समझाना तो था संसारी जीवोंको और ये संसारी जीव सुखसे ही परिचित थे, इसलिए आचार्योंने वहाँ सुख शब्दका अधिक प्रयोग किया। और आनन्द शब्दका भी प्रयोग किया गया है। इन्हीं ग्रन्थोंमें देख लो आनन्द भी लिखा है चिदानन्द, ज्ञानानन्द, सहज आनन्द, अनन्तानन्द आदि अनेक प्रयोग मिलते हैं। तो जैसे एक सुख शब्द है और वह सांसारिक सुखमें और मोक्ष सुखमें दोनोंमें उपयुक्त होता है, मगर वहाँ विवेक करना होगा। ऐसे ही व्यवहारका प्रयोग प्रमाणांशमें व उपचारमें दोनों जगह हो तो वहाँ विवेक करना चाहिये। अच्छा दूसरा दृष्टान्त लो—ग्रन्थोंमें खूब देखलो। धर्म शब्दका प्रयोग दो जगह किया गया। मोक्षका उपायरूप

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको धर्म बताया है। और पूजा करना, भक्ति करना, दया करना इन्हें भी धर्म कहा है। लिखा है ना ग्रन्थोंमें तो धर्म शब्दका प्रयोग दोनो जगह लिखा मगर वहाँ विवेक करना पड़ेगा कि भक्ति, दया, पूजा, दान, उपकार आदिक जो धर्म कहे गए हैं वे तो हैं शुभभाव रूप, पुण्यरूप धर्म, वह साक्षात् धर्म नहीं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये साक्षात् धर्म हैं। ग्रन्थोंमें देख लो लिखा हुआ मिलता है कि नहीं कि यह पुण्यरूप धर्म है। भगवानकी पूजासे धर्म है, धर्मसे देवगति मिलती है, ऐसा भी कई जगह प्रयोग है, पर इसे समझना पड़ेगा कि इसका अर्थ क्या है? तो जैसे वहाँ यह विवेक करते हो कि ये शुभ भाव पुण्यरूप धर्म हैं, ये मोक्षरूप धर्म नहीं, ऐसे ही यहाँ यह विवेक कर लें कि व्यवहारका प्रयोग उपचारके लिए भी होता और प्रमाणांशके लिए भी होता है। तो वहाँ यह जान लें कि यह उपचारके प्रमाण वाला व्यवहार है और यह व्यवहार मिथ्या है। यों इस निबंधमें कहा गया कि उपचार मिथ्या है।

—•—

(८)

(४८) भूतार्थ व अभूतार्थका विश्लेषण—यहाँ भूतार्थ और अभूतार्थका विश्लेषण किया जा रहा है। भूतार्थका अर्थ है, निरपेक्षतया हुआ सहजभाव व अभूतार्थका अर्थ है, निरपेक्ष न होने वाला भाव। देखो जाननेकी पद्धति दो तरहकी होती है। पहली पद्धति अभेद की ओर जानेकी है और दूसरी पद्धति भेदकी ओर जानेकी है। जाननेकी दो पद्धतियाँ होती हैं, अभेदकी ओर जाननेकी पद्धति है भूतार्थ और भेदकी ओर जाननेकी पद्धति है अभूतार्थ। भूतार्थ तो वस्तुके एक अखण्ड स्वभावको जानता है और अभूतार्थ वस्तुके द्रव्यांशकी बात कहो, गुणकी बात कहो, पर्यायकी बात कहो ये सब कहलाते हैं अभूतार्थ। तो अब यहाँ यह विचारें कि भूतार्थ सच है और अभूतार्थ भी सच है। देखो अभी बतायेंगे कहीं भूतार्थका नाम सच है और अभूतार्थका नाम झूठ है, यह बात तो जरूर है पर कैसे यह बात लगाना है वह विवेकसे समझना होगा। देखो जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये भूतार्थसे जाने जाते हैं या अभूतार्थसे, इसका परिचय होता है अभूतार्थ नयसे, क्योंकि यह भेद है ना? अभूतार्थनयसे इसका परिचय हो तो क्या यह गलत रहा परिचय? आगम में और ऋषि संतोंने क्या बताया कि ७ तत्त्व ९ पदार्थ और ये जाने जाते हैं, कहे जाते हैं तो अभूतार्थनय असत्य नहीं, और ७ तत्त्व ९ पदार्थ जो उसके विषय हैं वे असत्य नहीं,

क्योंकि असत्यसे सत्यकी खोज नहीं होती, ६ तत्त्वोंमें एकत्वकी खोज करना है। समयसारमें ही कहा है ना कि 'अभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवबंधसंवरनिर्जरमोक्ष-लक्षणेषु नवतत्त्वेषु' ये ६ तत्त्व अभूतार्थनयसे कहे गए हैं— अगर ६ तत्त्व असत्य हैं तो इसमें निरपेक्ष सत्त्व जो एकत्व है, समयसार, कारणसमयसार, वह कैसे जाना जायगा ? तो बात यह है कि अभूतार्थ व्यवहारनयसे सत्य है और शुद्धनयकी दृष्टिसे असत्य है। तो अभूतार्थनय क्या हुआ व भूतार्थनय क्या हुआ वस्तुके एक अखण्ड अनादि अनन्त स्वरूपको जानना यह हुआ भूतार्थ और अभूतार्थ हुआ द्रव्य गुण पर्याय, इन सबको जानना। तो कोई पदार्थ गुण पर्याय रहित तो नहीं होता, अगर गुण पर्यायको जाना तो हुआ अभूतार्थ और एक ज्ञायक-स्वभावको जाना तो हुआ भूतार्थ। यह ही बड़ी बुद्धिमानी होती है शास्त्रोंमें प्रवेश करनेकी, जिस शब्दके दो अर्थ हों उसका प्रयोग कहाँ कैसे करना चाहिए ऐसी जो सावधानी रखते हैं वे श्रोतावोंको बीचमें सावधानी कराते हैं, बस यों नयोंका परिचय कराते हुए जो कथन उप-देश हो वह सत्य है।

(४६) **आत्मविषयमें भूतार्थनय व अभूतार्थनयकी घटना**—अब पुनः ध्यान दो। आत्मामें भूतार्थता व अभूतार्थता घटाओ। आत्माका जो एक अखण्ड स्वभाव रूपमें भान हुआ और इस ही अखण्ड स्वभावमें उपयोग बना वह है भूतार्थनयका विषय और उसे कोई जान कैसे गया ? कोई भी मनुष्य, कोई भी ज्ञानी, कोई भी मुनि जन्मते ही ज्ञानी नहीं बना, मुनि नहीं बना, उसने अभ्यास किया और अभ्यास बना यह अभूतार्थनयसे। देखो निष्पक्ष ज्ञानी श्रावक, ज्ञान प्रेमी पुरुष वह है जो वस्तुका सही सही निर्णय बनावे। ज्ञानी पुरुषका कषायोंसे सम्बंध नहीं होता किन्तु निष्पक्ष उद्घाटनका सम्बंध है। भेदमें जाना तो अभूतार्थ, अभेदमें जाना तो भूतार्थ। भेदको सही समझे बिना हम अभेदका परिचय नहीं कर सकते। अगर कर सकते होते तो जानते ही क्यों न रहते ? संस्कार रहा, क्रिया हुई, व्यवहारमार्गमें रहे तो कभी योग्यता जगी यह कि अखण्ड ज्ञान स्वभावको हम जान जायें। समयसारमें बताया कि भूतार्थसे अगर इन ६ पदार्थोंको जान लिया तो सम्य-क्त्व होता है। वहाँ दो बातें मुख्य समझिये—भूतार्थसे ६ तत्त्व जान लिया तो सम्यक्त्व नहीं, किन्तु सम्यक्त्वका कारण होता है। जैसे अमृतचन्द्र सूरिने और जयसेनाचार्यने अपनी टीका में स्पष्ट किया। सम्यक्त्व होता है तब जब उसका कोई विकल्प नहीं। निर्विकल्प स्वानुभूति केवल ज्ञान रसकी अनुभूति, ऐसा अनुभव करने वाले पुरुषको अन्य कुछ नहीं है। वहाँ केवल वह ज्ञानस्वरूप ही है। तो अभूतार्थसे परिचय किया। भूतार्थसे फिर जाना, परिचय किया तो दोनोंको छोड़ा और निर्विकल्प स्थिति हुई तो स्वानुभव बना। अब यहाँ देखो—भूतार्थ-

नयका विषय क्या है ? अखण्ड स्वभाव और अभूतार्थनयका विषय है इन सब शास्त्रोंकी रचना, द्रव्य, गुण, पर्यायके भेद। जीवादिक तत्त्वोंका परिचय, यह है अभूतार्थनयका विषय। देखो भूतार्थ व अभूतार्थके शब्द सुनते समय सच और झूठ ये दो अर्थ न लेना। ये भी अर्थ होते, जिनको अभी बतायेंगे, किन्तु यहाँ निरपेक्षभावमय पदार्थ व सापेक्ष भाव वाला पदार्थ यह अर्थ लेना है। तो देखो निज अखण्ड ज्ञानस्वभाव तो भूतार्थ है याने स्वयं सहज अभूतार्थ जो स्वयं सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव है वह है भूतार्थ। और अभूतार्थ क्या है कि वे जीवादिक ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका परिचय करना। इनमें से कोई कहे कि भूतार्थको ही हम मानते हैं अभूतार्थको नहीं मानते, तो उसका उत्तर है कि फिर तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और भूतार्थका बोध असंभव हो जायगा। जब ७ तत्त्व ९ पदार्थ और और प्रकार जब न रहे तब तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी, हम आप लोगोंको कोई समझानेका उपाय न रहेगा।

(५०) आगमवर्णित वचनोंके प्रयोगकी सावधानीमें उपलब्धिकी संभवता—देखो बड़ी सावधानीकी बात है—(१) व्यवहार दो तरहका है, (२) भूतार्थ अभूतार्थ दो तरहका और (३) निमित्त दो तरहका है जीव विकारमें। उनको जहाँ जिस प्रसंगमें जो सही बैठे वैसा जाने तो वह है सम्यक् बोध और निमित्तका अर्थ एक निमित्तमें आश्रयरूप बन गया तो सारे निमित्तोंका वही अर्थ करना, यह है एक चतुराई या चालाकी भरा प्रयोग। जैसे दूधके दो अर्थ हैं—एक तो गाय, भैंस, बकरी आदिकका दूध, जो पीनेमें आ सकता और एक दूधका अर्थ है आकका दूध। अब आकका दूध तो खराब होता है, वह पीनेके काम नहीं आता। इतनी बात तो निश्चित है ना? ऐसा बताकर यह कहना कि दूध सब खराब है तो यह हुआ ना एक कुशलताका प्रयोग, छलसहित प्रयोग। नैयायिकदर्शनमें तत्त्व माने गए हैं— छल, निग्रह, जाति वगैरह। वे मानते हैं कि ये भी तत्त्व हैं। किसीको हरानेके लिए कपटसे भी बोले, हार जाय दूसरा, बस यह तत्त्व है न्यायदर्शनमें। उसे तत्त्व संज्ञा दी है, जब कि जैनसिद्धान्त कहता है कि यह तो दुष्टता है। अरे तत्त्व तो अपने पक्षका समर्थन और दूसरे पक्षको दूषित दिखाया जा सके तो विजय है, कपट करके, शब्दोंका हेरफेर करके बोलना यह विजय नहीं कहलाता। जैनसिद्धान्त तो यह कहता है और नैयायिक दर्शन कहता है कि जैसे बने दूसरोंका मुख चुप करे बस यह है तत्त्व। जैसे उदाहरण देते हैं कि एक पुरुष नया कम्बल ओढ़कर पासमें बैठ गया तो एक आदमी कहता है कि नवकम्बलोयंपुरुषः याने नव मायने नया, यह नये कम्बल वाला पुरुष है। तो दूसरा कहता कि तुम बड़े झूठ हो, तुम कहते हो कि ९ कम्बल वाला आया, अरे इसके पास तो एक ही कम्बल है। तो इसको कहते हैं छल। इसकी प्रतिष्ठा जैनदर्शनमें नहीं है। तो सीधे युक्तियोंसे परिचय बनायें। अभूतार्थनयको छोड़ देंगे तब तो तीर्थ

परम्परा मिट जायगी। जब जीवतत्त्वका नाम लेना पाप कह देंगे तो कोई कहेगा ही नहीं तत्त्वके नाम, क्योंकि वह अभूतार्थ है और अभूतार्थको कह देंगे असत्य तो उसका प्रयोग ही क्यों करना? जब ७ तत्त्व ६ पदार्थकी बात ही कुछ न रहेगी तो अब ज्ञान कहांसे शुरू करें सो तो बताओ। जैसे बच्चे लोग कक्षा एक दो में अ आ इ ई से पढना शुरू करते हैं, अब कोई इस तरहसे पढ़-पढ़कर एम. ए., पी. एच. डी. आदि पास कर ले तो क्या उसका यह कहना शोभनीय है कि अ आ इ ई आदिकी प्रारम्भिक पढ़ाई हेय है? अरे जिसने पास कर लिए उसके लिए तो हेय है, मगर जिसने नहीं पास किया, जिसने अभी पढ़ना प्रारम्भ ही नहीं किया उसके लिए तो हेय नहीं है। तो ऐसे ही समझो कि अभूतार्थकी प्रक्रियाको भूतार्थ से समझें और समझनेके बाद सारे जगतको हम यह उपदेश करें कि अभूतार्थ असत्य है तो इसमें तो उनपर एक बड़ा बैर बांध लिया। उनकी बरबादीकी बात कर दी अब वे किस रास्ते से चलकर आत्मतत्त्वकी जानकारीमें आयें? अभूतार्थका जो स्वरूप है, जो मर्यादा है उसे बराबर समझें और भूतार्थकी जो सीमा है उसे समझ लें। देखो अभूतार्थनय न रहेगा तो तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और भूतार्थनय न रहेगा तो तत्त्व खत्म हो जायगा। जब कुछ लक्ष्य नही बनता तो ऐसी स्थिति रहेगी कि जैसे कोई नाविक नावमें बैठ गया शामको. रात भर खेता रहा, उसने यह लक्ष्य न बनाया कि हमको किस जगह पहुंचना है तो वह कभी किसी दिशाको ओर नाव खेता कभी किसी दिशाको ओर। जब सुबह देखा तो नाव किसी भी किनारे नहीं पहुंची। क्यों नहीं पहुंची कि उसने अपना कोई लक्ष्य ही नहीं बनाया था, उद्देश्य ही नहीं बनाया तो कैसे पहुंचे? तो भूतार्थनयको यदि खत्म कर देंगे तो तत्त्व खत्म हो जायगा, फिर उपदेशमें कोई जान ही न रहेगी। ज्ञानी पुरुष वह कहलाता जो शत्रुमें भी गुण हों तो उन्हें भी प्रसन्नतासे कहे और मित्रमें भी दोष हों तो उसे भी दोष जानें। निष्पक्ष होना चाहिए। इसीको बताया है समयसारमें कि यदि जिनमतको जानना चाहते हो तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंको न छोड़ो। अगर जैनधर्मका सही तत्त्व जानना है तो इन दोनों नयोंको न छोड़ो। अगर व्यवहारनयको छोड़ दोगे तो तीर्थप्रवृत्ति खत्म हो जायगी और अगर निश्चयनयको छोड़ दोगे तो तत्त्व खत्म हो जायगा।

(५१) दृष्टिसापेक्ष अर्थ समझनेपर विसंवादका अनवकाश—अब इस बातकी रख रहे हैं कि कहीं कहीं भूतार्थका अर्थ तो होता है सत्य और अभूतार्थका अर्थ होता है मिथ्या यह भी अर्थ लगाओ। पर वहां यह विवेक करना पड़ेगा जब भूतार्थ शब्द आये तो सोचो यह भूतार्थ शब्द अभेदके पहिचाननेके लिए आया या एक सत्य शब्दको पुकारनेके लिए

आया ? इसी प्रकार जब अभूतार्थ शब्द बोला जाय तो विवेक करना होगा कि यह अभूतार्थ शब्द भेद प्रतिपादनके लिए आया या असत्य शब्दको पुकारनके लिये आया जैनशासनके तत्त्वमें विवाद कहा नहीं है। स्याद्वादका सहारा लें तो विवाद नहीं होता। विवाद होनेके कारण दो हुआ करते हैं। एक तो अज्ञान और दूसरा दुनियामें अपनी एक कीर्ति बनानेकी तीव्र चाह। इन दो बातोंसे विवाद उत्पन्न होता है। पर जो सम्यग्दृष्टि है। ज्ञानी है उसके ये दोनों ही बातें नहीं हैं। उसे जगतमें कीर्ति कर जानेकी बात मनमें नहीं होती है। क्या है जगत यह ? यह दिखता हुआ हजार दो हजार मीलका क्षेत्र इस लोकके सामने क्या गिनती रखता है ? लोक तो ३४३ घनराजू प्रमाण है। उसमें जरा सी जगहमें कुछ थोड़ेसे लोगोंने कीर्ति गा दी तो भला बतलाओ यह कीर्ति उस जीवके कुछ काम आयगी क्या ? ज्ञानी पुरुषको कीर्तिकी चाह नहीं होती। अब तो इस स्याद्वादका सहारा लें। जैनशासनका परिचय, स्याद्वादका परिचय इस जीवको होता है निष्पक्षताकी बुद्धि करने पर।

(५२) निश्चय और व्यवहारनयके आशयसे लाभ न ले सकनेमें मूढताका दिग्दर्शन— भैया ! भूतार्थ अभूतार्थ कहो, निश्चय और व्यवहार कहो। दोनोंकी उपयोगिता समझो। अब परमार्थको तो जाना नहीं परमार्थ मिला नहीं, और व्यवहारको पहलेसे ही छोड़ बैठे तो भला बताओ कैसे काम बनेगा ? उसकी स्थिति ऐसी कही गई जैसे कहते हैं ऊँटके ५ पैर होते हैं चार तो होते हैं चलनेके और एक होता है फालतूका। उसकी छातीमें कोई ८-१० अंगुलका पैर होता है, तो जैसे वह पैर ऊँटका न यह का न वहाँ का ठीक ऐसी ही दशा उस पुरुषकी होता है जिसने परमार्थ तो पाया नहीं और व्यवहार छोड़ बैठा। वह न इधरका हुआ न उधर का हुआ। तो देखो सीधी सादी बात है—व्यवहारमें से गुजरते हुए व्यवहारको हेय कहें सो तो बात है सच्ची, और कोई व्यवहारसे रहे दूर और व्यवहारको हेय कहे तो उसकी बात सत्य नहीं है। देखो ग्रन्थोंमें मुनियोंको भी बहुत डाँटा गया—अरे तुम्हारे भाव निर्मल नहीं, तो फिर उस निर्ग्रन्थ भेषसे क्या फायदा ? ज्ञान तुम्हारा स्वच्छ नहीं तो इस ज्ञानसे क्या फायदा ? खूब कहा इस तरहसे मगर यह तो ध्यान दे कि जो मुनिजन हैं उनके लिए यह कहा गया है न कि श्रावक जनोंके लिए। देखिये इसमें कितना अन्तर आता है ? और, जो श्रावक हैं वे अगर इस बातको सुनकर यह सोच लें कि जब भाव शुद्ध नहीं तो फिर इस निर्ग्रन्थ भेष से क्या फायदा ? यों तो पशु पक्षी मछलियाँ, वृक्ष आदि भी निर्ग्रन्थ रहते हैं। तो फिर उस का क्या असर होगा ? बस यों ही मुह फुलाये स्वच्छन्द बने रहेंगे। तो सब बातें ध्यानमें देनी चाहिए। यहाँ जो ग्रन्थोंमें इस तरहसे सम्बोधा गया है वहाँ यह ध्यान दें कि मुनियोंको स्वयं

आचार्योंने सम्बोधा कि ऐसा नग्न होनेसे क्या फायदा ? और अगर ज्ञान नहीं है तो तुम्हारे व्रत तप आदिक केवल व्यायाम हैं, परिश्रम हैं । इस तरहसे मुनिजन बहुत डाँटे गए । जो मुनि हैं उन मुनियोंको मुनियोंने ही कहा कि देखो यहाँ तुम मत रम जावो, यहाँ तृप्त हो जाना तुम्हारे लिए उचित बात नहीं है । कुछ ज्ञान बढ़ाओ, निर्मल भाव बढ़ाओ, धर्म बढ़ाओ । धर्म में आवो, और, जो श्रावक हैं, अव्रती हैं, हीन पहलेसे ही हैं उनके आगे ये ग्रन्थ पढ़नेको रखे जायें तो वे तो उसका गलत ही अर्थ लगायेंगे । देखिये—बात बहुत सोच विचारकर करना चाहिए । इस जीभको ऐसा मुफ्त न समझो कि जब ली और हिला दी । शब्द का भाव, शब्दका मर्म, प्रकरणकी बात भी समझना चाहिए । देखो—कोई भी जीव मनुष्य जो अनेक वासनाओंसे लदा फिर रहा है वह मुक्तिमें जायगा तो इसी अज्ञान वासनाके बाद ही नहीं जा सकता । श्रावकधर्म, मुनिधर्म, दिनचर्या ये सब बातें बीचमें आयेंगी, और उनमें वह अड़ेगा नहीं, उनमें वह तृप्त होगा नहीं । यों पा लेगा मुक्ति । निश्चय और व्यवहार ये असत्य हैं ऐसा नहीं, इन्हें न छोड़ना, किन्तु प्रक्रिया यह है कि उपचार तो असत्य है और प्रमाणका अंश व्यवहार सत्य है, पर उस व्यवहारमें न अटककर व्यवहारका और ऊपरकी बात निश्चयनयका विषय अखण्ड ज्ञानस्वभाव उसकी धुन बनावें और उसकी ओर बढ़ें, बढ़ेंगे व्यवहारमें, करें व्यवहार पर उसमें रमें नहीं । बढ़ें अपने उद्देश्यकी ओर । तो ऐसे ही विश्लेषण सहित एक ज्ञानतत्त्वकी बात हो तो वह अपनेको बड़ा स्पष्ट कल्याणका साधक होता है ।

(५३) **शुद्ध ज्ञानमें मानका अभाव**—जब शुद्ध ज्ञान होता है तब मान नहीं रहता । होता है ना ऐसा, कोई कहता कि धन बढ़ जाय तो मान होता, ज्ञान बढ़ जाय तो मान होता । पर शुद्ध ज्ञान जगने पर यह घमंड रह नहीं सकता । जिसने यह जान लिया हो कि जैसे जीव कल्पना किये गये मेरे बालक आदि हैं वैसे ही जीव तो सब हैं, जैसा स्वरूप मेरा है वैसा ही इन कीड़ामकोड़ा आदिक जीवोंका भी है । रहा एक पर्यायका अन्तर । तो इस पर्यायका भरोसा क्या ? एक राजा भी मरकर कीड़ा बन जाय और एक कीड़ा भी मरकर राजा बन जाय । तो इस पर्यायका क्या गर्व करना ? यह पर्याय गर्वके लिए नहीं । यह पर्याय अपनी हीनता समझकर इससे दृष्टि हटानेके लिए लें । ज्ञानमें गर्व नहीं होता और उसमें हम आपका अगर कुछ धन है तो ज्ञान ही धन है, अन्य कुछ धन नहीं है । बाकी सब तो बेकार बातें हैं । आप कहेंगे कि काम तो आ रहे ये मकान, वैभव, रुपया पैसा आदिक । अरे ये चीजें न हों तो भी काम चलता । जितना है उतना न हो तो भी काम नहीं चलता क्या ? यों समझो कि हमको जो कुछ मिला है धन वैभव, वह औरोंकी अपेक्षा कई गुना

ज्यादह है। ऐसा ध्यानमें लावें तो धर्मके पात्र बनेंगे और जो ऐसा सोचेगा कि जो हमारे पास है वह तो बहुत कम है तो फिर वह धर्ममें नहीं बढ़ सकता। जरासे फर्कमें बड़ा फर्क हो जाता है। तब यह समझो कि हमारे पास जरूरतसे ज्यादह धन है। क्या समझ नहीं सकते ऐसा ? समझ सकते। अपने से कई गुणा कम धनिकोंको देख लो। बिल्कुल गरीब स्थितिके लोगोंको देख लो क्या वे जिन्दा नहीं रह रहे ? ऐसी दृष्टि बना लेने से अपने को बड़ा संतोष मिलेगा और अगर चित्तमें यह बात बसी है कि मेरे पास तो कुछ धन नहीं है, तो वह कभी जीवनमें शान्ति संतोष नही पा सकता। और फिर देखा भी होगा कि जब कम धन होता है तब तो कुछ प्रभुभक्ति करनेका भी समय मिल जाता है और जब वैभव अधिक हो जाता है तो फिर कोई कोई लोग तो ऐसा कह बैठते हैं कि हमारे पास प्रभुभक्ति करनेका समय नहीं है। तो अब बतलाओ साधन सब है पर शान्ति नहीं है अगर शान्ति होती तो फिर धर्म करनेके लिए समय क्यों न मिलता ? यह तृष्णाका रोग बहुत कठिन रोग है। इससे दूर रहना, जगतके पदार्थोंको असार समझना। ज्ञान ही धन है, ज्ञान ही सार है। ज्ञान ही शरण है, ज्ञानार्जनके लिए, ज्ञानप्रभावनाके लिए तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ न्योछावर करना पड़े और उसमें ज्ञान प्राप्त होता है तो आपने कुछ नहीं खोया और सब पाया। तो ज्ञान लाभके ये ही दो तरीके हैं अभूतार्थ और भूतार्थ। इसमें विवाद कहाँ है ? पहले तो अभूतार्थसे जानना पड़ेगा। सब कुछ हैं द्रव्य, गुण, पर्याय, जीवादिक ७ तत्त्व और फिर उनमें मूल चीज तो आत्मा है ना ? तो ये सब आत्माके परिणमन हैं। तो जिसके ये परिणमन होते वह अंतस्तत्त्व वह एक है, एक स्वरूप है और परमार्थ है। तब जाना इसको परमार्थ। तो अभूतार्थनयका उपयोग लें और दोनोंको ही छोड़कर पहुंचें किसी निर्विकल्प दृढ़ अनुभूतिमें। समझो कितना बड़ा काम करनेको पड़ा है तब जाकर बड़ा कहलायगा। शान्त कहलायगा।

(५४) **महत्त्वकी प्राप्तिमें कष्टसहिष्णुताका प्रचुर सहयोग**—भैया ! बड़ा बनना है तो बड़ा कष्ट सहिष्णु बनना होगा और चित्तमें बड़ा नियन्त्रण करना होगा, संयमी बनना होगा। स्वानुभूतिके लिए भी तो भीतरी संयम चाहिए ना कि यह चित्त यहाँ वहाँ न डोले, एक ज्ञानस्वरूपके लक्ष्यकी ही धुन बनायें। तो बड़ा बननेके लिए बड़ा कष्टसहिष्णु बनना पड़ता है। जरा जरासी कष्टकी बातें आनेपर घबड़ाये नहीं। मान लो किसीने गाली दी या कुछ भला बुरा कहा तो उससे मेरेमें क्या चोट आती है ? अरे उसका परिणमन उसमें है। ध्यान तो दो, परिणमन रहा हर जगह, परको पर जानकर, निज स्वरूपको निज जानकर अपने अंतरंगमें परिणमन रहा तो यह बड़ा बननेकी तरकीब है। देखो यह जो उड़दका बड़ा बनता

है तो उसकी प्रक्रिया देख लो किस तरह बन बनकर वह बड़ा कहलाता है। सबसे पहले तो उन्हें बैलोंसे दाँय करते समय कुचला जाता है फिर चक्कीके पाटमें दला दिये जाते है, फिर मानो शामको पानीमें भिगो दिए जाते हैं। रातभर पानीमें फूलते हैं, फिर सुबह उनको हाथ से मलकर उनका छिलका उतारा जाता है। फिर उसकी शक्ल बिगड़ो जाती है, उसको गोलाकार बनाया जाता है, फिर उसको खूब तेज गर्म कड़ाहीमें खौलते हुए तैलमें डालकर उन्हें पकाया जाता है। इतने पर भी लोग नहीं मानते, फिर उनके पेटमें लकड़ी घुमेड देते हैं यह देखनेके लिए कि अभी कहीं कच्चे तो नहीं रह गए। फिर उन्हें खटाई, मिर्च, मट्ठा आदिमें पटक दिया जाता है। तब कहीं वह बड़ा कहलाता है। तो बड़ा बननेके लिए बड़ी कष्टसहिष्णुता होनी चाहिए। यहाँ तो हम आप मुफ्तमें ही बड़ा बनना चाहते हैं। लोग सोचते हैं कि हमको कुछ कष्ट न करना पड़े और बड़े बन जायें। यह ही तो मानकी लड़ाई है। जो शरण मार्दव धर्म है उसका अर्थ है मान न होना; देखो मान न होना। मान शब्द को जरा उल्टा करो—नमा, जिसका अर्थ है नम जावो, नम्र हो जावो। तो नम्र होनेको मार्दव भाव कहते हैं। निर्मल परिणाम होनेका नाम मार्दव है। मार्दव कहते हैं कोमलको। तो यह कोमलता धर्म है जो मान कषायके दूर होनेसे प्रकट होती है। अगर वह मान कषाय है तो फिर वहाँ धर्मका उपाय नहीं मिलता। गौतमका मान गला तो निर्मोह होकर मुनि हो गये मनःपर्ययज्ञान हो गया, फिर केवलज्ञान हो गया। जो महावीर स्वामीसे लड़ने जा रहे थे और मान स्तम्भ देखा तो उनका मान गल गया। शुद्ध हुए और मुख्य गणधर बन गए और फिर केवली हो गए। तो यह मान कषाय ऐसा रोग है कि जिसके कारण हम अपनी प्रगति नहीं कर पाते। धर्ममें आगे बढ़ नहीं पाते। और देखो जीवनमें यहाँ ही देख लो, दूसरोंका आदर करें, अपनेको तुच्छ बतावें तो देखो कितना प्रेम बढ़ता है, कितना सद्-व्यवहार होता है? जो मिले उसका आदर करें और अपनेको तुच्छ बतावें, मैं कुछ नहीं, आप सब कुछ, आपने सब किया, ऐसी प्रवृत्ति बनाओ जीवनमें, यहीं एक स्वर्ग जैसा साम्रा-ज्य बन जायगा। और चाहें कि मैं बड़ा कहलाऊँ, ये तुच्छ रहें तो ऐसी अन्यायकी बात कोई न सहन करेगा। तो सबको आदर दो और अपनेको दूसरोसे बड़ा मत समझो, ऐसी प्रवृत्ति जीवनमें हो तो सुख शान्ति मिल सकती है।

—•—

(६)

(५१) **विकारोंकी नैमित्तिकताके परिचयमें एक विशुद्ध प्रकाश** —यहाँ यह विचार करना है कि जीवमें विकार क्या अपने आप हो उत्पन्न हो जाते हैं या कोई दूसरा करता है। सामान्यसे तो उत्तर यह है कि विकार न तो अपने आप होता है और न कोई दूसरा करता है, किन्तु परका निमित्त पाकर स्वयंकी योग्यतासे स्वयंमें विकार बन जाता है। यहाँ दो बातें आयीं। जीवके विकार होता है उसका निमित्त परसंग है। यह उपचारकी बात नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने और जयसेनाचार्यने समयसारमें कहा है इस गाथा में—'जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रागमादीहिं, रंगिज्जदि अण्णेहिं सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।' जैसे स्फटिक मणि स्वयं रागभावरूप नहीं है और न स्वयं लाल होनेका निमित्त बनता है सो वह खुद अपने आप रागरूप नहीं परिणमता। यह बात स्पष्ट देख लो, आंखोंके सामने देख लो, दर्पण क्या खुद ही अपनी ओरसे लाल पीला आदिक रूप बन जाता है ? अरे उस लाल पीला कपड़ा आदिक बाहरी चीजका सन्निधान पाकर वह लाल पीले आदिक रूप परिणम गया। वहाँ यह विवेक करना चाहिए कि लाल पीले कपड़ा आदिकका कुछ भी प्रयोग उस दर्पणमें नहीं गया, किन्तु सामने रहता, सन्निधानमें रहता बस इतनी भर वहां बात रही कि उस दूसरेका सन्निधान पाकर वह दर्पण स्वयं अपनी विकारी योग्यतासे लाल पीले रूप परिणम गया। देख लो इस कथनमें वस्तुस्वातंत्र्य पूर्ण झलक रहा है, और निमित्त नैमित्तिक भाव भी झलक रहा है, ऐसी दो बातें हैं। अब उनमें से पहिली बातपर विचार करें। हाँ खुद खुदके विकारमें निमित्त नहीं होता, यह पहली बात है। जैसे दर्पण स्वयं ही नाना रूप प्रतिबिम्बित होनेमें निमित्त नहीं बन पाता ऐसे ही यह जीव अपने विकारके होने में निमित्त नहीं बन पाता। यदि दर्पण खुद ही अपने लाल पीले आदिक प्रतिबिम्बरूप परिणमनमें निमित्त हो जाय तो दर्पणमें सदा प्रतिबिम्ब रहना चाहिए, क्योंकि बाहरके पदार्थों का सन्निधान तो रहा नहीं। दर्पण ही खुद अपने विकारके लिए निमित्त हो गया तो सदा उसमें प्रतिबिम्ब रहना चाहिए, ऐसे ही आत्मा खुद ही आप अपने ही स्वभावसे अगर रागी द्वेषी बन गया, उसमें कर्मविपाक निमित्त कुछ माना न जाय तो विकार सदा रहना चाहिए। देखो बड़ी उदारतासे बड़ी निष्पक्ष विधिसे आचार्य संतोंकी भक्तिपूर्वक सुननेसे यह विषय आयगा। इस समय हम दो बातोंमें से पहली बात कह रहे। जब जो बात कही जाय तब उसी बातका हो विशेष चिन्तन चलना चाहिए। तो खुद खुदके विकारका निमित्त नहीं होता, क्योंकि खुद विकारके विपरीत स्वभावसे हटा होने वाला परिणाम अपने आपके निमित्तसे

नहीं होता। वह खुद उपादान है। वह ही खुद विकारमें निमित्त होवे तो विकार सदा रहना चाहिए। तो बड़ी आपत्ति होगी, विकार फिर दूर कैसे किया जा सकेगा, क्योंकि वह तो अपने आपके स्वभावसे हो गया है। जो भाव विषम होता है, समान नही होता है। घटाव बढ़ाव लिए हुए होता है तो समझो कि उसकी उत्पत्तिमें कोई बाह्य पदार्थ निमित्त होता है।

(५६) निमित्तनैमित्तिकभाव व वस्तुस्वातन्त्र्यका अविरोध—देखो निमित्तकी बात सुनकर न डरना चाहिए। जो लोग मानते हैं निमित्तका निराकरण करते हैं वे डर सकते, पर निमित्तकी बात रखते जावो कि स्वभावदर्शनके लिए कितना उपयोगी है, इस मर्म तक नहीं पहुंचे वे। हां निमित्त उपादानमें कुछ करता है यह बात कहें तो वह मिथ्या है, पर विकार निमित्त बिना हो जाय निमित्तके सन्निधान बिना होवे तो विकार फिर जीवका, पदार्थका स्वरूप बन जायगा। वह कभी नहीं मिट सकता। सामने देख लो—दर्पण रख लो और हाथको जल्दी यों हिलावो, दर्पण सामने कर लो तो वहाँ दर्पण उसरूप प्रतिबिम्बित हो जायगा ना। तो सीधा देख रहे हैं कि दर्पणमें प्रतिबिम्ब आ गया, पर वह परनिमित्त बिना नहीं हुआ। अब उस एक सीधे दिखने वाली बातको मेटकर यहाँ एक ऐसी बात की जाय कि वह तो दर्पणमें अपने समयपर अपनी योग्यतामें अपने आप आ गया। एक प्रत्यक्षसे विपरीत आग्रह क्यों किया जावे। अब रही यह बात कि कहीं निमित्ताधीन तो नहीं हो गया वह परिणमन। निमित्ताधीन परिणमन नहीं होता। किसीके हाथका निमित्त हुआ वहाँ उसका रंगरूप क्रिया प्रभाव कुछ भी दर्पणमें नहीं गया। यहाँ हाथ बाहरमें हिल रहा। हाथका सारा काम हाथमें हो रहा, हाथसे बाहर हाथका कुछ भी काम नहीं हो रहा. इसलिए इस हाथने दर्पणमें कुछ काम नहीं किया, पर दर्पण ही अपने आपकी योग्यतासे हाथका सन्निधान पाकर उस रूप परिणम गया। यह उपादानकी कला है। यह उपादानकी ही स्वतंत्रता है। बस निमित्त तो खाली सन्निधानमें होता है। निमित्त उपादानमें कुछ करता नहीं है। जिनवाणीका विधिवत् रहस्य रखनेके लिए कषाय कल्पना या कीर्ति नाम आदिक सबका बलिदान करना होता है। देखो सरस्वतीका भक्त होना यह सबसे ऊँची चीज है। और कुछ मनमें मद आये कि मैं बड़ा बन जाऊँ, कुछ इन लोगोंसे निराला (अनोखा) सा कहलाऊँ। अरे यह कोई दुर्लभ चीज नहीं, यह तो अनादिसे करते चले आये, कभी किसी प्रसंगसे बड़े कहलाये कभी किसी प्रसंगसे, पर इस वीर वाणी सरस्वती देवी मायने जिन वचनोंका अर्थ उसकी भक्ति होना यह बहुत बड़े वैभव वाली बात है।

(५७) आर्षानुरागीका मनोबल—देखिये—शुद्धि रुचि किस ज्ञानीके होती है जो अपनी विद्वत्ताको पत्ता डालता है। चाहे कुछसे कुछ अटपट और अनहोनी आश्चर्य वाली

बातमें न बढ़कर दुनियामें अपना निरालापन दिखाया जा सकता है, लेकिन ऐसा निरालापन दिखानेमें जिसके मोह नहीं है और प्रभुकी वाणीकी जो धारा चल रही है उसी प्रवाह में अवगाह करके अपने नामको मिटा दिया, अपने नामको दुनियासे निराला दिखानेकी चाह न करें, ऐसी विद्वता पचानेके लायक जिसका ज्ञान हो गया वह ही भगवानकी वाणी सत्य मर्म समझ सकता है। जिसको कुछ परवाह नहीं, दुनिया जाने न जाने, माने न माने एक अपने आपके सम्यग्ज्ञानसे ही तृप्त है, संतुष्ट है ऐसा ही पुरुष विशुद्ध तत्त्वके मर्मको प्राप्त होता है। यहां बतलाया जा रहा कि जीवमें जो रागद्वेषादिक विकार होते हैं उन विकारोंके होनेमें जैसे जीव उपादान है ऐसे ही जीव निमित्त नहीं बनता, किन्तु इस जीवके उपादान हो गया रागद्वेषका और जीव ही निमित्त बन गया रागद्वेषका, फिर क्या वजह है कि जो रागद्वेष सदा न होते रहेंगे, फिर वे कैसे मिटेंगे ? रागद्वेषके निमित्त भी सदा हाजिर हैं। फिर क्या वजह है कि जो विकार कभी बंद हो सकें। यदि विकार परभाव और नैमित्तिक न हो तो फिर ये विकार कभी नष्ट नहीं किए जा सकते। तो प्रयोजन क्या है ? स्वभावदर्शनका। स्वभावदर्शन कीजिए। आप जब चावल शोधते हैं तो वहाँ आप जब यह विवेक रखते हैं कि यह तो चावल है और यह चावल नहीं है, कंकड़ है, मिट्टी है, तब ही तो आप चावल शोध पाते हैं। तो जैसे कूड़ा करकट, मिट्टी, कंकड़ आदिको हटाकर हो आप शुद्ध चावलका संग्रह कर सकेंगे ऐसे ही आत्मा और अनात्मा इन दो तत्त्वोंका ज्ञान होना चाहिए तभी तो अनात्मतत्त्वसे हटकर अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपका दर्शन किया जा सकता है। तो आत्मा है क्या ? परमार्थ आत्मा है क्या ? शुद्ध स्वच्छ ज्ञानमात्र, जहाँ विकार नहीं ऐसा यह आत्मा क्या अपने विकारमें निमित्त हो सकता है ? अगर खुद विकारमें निमित्त हो तो सदा विकार होते रहेंगे, यह आपत्ति है। तब खुदको बहुत स्वच्छ निर्मल विविक्त निरखना। स्वयं मैं कैसा हूं, कोई भी पदार्थ हो उसका स्वरूप खुदको मिटानेके लिए नहीं हुआ करता। कोई भी दृष्टान्त बताओ कि जो स्वयं खुदको मिटा दे। देखो सब द्रव्योंमें बात लीजिए। परमाणु का स्वरूप परमाणुको मिटा देनेके लिए नहीं बनता। जीवका स्वरूप जीवको मिटा देनेके लिए नहीं होता। जीवके स्वरूपमें कोई बाधा नहीं है, किन्तु कोई परउपाधिका सम्बंध है उससे बाधा है। उस उपाधिसे हटें और हटनेका उपाय क्या है ? उपाधिसे हटा हुआ ही अपना स्वरूप देखें। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें बिल्कुल नग्न है। वहाँ किसी दूसरे पदार्थका लेप नहीं है। स्वरूपकी बात कह रहे हैं। खुद ही खुद है। खुदमें कोई दूसरा नहीं है, किसी के स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं है। मेरे स्वरूपमें भी अन्यका प्रवेश नहीं है। तो यह खुदके विकारके लिए निमित्त कैसे हो सकता है ? तब मोहीकी बात देखो। विकार तो है, घटाव

बढ़वकी चीज और मैं हूँ शाश्वत चैतन्य। मेरे स्वभावमें घटाव बढ़ाव नहीं होता तो इस प्रसंगमें क्या निरखा जावे ? अपने विकारमें खुद निमित्त नहीं, इससे देखनेको क्या मिला कि जीव ऐसा कुछ अविकार स्वभावी है कि खुद तो अपने आप विशुद्ध स्वभावकी ओर ही रहता है, पर विकार होते तो किस तरह होते ? वे परसंगका निमित्त पाकर होते है। यह तथ्य इस निबंधमें है। अब विकार कैसा संग पाकर होता उसका वर्णन इसके आगेके निबन्धमें होगा।

—•—

(१०)

(५८) विकारमें परसंगकी निमित्तताकी यथार्थता—कल यह कहा गया था कि जीबमें जो विकार होता है उस विकारका निमित्त खुद जीव नहीं है, जीव ही क्या, जगतका कोई भी पदार्थ उस पदार्थके विकारके लिए स्वयं निमित्त नहीं होता। यह एक वस्तुस्वरूप है। यदि खुद ही खुदके बिगाड़का निमित्त हो जाय तो वह बिगाड़ सदा रहना चाहिए, क्यों कि वह ही उसका उपादान है और खुद ही उसका निमित्त हो गया। विकार कहो या बिगाड़ कहो एक ही बात है। कुछ संभालकर बोलो तो विकार शब्द बन गया, कुछ बिगड़े रूपमें बोलो तो बिगाड़ शब्द बन गया। किसी भी पदार्थमें विकार (बिगाड़) होनेके लिए वह खुद निमित्त नहीं होता। इससे क्या शिक्षा मिली कि जीव अपने आप अपने स्वरूपमें स्वच्छ है। अब एक प्रश्न हो जाता है कि जीवके विकारमें जीव खुद निमित्त नहीं है। तो क्या निमित्त है। उसका उत्तर इस निबंधमें है। जीवके बिकारका निमित्त परसंग ही है। जैसे स्फटिक मणिका उदाहरण देकर कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्र सूरिने और जयसेनाचार्यने उसका समर्थन किया कि जीवका विकार परसंगका निमित्त पाकर ही होता है। 'तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्'। यह भी एक वस्तुस्वभाव है। अशुद्ध उपादान निमित्त सन्निधानको पाकर अपने में विकाररूप परिणम जाता है। जैसे कोई दो बालक खड़े हैं, २० हाथ दूरपर। उनमें से एक बालक जीभ निकालकर अंगूठा हिलाकर चिढ़ा रहा है, और दूसरा बालक चिढ़ रहा है, दुःखी हो रहा है, तो उस दूसरे चिढ़ने वाले बालकका निमित्त वह खुद ही तो नहीं है। दूसरा है उसका निमित्त, ऐसे ही समझो कि खुदमें विकार बना तो उस बिकारका निमित्त खुद नहीं होता। वहां निमित्त परसंग ही है।

(५९) जीवविकारके प्रसंगमें निमित्तके द्वैविध्यके परिचयसे निमित्तत्वकी वास्तविकता व उपचरितताकी जानकारी—देखो निमित्तके बारेमें स्पष्ट ज्ञान करनेके लिए निमित्तके दो

प्रकार समझ लेना चाहिए। एक होता है वास्तविक निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। जो कोई यह कथन कहे कि पर पदार्थका आश्रय करें तो पर पदार्थ निमित्त है, आश्रय ही न करे तो निमित्त कुछ नहीं, उनकी यह बात ठीक है, किन्तु यह घटित होता है आश्रयभूत निमित्तमें। जीवोंको वास्तविक निमित्तका परिचय है कहाँ? एकेन्द्रिय जीव क्या जानते हैं? कर्म और कर्मोदय, और मनुष्योंमें भी यहाँ कोई भी नहीं जानने वाले हैं। तो जो अज्ञात है उसका आश्रय कैसे बनता है? हाँ अज्ञातसे तिरस्कार बन जाता है। तिरस्कार अज्ञात से भी होता और ज्ञातसे भी होता, किन्तु आश्रय ज्ञातका ही हो सकेगा। अज्ञातका न होगा। और, देखो जब जीवविकारके प्रसंगमें निमित्तकी बात कहते हैं तो आश्रयभूत निमित्तकी बात कहने लगते हैं मगर अजीव। अजीवमें तो घटावो, कौन किसका आश्रय करता? हाँ अग्निका निमित्त पाकर कागज जल जाता है तो कागज जो जला वह क्या अग्निका निमित्त पाकर जला। आश्रय करनेकी बात तो ज्ञान वाले पदार्थमें होगी, इसने उसका आश्रय लिया। अच्छा अगर कुछ आश्रयकी बात ही यहाँ कहेंगे तो अग्निपर कागज उड़कर आया तो वहाँ कुछ-कुछ अंदाज लगायेंगे कि लो कागजने अग्निका सहारा लिया, कागज जल गया। अगर कोई कागज पर अग्नि धर जाय तो वहाँ कैसे लगायेंगे कि कागजने अग्निका आश्रय किया? तो आश्रयकी बात केवल एक ज्ञानवान पदार्थके विकारमें ही कही जा सकती सो इन बाह्य पदार्थोंमें वास्तविक निमित्तका उदय होनेपर जीवमें विकार होता, लेकिन आश्रयभूत पदार्थका आश्रय लें तो विकार व्यक्त रहता है और आश्रय न लें तो विकार अव्यक्त रहता है। अब रही एक यह बात कि जो अव्यक्त विकार है उसको नष्ट करनेका तरीका क्या है? व्यक्त विकार न हो तो भविष्यमें इसके अव्यक्त विकार भी खत्म हो जायेंगे। व्यक्त विकार न हों इसके लिए आपके पास क्या उपाय है? वह उपाय है चरणानुयोगकी प्रक्रिया। बाह्यपदार्थका आश्रय न लें, यही है व्यक्त विकारके मेटनेका उपाय। तो बाह्य पदार्थोंका त्याग करना ताकि उसका आश्रय न लिया जाय, यही तो चरणानुयोगमें बताया है, तो विकारका निमित्त परसंग ही है और यह एक वस्तुस्वभाव है कि अशुद्ध उपादान परनिमित्तके सान्निध्यमें उपाधिके अनुरूप अपनी परिणमन शक्तिसे विकार रूप परिणम जाता है। यह तथ्य जब ज्ञात होता है तो स्वभावपरिचय दृढ़ हो जाता है ये नैमित्तिक भाव हैं, परका निमित्त पाकर होते हैं। मेरा इनमें कोई स्वरूप नही बसा। मैं तो स्वरूपतः अविकार स्वभाव हूं। ऐसी प्रतीति बनती है इस नैमित्तिक भाव का परिचय हो जानेसे। यहाँ यह ध्यान देना कि विकार मेरा स्वरूप नहीं, विकार परभाव हैं, नैमित्तिक हैं। मैं तो स्वयं अपने आप अपने कुलके अनुसार ही रहता हूं। मेरा कुल है चैतन्यकुल, उसके अनुसार उसकी वर्तना होती है। तो यहाँ अपने आपको विशुद्ध अविकार

स्वभावके रूपमें परख लिया गया।

(६०) **ज्ञानका सदुपयोग आत्महितमें शीघ्रताका पौरुष**—देखो भैया ! जानना किस लिए होता है ? समझानेके लिए ? नहीं। जानना होता है इसलिये कि जो हितकी बात है उसको अभीसे करने लगें। जो देर करेगा हितरूप लाभके लिए उसके लिए देरमें देर होती चली जायगी। तो इस तत्त्वके परिचयसे अपनेको अविकारी ज्ञानस्वरूप अनुभवनेकी शिक्षा मिलती है। ज्ञानमें एक ऐसी कला है कि किसी भी समय आत्मज्ञान जगे तो वहाँ ही सारे संकट दूर हो जायें। तीन आदमी थे, स्वाध्याय करते थे, एक था बूढ़ा, एक था जवान और एक था बालक। तो उन तीनोंमें यह बात तय हुई कि देखो अपन तीनोंमें से कोई एक विरक्त हो जाय तो शेष दो को अपनी विरक्ति बताये और कहे ताकि शेष दो भी उसके साथ होवें। तो कुछ दिन हुए बूढ़े व्यक्ति ने सोचा कि अब तो मरनेके दिन निकट आ रहे हैं। सो अब तो त्याग मार्गमें चलना चाहिए। तो महीनों पहलेसे विचार किया और लड़कों को जो कुछ देना था सो दे दिया। जो जो कुछ भी उसके पास था वह सब कुछ लड़का लड़की वगैरहको दे दिया। इसके बाद वह विरक्त होकर घर छोड़कर चलता है तो बीचमें उस जवानकी दुकान मिली बजाजी की। तो वह बूढ़ा कहता है कि भाई अब हमें वैराग्य जग गया। हम तो अब सब कुछ छोड़ रहे, तो वह जवान उठा और कहा चलो हम भी साथ चलते हैं। तो वह बूढ़ा बोला—अरे तुम यह क्या कर रहे हो, अभी १०-५ वर्ष घर में रहकर सब हिसाब जमा दो, सबको सब कुछ समझाकर सारी व्यवस्था ठीक ठीक बना दो, फिर हमारे साथ विरक्त होकर रहना। तो वह जवान बोला—अरे जिस चीजको छोड़ना है उसको संभालने का क्या विकल्प करना ? मैं तो अभी साथ चलता हूं। चल दिया साथ। अब वे दो हो गए। अब बीचमें लड़का खेलता हुआ मिला। खेल रहा होगा गुल्ली डंडा अथवा कबड्डी अथवा कुश्ती वगैरहके खेल। देखिये पहले एक ऐसा जमाना था जब कि ऐसे ही शारीरिक श्रम पड़ने वाले खेल खेले जाते थे। और आज कलके खेल ऐसे खेले जाते हैं कि जिनमें खेलने वालोंको कुछ शरीरिक श्रम नहीं पड़ता, जैसे आइसवास तास, कैरम्बोट आदिक। आजकल तो सोचते हैं कि खेल ऐसे खेलो कि जिनमें शारीरिक श्रम भी कुछ न पड़े और मनभर जाय। ऐसे खेलोंमें तो समय ही व्यर्थ जाता और लड़ाईके बहुत से मौके मिलते हैं। तो रास्तेमें वह लड़का खेल खेल रहा था, दोनोंने कहा भाई हम दोनों तो विरक्त होकर जा रहे तो उस लड़केने तुरन्त गुल्ली डंडा फेंका और बोला हम भी साथ चलेंगे। उन्होंने बहुत समझाया कि अरे अभी बच्चे हो, कुछ दिन घरमें रहकर घरके सुख देख लो, पीछे विरक्त हो जाना। तो वह बालक बोला कि अरे जब कीचड़को साफ ही करना

पड़ेगा तो फिर उस कीचड़को लगाने की जरूरत ही क्या ? वह बालक भी उनके साथ चला गया। अब परिणामोंकी बात देखो उस बूढ़ेने तो ६ महीने पहलेसे ही सारे हिसाब किताब बना दिया और जब यह समझ लिया कि अब तो मरनेके दिन निकट आ गए तब वह विरक्त हुआ, और जवानने यह सब कुछ न सोचा और उस बालकने भी कुछ सोचा विचारी नहीं की, यों ही सीधे चल दिया। देखो पुरुषोंमें अनेक प्रकारके पुरुष देखे जाते हैं, कोई छोटी उम्रसे ही विरक्त चित्त रहता है और उसके ज्ञानमें प्रवाह रहता है। उसका पूर्वसमय ऐसा ही गुजरा होगा जिसका संस्कार लगा है तो झट धार्मिक बात हो जाती है। तो ये जो नाना प्रकारके विचारोंमें, विकारोंमें, प्रयत्नोंमें चल रहे हैं उसका निमित्त वही जीव नहीं किन्तु परसंग है और वे पर पदार्थ हैं। वास्तविक निमित्त कर्म उपाधि है। देखो इसमें वस्तुकी स्वतंत्रता नहीं मिटी। इसके लिए निमित्त नैमित्तिक भावसे डरना यह ज्ञानकी दुर्बलता है। निमित्त नैमित्तिक भाव न मिट जाय इसके लिए वस्तुस्वातंत्र्यका विरोध करना ज्ञानकी निर्बलता है कमजोरी है। दोनों ही बातें बराबर दिख रही हैं। तो जीवके विकारमें निमित्त परसंग ही होता है। स्वयं कभी निमित्त नहीं होता। तो ऐसा जानकर अपनेमें यह परखिये कि मैं तो स्वतः सहज ज्ञानमात्र ही हूं। मेरेमें न कुछ अधूरापन है और न किसी अन्यका प्रवेश है। ऐसा यह मैं परमार्थ सत् आत्मतत्त्व हूं। उसकी श्रद्धा करें तो गौरव बढ़ेगा, आत्मबल बढ़ेगा, धीरता जगेगी, अधीरता खतम हो जायगी। परपरिणतिके लगावसे ज्ञान में कमजोरी आती है। परपदार्थका लगाव छोड़ने से ज्ञानमें बल बढ़ता है। तो बिल्कुल तो छोड़ नहीं सकते गृहस्थजन, तो जितना बने उतना छोड़ना तो चाहिए। एक यह बात है। जो रागी है वह कर्मसे बंध जायगा, जो विरागी है वह कर्मसे छूट जायगा। तो ऐसे इस विकारको मानो भार विपदा, विडम्बना और समझो कि ये नैमित्तिक भाव हैं। ये दूर हो जायेंगे। ये मेरे स्वरूपमें से प्रकट नहीं हुए। यह शिक्षा मिलती है नैमित्तिकभावके शुद्ध परिचयमें।

—०—

(११)

(५१) परिणमनकी विधि—इस विश्वमें जहाँ जो कुछ काम हो रहा है वह काम किस प्रकार होता है, उसकी पद्धति इस निबन्धमें कही जायगी ? देखिये—कार्य दो प्रकारके होते हैं—एक तो होते हैं समान कार्य और एक होते हैं विषम कार्य। समान कार्य कहो,

स्वाभाविक विकास कहो। जैसे भगवान अरहंत प्रभुमें जो केवलज्ञान केवलदर्शन, अनन्त आनन्द आदिक विकास चल रहे हैं वे सब समान चल रहे हैं। और यहाँ देखो हम आपके जितने कार्य हैं, विकार है, विकास है वे सब विषम चल रहे हैं। कभी क्रोध, मान, माया, लोभ, शान्ति, कल्पना सुख दुःख आदिक कितनी ही तरहके बदल चलते हैं। तो अपने आपमें तक लीजिए। तो जो विकार हैं वे तो हुआ करते हैं विषम और जो स्वाभाविक विकास है वह होता है सम। तो स्वाभाविक विकास जब पहले क्षणमें उत्पन्न होता है उस समय स्व-भावकी रोक वाले निमित्तका अभाव निमित्त होता है। और उसके बाद अनन्त काल तक जो स्वभाव अपनी धारामें चल रहा है विकास उसमें कोई निमित्त नहीं होता। कालद्रव्य तो एक साधारण निमित्त है। उसका तो कहीं निषेध नहीं किया जा सकता। मगर सर्वसाधारण निमित्तभूत कालकी चर्चा नहीं होती, क्योंकि वह साधारण है। तो स्वाभाविक विकासमें कोई बाह्य वस्तु निमित्त नहीं, किन्तु जितने विकार हैं, विषम परिणमन हैं ये अपने आपके निमित्तसे नहीं हुआ करते। तो फिर ? पर निमित्तका सन्निधान पाकर होते हैं। इसी विषय में यह निरखना है कि वस्तुकी स्वतंत्रता भी चल रही है और विकार कार्य निमित्तके सन्नि-धान बिना होते नहीं, यह आप सर्वत्र घटाते जायें। जैसे रोटी पकाया बनाया तो रोटी तो आटेसे बनती है, कहीं महिलाके हाथसे नो नहीं बन जाती। रोटीका उपादान तो आटा है, आटेमें ही उसका परिणमन चलता है। यह तो है एक वस्तुस्वातंत्र्यकी बात। उस आटेके परिणमनको महिलाने नहीं किया, महिलाका प्रयत्न, हाथ पड़ा तो निमित्त है। लेकिन पसरी, सिकी तो वह तो अपने आपमें वही पसरी, सिकी। हाँ तो ऐसे ही यहां विचार करो कि जीवमें जो विकार उत्पन्न होते, रागद्वेष मोहभाव उत्पन्न होते हैं ना तो सुनो। ये विकार जीवपरिणतिसे हुए यह तो है परिणमनस्वातंत्र्य, किन्तु निमित्त सन्निधान बिना विकार नहीं हो सकते यह है अनिवारित निमित्तनैमित्तिक भाव। विकार परिणमनके प्रसंगमें ये दोनों तथ्य अविरोध रूपसे एक साथ बने हुए हैं। सब जीवोंमें क्या मतलब पड़ा है किसी दूसरी वस्तुसे मोह और लगाव लगानेसे। घरमें जो लड़का है वह भी दूसरा जीव है। कहींसे आया है, अपनी उम्र तक रहेगा, उम्र समाप्त होनेपर चला जायगा। किसीसे कोई सम्बंध है क्या ? लेकिन दुनियाके लोग इस लगावके कारण कितना परेशान हैं। तो यह लगाव, यह विकार बनता किस तरह है ? अभी परसों बताया था कि इन विकारोंके होनेमें खुद निमित्त नहीं होता। यदि विकारका निमित्त खुद बने तब तो फिर ये विकार कभी नहीं मिट सकते। उपादान भी खुद, निमित्त भी खुद, विकार फिर मिटे कैसे ? और कल यह बताया गया था कि विकार परसंग निमित्तपूर्वक हुआ करते हैं, स्व प्रत्ययक नहीं हैं। एक बात और समझो,

जो आगममें लिखा है—स्वाभाविक पर्याय तो होती है स्वप्रत्ययक और विकार होता है स्व-परप्रत्ययक। याने वहाँ है स्व उपादान और परपदार्थ निमित्त।

(६२) **विकारपरिणमनकी विधि**—कैसे विकार होता उसकी चर्चा चल रही है यहाँ जीवमें जो विकार होता, क्रोध विकार होता तो जीवमें स्वभाव तो नहीं है क्रोध करनेका। कषाय करनेका जीवमें स्वभाव नहीं होता। किसी भी पदार्थका स्वभाव विकार रूप नहीं होता। वह तो अपने आपमें है। देखो परनिमित्त बिना विकार नहीं होता और निमित्त विकार नहीं करता, इन दो बातोंको सही समझना है। पदार्थका क्या स्वरूप है यह समझनेके लिए चले तो क्या स्वरूप है? कोई कहता है कि अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं है, और अपने स्वरूपमें अनेक गहराइयाँ हैं। उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टिमें चले जायें तो निषेध होता चला जाता और अंतमें कोई ऐसी चित्ज्योतिकी बात आती कि जिसको लखकर कोई कह देता है कि वह कुछ नहीं है। और, कुछ है भी नहीं, मायने राग नहीं, द्वेष नहीं, विकार नहीं, कर्म नहीं, जो चिन्ह हैं, जो पकड़े जाते वे आत्मामें कुछ नहीं हैं। तो क्या है आत्मा? यह बात बातोंसे नहीं बतायी जा सकती खुद अनुभव करके देखो जो जिनेन्द्र भगवान हुए उनकी भक्ति करते हुएमें अपने आपके ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव हो जाय तो बस बेड़ा पार हो जायगा। संसार संकटोंसे छुट्टी मिल जायगी। यही काम नहीं किया अब तक। भव-भवमें सब कुछ पाया, राज्य पाया, धनिक हुए, बड़ी आज्ञा की, बहुत बहुत बड़ी बातें हुईं, मगर आत्माका सत्य बोध नहीं हुआ जिससे यह जीव संसारमें अब तक रुलता रहा। उस आत्माका परिचय करें तो वह परिचय आपको अनुभवसे आयगा, बातोंसे न आयगा। वैसे तो उत्तर देंगे कि कोई कहें कुछ है नहीं कोई कहे कुछ है, है और ना के बीचमें जो कुछ है सो है। स्वानुभव-गम्य है यह अंतस्तत्त्व उसका उपाय कैसे बने? उसके लिए यह ही निर्णय कहा जा रहा है कि वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव जानो। हाँ तो निमित्त क्या कहलाता? वह पदार्थ जो उपादानसे अत्यन्त निराला है और जिसके असन्निधानमें कार्य नहीं होता। और उपादान क्या कहलाता कि जिसमें कार्य बन रहा, जो कार्यरूप परिणम रहा उसे कहते हैं उपादान। जैसे घड़ा बनता है तो मिट्टी तो उपादान है और कुम्हारका व्यापार निमित्त है, ऐसे ही जब जीवमें विकार होता है तो जीव तो उपादान है, उसमें विकार परिणमन है और कर्म प्रकृतिका उदय यह निमित्त है। तो यहाँ यह बात समझना है कि निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, किन्तु उपादान ही अनुकूल निमित्तको पाकर अपनी ही कलासे, अपने ही बलसे, अपनी ही योग्यतासे विकाररूप परिणम जाता है।

(६३) **विकारपरिणमनविधिका संक्षिप्त ब्योरा**—एक मोटा दृष्टान्त यहीं आप ले

लो। हम बोल रहे हैं और आप लोग इसमें निमित्त हो रहे हैं। आपको हम सुना रहे हैं ना तो आप हमसे बुलवा रहे हैं क्या ? यहीं आप निरख लो, आप लोग हमको कुछ कर तो नहीं रहे। आप अपनी जगह बैठे हैं, हम स्वयं अपना ही लक्ष्य बनाकर अपनी ही परिणति से, अपने ही बलसे, अपनी ही कलासे हम आगे आप बोल रहे हैं। अब यहीं देख लो आप निमित्तने हममें कुछ नहीं किया, और आपका सन्निधान आया। ऐसा न होता तो हम बोलते भी नहीं। दोनों बातें एक साथ परखते जावो। अगर आप लोग यहाँ न होते तो अकेले ही तख्तपर बैठकर इस तरहसे हाथ हिला हिलाकर हम न बोलते, और यदि बोलते तो लोग समझते कि आज महाराज जी को न जाने क्या हो गया ? देखिये यह एक मोटा दृष्टान्त दे रहे हैं। यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्तकी बात नहीं है। यह तो एक आश्रयभूतकी बात है। अब अन्वयव्यतिरेकी निमित्तकी सोचो। कर्मप्रकृतिका उदय कर्मपर अपने आपपर आता, क्योंकि पहले उनकी स्थिति बँधी पड़ी थी। तो स्थिति पड़ी हो तो उदय जवश्य हो आयगा। उदय किसीकी कृपासे नहीं आता, वह तो अपने समयपर आता ही है। कोई कारण कलाप मिल जाय। आत्माके निर्मल भाव बने अथवा आत्माके संक्लेश भाव बनें तो कर्मकी उदीरणा भी हो सकती है। उदय अपने आप आता है। जैसे एक कलईका डला ले लो वह अभी दो दिन पहले बनाया गया, मान लो उसकी म्याद ६ माहकी है। ६ माहके बाद वह टिक नहीं सकता, बेकाम हो जायगा, मगर उसपर कोई अभी दो दिन बाद ही पानी डाल दे तो वह कलईका डला तो बीचमें ही उबल जायगा ना ? तो ऐसे ही समझो कि आत्माके परिणामों का निमित्त पाकर कर्मोंमें उदीरणा होती है। देखो निमित्तनैमित्तिक भाव दोनोंकी ओरसे है। आत्माके विशुद्ध भावका निमित्त पाकर कर्मोंमें सम्वर निर्जरा होती है। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवमें विकार होता है। तो हुआ यह सब ठाठ मगर निमित्तने उपादानमें कोई परिणति नहीं की। यह अबाधित नियम है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें त्रिकाल परिणमन नहीं कर सकता और यह अपने ६ साधारण गुणोंमें ही आ गया। अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं ? स्वयंके प्रतापसे द्रव्य अपने स्वरूपमें परिणमे, पररूपमें न परिणमे, यहांसे ही ब्रेक हो गया। यहाँसे ही जान लिया गया। तो निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, मगर जितने विकार होते हैं वे निमित्त बिना नहीं होते और उनका निर्माण ही इसी प्रकार है। विधान ही यह है।

(६४) वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इन दोनोंके परिचयसे प्राप्त शिक्षा— अब यहां यह देखिये कि इन दोनों ही निर्णयोंसे याने वस्तुस्वातंत्र्य है और निमित्तनैमित्तिक भाव है इस निर्णयसे मोक्षमार्गके लिए क्या प्रेरणा मिलती है ? यह बात बतावेंगे। तो अभी

यह बात आयी कि निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, क्योंकि निमित्तका उपादानमें अत्यन्ताभाव है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें त्रिकाल अभाव है अर्थात् कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप बन ही नहीं सकता और कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यमें न अपना कोई उत्पाद करता, न व्यय करता। निमित्त अपनेमें काम करता हुआ ठहर रहा, उपादान अपनेमें परिणमता हुआ रह रहा। जैसे कुम्हार मिट्टीका घड़ा बना रहा तो कुम्हार क्या कर रहा कुम्हार यह कर रहा जरा तुम किसी मिट्टीको न देखो, केवल हाथ हाथको देखो तो जैसे जैसे हाथ चला रहा, बस वह कर रहा, उसका सन्निधान पाकर मिट्टी अपने आपमें पसर रही है, बन रही है। तो प्रत्येक द्रव्यका काम उसका अपने आपमें होता है। अन्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है। तो निमित्त बिना विकार नहीं होता यह बात यहाँ ध्यानमें लानेकी है। तो ऐसा है यद्यपि तो भी विकार परिणमन निमित्तके सन्निधान बिना नहीं होता। उदाहरण तो दे कोई कि कोई भी विकार परसंग पाये बिना हो गया हो। परसंग पाये बिना विकार नहीं होता इतने पर भी परने इसमें विकार उत्पन्न नहीं किया। देखिये कितना तथ्य भरा हुआ है कि निमित्त नैमित्तिक भाव होते हुए भी निमित्तने उपादानमें कुछ नहीं किया और निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, फिर भी विकार निमित्तसन्निधान बिना नहीं होता। दोनों तथ्य एक साथ दिखते हैं ज्ञानी जीवको। स्वातंत्र्य भी पदार्थमें बिराज रहा है और निमित्त नैमित्तिक भाव भी यह सब दिख रहा है। रोज रोज प्रयोग तो करते हैं और वस्तु-स्वातंत्र्य भी बोलते हैं। अगर हाथ रोटी बना दे तब तो बड़ा सस्ता काम हो जायगा। फिर तो आटेकी कुछ जरूरत ही न रही, बस बहूके हाथ ही रोटी बना देंगे। तो ऐसा हो सकेगा क्या ? निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, फिर भी विकार निमित्त सन्निधान बिना कभी नहीं होता, क्योंकि निमित्त योग बिना तो उपादान अगर परिणमेगा तो स्वयंमें स्वभावरूप बनेगा, विकार रूप न बनेगा। ये दोनों बातें वस्तुमें तथ्यभूत हैं। अब यहाँ यह परखना है कि हमने जान लिया कि वस्तुस्वातंत्र्य है और निमित्त नैमित्तिक भाव है। अब इन दोनोंके जाननेसे हमको लाभ क्या मिला ? शिक्षा क्या मिली ? देखो जब यह जाना वस्तुस्वातंत्र्यमें विकाररूप परिणमता हुए मुझे कर्म विकाररूप नहीं बनाता तो एक शूरता प्रकट होती है। अगर यह श्रद्धा बन जाय कि कर्म मुझमें विकार करते तो फिर इस तरहसे तो एक कायरता आयगी। अरे मैं क्या करूँ, कर्म ही सब कुछ कराते हैं। मेरा तो कुछ वश ही नहीं। मैं तो कुछ कर ही नहीं सकता। सब काम कर्मके आधीन है, इस तरहसे तो वहाँ कायरता है, और जहाँ जाना कि कर्म मुझे कुछ नहीं कराते। मैं अपने आपमें परिणमता हूं, हाँ निमित्त को पाकर परिणमता, लेकिन निमित्त नहीं परिणमाता, मैं स्वयं परिणमता हूं। तो एक

शूरताका भाव आया कि मैं अपने को संभालूँ तो यह कर्मबन्धन तो तड़ तड़ टूट जायगा। एक शौर्य प्रकट होता है। और देखो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनमें बड़ी सुगमता मिलती है। कैसे मेरेमें विकार हुआ। यह विकार नैमित्तिक है। मेरा स्वरूप नहीं है। निमित्त पाकर हुआ है। मेरे गाँठकी चीज नहीं है। मैं तो स्वभावरूप हूं, चैतन्यमात्र हूं, ऐसा यहां बोध जगे तो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनमें सुविधा मिलती है। ये दोनो ही तथ्य हैं और दोनो ही तथ्योंके परिचयसे हमें यहां मोक्षमार्गमें मदद मिलती है।

—०—

(१२)

(६५) वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव हुए बिना दृश्यमान लोकके अस्तित्व मिटनेका प्रसंग—वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव ये दो बातें कह रहे हैं, ध्यान से सुना होगा। प्रत्येक वस्तु अपनी परिणतिसे ही परिणमती चली जाती है, दूसरा नहीं परिणमाता, यह तो है वस्तुस्वातंत्र्य और विकार जितने होते हैं वे निमित्त योग बिना नहीं हो सकते, यह है निमित्तनैमित्तिक भाव। तो देखो दोनों ही बातें एक वस्तुमें अविरोधरूपसे रहती हैं। ऐसा नहीं है कि निमित्तनैमित्तिक भाव है तो वस्तुस्वातंत्र्य न जगेगा और वस्तुस्वातंत्र्य है तो निमित्तनैमित्तिक भाव न जगेगा, ऐसा नहीं है। तो ये दोनों बातें एक वस्तु मे अविरोध रूपसे रहती हैं, क्योंकि दोनोकी सत्ता अलग अलग है, निमित्तका अस्तित्व उसमें है, उपादानका अस्तित्व उसमें है। जैसे कुम्हारका अस्तित्व कुम्हारमें है और मिट्टीका अस्तित्व मिट्टीमें है और देखो अपना अपना काम कर रहे हैं तिसपर भी सम्बन्ध दिख तो रहा है, कुम्हार मायने हस्तादिककी क्रियायें कर रहा और घड़ा बन रहा। तो दोनों बातें एक जगह रह सकती हैं, उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। सब सत् न्यारे-न्यारे हैं, सबका अपने अपनेमें उत्पाद व्यय होता है इसलिए वस्तुस्वातंत्र्यका किला अभेद्य है, त्रिकाल औपाधिक है। वस्तुस्वरूप, अणु अणु प्रत्येक पदार्थ परिणमेगा तो अपने स्वरूपमें परिणमेगा, जैसे दर्पण के आगे कितने ही कागज लगा दें पर परिणमेगा तो वह दर्पण ही का प्रतिबिम्बरूप। कागज तो न परिणम जायगा। तो वस्तुकी स्वतंत्रता अभेद्य है। अगर वस्तुस्वातंत्र्य न होता तो जगतमें आज पदार्थोंकी सत्ता न रहती, सब शून्य हो जाता, क्योंकि एकने परिणमा दिया दूसरेको दूसरेने परिणमा दिया इसको क्या रहा ? न वह रहा न यह रहा, सारा जगत शून्य

हो जाता । तो वस्तु स्वयं तो एक अभेद्य जैसा है । विकाररूप परिणमन किसी भी पदार्थका स्वभाव नहीं है । देखो दृष्टान्त तो बहुत दिए जाते हैं मगर इसके लिए बाहरी कोई दृष्टान्त नहीं मिल सकता । कहते है कि अग्निका सन्निधान पाकर जल अपने स्वभावको छोड़कर गर्म बन गया, पर यह तो बताओ कि जलका स्वभाव क्या ठंडा है ? कहते तो हैं दृष्टान्तमें, मगर जब तत्त्वकी बात देखा तो जलका स्वभाव ठंडा नहीं, जलका स्वभाव गर्म नहीं । ठंडा भी निमित्त योग पाकर होता है, गर्म भी निमित्त योग पाकर होता है । जलका स्वभाव तो द्रवत्व है, मायने कहना, ऐसा शील होना और देखो जल कोई द्रव्य नहीं है तभी तो जलका यह द्रवत्व सदा कहां रहता ? तो पदार्थ नहीं है जल जो उसमें कोई बात घाली जाय । दृष्टान्त जब जब दिया जाता है तो दृष्टान्त एक देश होता है । द्रव्य तो पुद्गल अणु है और पुद्गल अणुका जो स्वभाव है वह स्वभाव है और उसके विपरीत जो भाव है वह विकार है । तो किसी भी वस्तुमें मेरा स्वभाव मेरे विकारके लिए नहीं हुआ करता । तो कोई भी पदार्थ, कोई भी सत् अपने आपकी ओरसे विकाररूप परिणमता नहीं है । खुद खुदके विकार का निमित्त नहीं होता । तब होता क्या है कि जब परउपाधिका संग मिलता उस समय उपादान अपनी योग्यतानुसार अपनेमें अपना विकार परिणमन कर लेता ।

(६६) **अन्वयव्यतिरेकी कर्मदशा निमित्तके अनुरूप भाववर्तनका चित्रण**—देखो एक दृष्टान्त है । कोई एक वेश्या मरी और उसे लोग जलानेके लिए ले जा रहे थे तो मुनि महाराजने देखा तो उनका तो यह भाव हुआ कि ऐसा दुर्लभ मानव जीवन पाया और इसने इसे व्यर्थ ही खो दिया । और कोई कामी पुरुष जिसका उससे परिचय था उसका यह भाव हुआ कि यह यदि दो चार माह और जीवित रहती तो हम उसके साथ कल्लोल ही करते, और वहाँ कुत्ता श्रृगाल वगैरहके ये भाव हुए कि यदि ये लोग इसे जलाते नहीं, यों ही छोड़ जाते तो हमारा कई दिनोंका भोजन बनता । अब देखो वेश्याका शरीर तो एक है । यदि किसी भावका निमित्त होवे तो सबके एक समान भाव बनना चाहिए था । मुनिके भावोंमें और कामी पुरुषके भावोंमें ऐसा फर्क क्यों ? तो यह बाहरी जो शरीर है यह निमित्त नहीं कहलाता । निमित्तके अनुरूप काम जरूर हो रहे हैं । मुनि महाराजके अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि १२ कषायोंका अनुदय है इसलिए उनका ऐसा शुद्ध परिणाम रहा । तो उस वेश्याके मृतक शरीरको देखकर अपनी योग्यताके अनु
मुनिराजने, और कामी पुरुषके इन कषायोंका उदय है—पुरुषवेद, स्त्रीवेद आदिक वेदोंका तीव्र वेग है तो उस निमित्तके अनुरूप उसके वे भाव बन गए, ऐसे ही कुत्ता, श्रृगाल आदिक के क्षुधा तृषा वेदना आदिकका उदय है तो उनके वैसे भाव बन गए । तो

निमित्त नहीं कहलाते, इनको तो हम जिस प्रकार ढालें उस प्रकार ढल जायेंगे। जैसा विचार करेंगे उस प्रकारका विचार बन जायगा। तो यह बात कही गई है कि निमित्त उपादानमें कुछ नहीं करता, फिर भी जितने विकार होते हैं वे निमित्त पाये बिना नहीं होते। तो देखिये पर उपाधिके संगके समय यह उपादान अपनी योग्यतासे अपनी परिणतिसे अपनी परिणमन शक्तिसे अपनेमें विकार उत्पन्न करता है। यों विकार परिणमनमें निमित्त नैमित्तिक भाव है, इसका कोई निषेध नहीं कर सकता। और इतना होने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य है ही, इसका भी कोई निषेध नहीं कर सकता। ऐसे दोनों तथ्योंको जो ज्ञानी पुरुष देखता है वह दोनोंसे मिलने वाली शिक्षाके द्वारा हितरूप प्रयोग करता हुआ अपने आपमें उतर जाता है।

—०—

(१३)

(६६) **परिणमनकी नियतता व अनियतताकी समस्या**—विश्वमें जो कुछ हो रहा है, जो भी परिणमन है वह सब परिणमन एक नियत है अथवा अनियत, इस ही को कहो क्रमबद्ध होता है, उस ही क्रमसे होता है या अक्रम, इस प्रश्नका समाधान इस निबंधमें चलेगा। देखो पहले एक मोटी दृष्टि दो। एक लोकव्यवहारके लिए सामान्यतया तो क्रम बना हुआ है और विशेषतया क्रम नहीं बना। जैसे उत्सर्पिणी काल अवसर्पिणी काल ये क्रमसे चलते हैं ना? पहले कालके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा, ५ वाँ, छठा, फिर छठा, ५ वाँ, चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला। यह एक साधारण बात कह रहे हैं और उसके अन्तर्गत कुछ क्रम नहीं दिखता है। जैसे बीच १२-१२ वर्षका युग होता है तो अब १२ वर्षमें घट गया फिर बढ़ गया। भले ही इस चतुर्थकालमें जो बीत रहा था ऋषभदेव भगवान हुए उसके बहुत बाद काल तक धर्मप्रवृत्तिका साधन न रहा, बादमें अजितनाथ भगवान हुए। तो ऐसी एक लौकिकी नीतिके अनुसार ऐसी घटना देखी जाती हैं। लेकिन यहाँ लौकिकी ढंगकी बात नहीं विचारना है। एक तात्विक चर्चा है कि ये पर्यायें सब इस ही क्रमसे नियत हैं। अथवा अनियत इस विषयमें दो बातें पहले मुख्य समझना है। नियत होने की बात ज्ञानसे समझी जाती है या साधनसे समझी जाती है। सर्वप्रथम दो बातों पर विचार करना है। नियत होनेकी बात ज्ञानद्वारा समझी जाती है, साधन द्वारा नहीं समझी जाती। यद्यपि साधनमें यह निर्णय पड़ा है कि कौनसे साधन किस प्रकारके कार्यके निमित्त होते हैं। और जिसका

उपयोग आप प्रतिदिन करते हैं जैसे रसोईमें आग साधन है, उससे रोटियाँ सिक जाती हैं तो वहाँ एक निर्णयरूप नियतपना है कालक्रम वाले नियतकी बात नहीं है। एक होता है निर्णयरूप नियत और एक होता है ज्ञानद्वारा नियत और एक विचारणीय है उपचरित होगा साधन द्वारा नियत। कालक्रममें नियत तो देखो निर्णयरूप नियत भी सम्भव है और ज्ञानद्वारा नियत भी सम्भव है, पर उत्पत्तिके माध्यमसे साधनके विधानसे नियत है अथवा अनियत, केवल यहाँ विसम्वाद रहता है। जैसा चाहे नियत हो चाहे अनियत जो कुछ भी होगा ज्ञानस्वभावके कारण प्रभुने जान लिया, अब जाननेकी ओरसे नियत है, पर जाननेकी ओरसे नियतका निर्णय एक निर्णय नहीं कहलाता कार्यके लिए।

(६८) **ज्ञापक हेतुसे कार्यविधानका निर्णय न होकर कारक हेतुसे ही कार्यविधानकी संभवताके प्रदर्शनमें स्वभावपर्यायोंकी नियतताकी सिद्धि**—कार्यके हेतु दो प्रकारके होते हैं—एक कारक दूसरा ज्ञापक। ज्ञापक कार्यका कारण नहीं होता। किन्तु ज्ञापकका कार्य विषय होता है। कारकमें कार्यका कारण देखा जाता है। ज्ञापक कारण हेतु नहीं कहलाता, किन्तु ज्ञान कराने वाला कहलाता है। जान लिया, जो भी जान लिया, जिसे भी जान लिया, जाननेसे वहाँ कार्यका निर्णय नही, क्योंकि जानना कार्यका हेतु नहीं है, बल्कि कार्यका कार्य है जानना उपचारसे। अर्थात् जैसा होगा, जो कुछ होगा उसे विषयभूत करके ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है, ज्ञानमें वह विषय बना है तो अब समझना है उत्पत्ति द्वारा कि ये पदार्थ इस क्रमसे नियत हैं अथवा नहीं। ज्ञानद्वारा नहीं, उसका तो फंसला अभी हो गया। जो कुछ होगा, जैसा जो कुछ है ज्ञानद्वारा ज्ञात हो गया तो ज्ञानकी ओरसे अब नियत कह लो, मगर नियतपनेकी बात कारणमें लगाना चाहिए, ज्ञान तो ज्ञापक कहलाता है। अब जब कारणकी ओर चलते हैं तो विश्लेषण करके चलो। कार्य कहलाये दो प्रकारके एक स्वभावकार्य और एक विभावकार्य। स्वभावकार्य स्वप्रत्ययक होता है, विभावकार्य स्वपरप्रत्ययक होता है। जैसे प्रभुका केवलज्ञान परिणमन, स्वभाव परिणमन, वह सब स्वप्रत्ययक है। केवल निजके कारणसे है। उसमें कोई परपदार्थ निमित्त नहीं है। कालद्रव्यकी चर्चा यों नहीं की जाती कि वह सर्वसाधारण निमित्त है। कहीं निमित्त हो, कहीं निमित्त न हो ऐसी बात कालद्रव्यमें नहीं है, इसलिए उसके निर्णयकी आवश्यकता नहीं। तो जितने भी स्वभाव परिणमन हैं वे सब स्वप्रत्ययक होते हैं। खुद हीके कारणसे होते हैं। जैसे सिद्ध भगवान, उनमें अनन्त आनन्द आ रहा है। तो वह अनन्त आनन्द क्या किसी परपदार्थका निमित्त पाकर आ रहा या किसी परका आश्रय करके आ रहा? वह तो स्वके आश्रयमें ही उत्पन्न होता है इसलिए उस आनन्दमें यह निर्णय पड़ा है कि आनन्दके बाद आनन्द, ऐसा ही परिणमन अनन्त काल तक चलता

रहेगा। तो स्वभाव पर्याय नियमसे नियत ही है। दूसरी बात आ ही नहीं सकती।

(६६) **विभावपर्यायोंकी विधानानुसारिता होनेसे अनियतताकी सिद्धि**—अब विभाव पर्यायकी बात देखो, उत्पत्तिके द्वारसे द्रव्यमें स्वभावत: विकार नहीं है। और, कोई भी द्रव्य अपने विकारमें खुद निमित्त होता नहीं। यह बात कुन्दकुन्द देवकी गाथासे बिल्कुल स्पष्ट है। उसमें उदाहरण दिया है कि जैसे स्फटिक मणि अथवा काँच परिणमन करनेका स्वभाव तो रखता है मगर स्वयके विकार करनेका वह निमित्त नहीं बनता। क्या दर्पण स्वयंके नाना प्रतिबिम्बोंका निमित्त हो जायगा? तो स्वयं विकारका निमित्त न होनेसे स्फटिक मणि स्वयं रागादिक रूपसे नहीं परिणमता। ये ही शब्द हैं ठीक श्री कुन्दकुन्द देवके और अमृतचन्द्र सूरिके। तब फिर होता क्या है कि इस दर्पणमें रागादिकके निमित्तभूत जो कोई परद्रव्य कपड़ा आदिक जो कि स्वयं राग अवस्थाको प्राप्त हैं और वह दर्पण काँचके लालप्रतिबिम्बका निमित्त भूत है, तो उसके द्वारा यह रागादिक रूपसे परिणम जाता है। इसका अर्थ यह समझना कि निमित्तका सन्निधान पाकर यह दर्पण अपने आप विकाररूप परिणम जाता है, तो बात यह आयी ना कि द्रव्यमें हमेशा एक पर्याय होती है, आगे क्या पर्याय हो विकार रूपकी तो जैसा निमित्त सन्निधान पाये उस अनुरूप अपनी योग्यताके कारण विकाररूप परिणमता है। देखो उत्पत्तिनयकी अपेक्षा बात चल रही है, उस बीचमें यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता तो क्या और प्रकारका निमित्त होगा? सर्वज्ञने या ज्ञानीने देखा, उससे विपरीत होगा क्या? इस प्रश्नका वहां अवकाश न रखना, नहीं तो आप उत्पत्तिनयका जौहर नहीं समझ सकते। जब उत्पत्तिनयसे वर्णन चलता है तब आप ज्ञान सर्वज्ञ ये सब ख्याल छोड़ दीजिए। तब आप विधानकी दृष्टिका निर्णय पा सकेंगे। जब जिस नयसे वर्णन होता है तब उस नयसे उस वर्णनको समझना चाहिए। तो उत्पत्तिनयकी अपेक्षासे जैसा विधान होता है उसके अनुरूप अपनी योग्यतासे उपादानमें परिणमन चलता है। इसी बातको स्पष्ट किया है कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथामें कि जो बात जिस जिस देशमें जिस कालमें जिस विधानसे होता हुआ जाना गया है वह इस प्रकार होता। यहाँ और तो बात सब एकदम सीधी समझ लेवें, पर 'जेण विहाणेण' जिस विधानसे इतने शब्दका इतना मर्म है वह उत्पत्तिनयका समर्थन करता है। सो यहां जानना कि ये पदार्थ ज्ञानकी ओरसे, ज्ञापकताकी ओरसे नियत हैं। जिस प्रकार होता है सो होता है और विधानकी ओरसे पदार्थ अनियत है। यदि विकार द्रव्यमें अपनी सामर्थ्य से नियत है तो उनको हटाने वाला कौन होगा? और जब जीवके निमित्त सन्निधान पाकर ये विकार होते है तो वे हटाये जा सकते हैं। देखो बात कितनी सीधी है, प्रेक्टिकल करके देख लो। एक दर्पण सामने रख लीजिए और हाथकी अंगुलियाँ जब चाहे सामने लावो जब

चाहे हटा दो तो आप यह परखेंगे कि हाथका सम्बंध पाकर इस दर्पणमें प्रतिबिम्ब हुआ। दर्पणमें प्रतिबिम्ब नियत नहीं है, किन्तु दर्पणमें ऐसी योग्यता है कि जैसा निमित्त सन्निधान पाये, अपनेमें विकारपरिणमन खुद अपनी शक्तिसे कर ले।

(७०) **निमित्तनैमित्तिक भाव न माननेपर सत्कार्यवादका प्रसंग**—देखो एक सांख्य दर्शन है सत्कार्यवाद। यह अन्य दर्शनकी बात कह रहे हैं। सत्कार्यवादका अर्थ यह है कि भविष्यमें जितने भी कार्य हैं वे सब पदार्थोंमें भरे पड़े हुए हैं, उनकी व्यक्ति क्रमसे हुआ करती है। कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु व्यक्ति होती है। ऐसा सत्कार्यवादका सिद्धान्त है और उसकी दलीलें भी हैं। असत् क्यों नहीं उत्पन्न होता ? और की और पर्याय क्यों नहीं हो जाती, आदिक युक्तियोंसे सिद्ध करते हैं कि पदार्थोंमें कार्य सब भरे पड़े हुए हैं और उनकी व्यक्ति होती है। तो दृष्टान्तमें देते हैं कि जैसे बरगदके फलका एक बीज होता है उस बीज में क्या क्या भरा पड़ा है ? सैंकड़ों पेड़ भरे पड़े हैं उतनेसे बीजमें, करोड़ों फल भरे हैं। और जब उसका एक योग होता है, बो दिया, पेड़ बन गया तो यह अभिव्यक्ति कहलाती है। उनके करने वाला कोई नहीं, किन्तु कार्य उनमें भरे पड़े हैं और उनमें व्यक्त हो जाते हैं। तो ऐसे सत्कार्यवादकी बात जैनसिद्धान्तमें नहीं है। यह चूंकि विशिष्ट ज्ञानियोंके ज्ञानमें आया उस ओरसे तो कहेंगे नियत, परन्तु उत्पत्तिका जो विधान है उस विधानसे देखें तो है अनियत। स्याद्वादका प्रयोग करें, कहीं भी विसम्वाद नहीं होता। ऐसे ही समझ लो कि कुम्हार घड़ा बना रहा तो कहते हैं ना ऐसा कि कुम्हार जिस प्रकारका हाथका व्यापार करेगा उस प्रकारसे वहाँ दिया बने, करवा बने, मटका बने। ये पर्यायें बनती हैं, अब उसमें यह प्रश्न न लाना चाहिए—तो क्या प्रभुने जो कुछ देखा, यह नहीं देखा ? यह विषय दूसरा है। जिस विषयसे जैसी जो बात होती रहेगी उसको जान लिया विशेष ज्ञानीने, पर विशेष ज्ञानीने जान लिया इस कारण वहाँ उस तरह होता है। यह बात नहीं है, किन्तु जैसा यहाँ उपादान निमित्त अनुकूल साधन मिलता है उन विधियोंके अनुसार होता है। और इस प्रकार होते हुए को विशेष ज्ञानीने जान लिया, यह है वहाँ तथ्य। अब जान लियेकी ओरसे हम वहाँ एक निरखनेपर हावी हो जायें तो वहाँ उत्पत्तिनयका हमने निरास कर दिया समझिये। किन्तु ऐसा होता नहीं।

(७१) **परिणमनोंकी नियतता व अनियतताका निर्णय**—भैया ! यहाँ यह निर्णय रखना। स्वभावपर्याय सब ज्ञप्तिनय और उत्पत्तिनय दोनोंसे नियत है, क्योंकि वह स्वप्रत्ययक है और विभाव परिणमन ज्ञप्तिनयकी दृष्टिसे नियत है और उत्पत्तिनयकी दृष्टिसे अनियत है। जो अनियत है वह हटाया जा सकता है और जो स्वकी ओरसे नियत है वह नहीं हटाया

जा सकता। इस तरह हमको ऐसे निर्णयसे स्वभावदर्शनका सहयोग मिलता है। जैसे—जो जो देखी वीतरागने सो सो हो सी वीरा रे। जब हम यह निश्चय बनाते हैं तब हम वहाँ क्यों विकल्प करें ? ऐसा ही होनेको है, ऐसा ही देखा है वही होता है, उस ओरसे ज्ञान करने से यहाँ धीरता उत्पन्न होती है और यदि एक निश्चयके साथ ज्ञान कर रहा है तो वहाँ उसको विकल्प हटानेका प्रसंग भी होता है मगर श्रद्धा नहीं है इस प्रकार धर्मके कामोंमें तो कह देंगे कि जब मोक्ष होगा तब ही होगा और घरके दूकानके कामके लिए यह बात नहीं सोच सकते कि जितनी आय होनी होगी सो होगी, फिर कमाई करनेमें जल्दी क्यों मचाते ? पूरा स्वाध्याय और पूजा करके क्यों नहीं अपनी सच्ची कमाईका काम किया जाता ? तो बतलाओ यह कोई श्रद्धा है कि विडम्बना ? दूसरी बात यह है ज्ञानकी ओरसे समझ बननेकी शिक्षा। अब यहाँ उत्पत्तिनयसे देखा कि देखो पदार्थ जिस योग्यतामें है वह पदार्थ जैसा निमित्त होगा उसके अनुरूप पर्याय पाता है, चाहे निमित्त जुटाकर पाया जाये, चाहे सहज पाये, इस ओरसे पाये या उस ओरसे पाये। सन्निधानसे मतलब है—जैसा सन्निधान पाये उसके अनुरूप यह उपादान अपनेमें विकार परिणमन कर लेता है। तो ऐसेमें क्या शिक्षा मिलती है कि ओह ये विकार मेरी गाँठकी चीज नहीं हैं जो हटाये नहीं जा सकते। विकार तो मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये तो इस तरह हुआ करते हैं। तो हम अपना उपयोग सहज ज्ञानस्वभावमें लगायें ना तो यह बात बनेगी ही नहीं।

(७२) अन्य विकल्पोंको छोड़कर स्वभावके दर्शनका उद्यम करनेका अनुरोध— द्रव्यार्थिकनयसे जो निर्णय है उसका उपयोग उस नयके अनुसार किया जायगा। तो यों प्रयोजन उसका स्वभावदर्शनका है। जैसे बने स्वभावके निरखनेकी दृष्टि जगे, मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, इस प्रकारकी भावना दृढ़ बने उसका कल्याण है। कल्याणके लिए ज्यादह पढ़ने लिखनेकी जरूरत नहीं होती। यह तो उसकी संस्कृतिपर निर्भर है। दृष्टि जगी कि मैं केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही हूं। मैं अन्य रूप नहीं हूं। यही मेरा सर्वस्व है, यही मेरी क्रिया है, यही मेरी अनुभूति है, यही मेरा भोग है। ज्ञानको छोड़कर मेरा और कुछ प्रसंग नहीं, मेरा और कुछ स्वरूप नहीं, ज्ञान ज्ञानमात्र ही मैं हूं, ज्ञानज्योति प्रतिभासस्वरूप, जो कि जीवका एक स्वभाव भाव है, एतावन्मात्र मैं हूं, ऐसा कोई दृढ़ताका निर्णय करके रह जाय तो कल्याणका सदेह नहीं है। अवश्य कल्याण होगा, पर देखो कैसा मोहने इसको लपेट लिया है कि यह एक मिनटको भी भूल नहीं सकता कि मेरा घर, मेरा लड़का, इनमें से कुछ भी एक मिनटको भी भूलना नहीं चाहता। अगर दूसरी तरफ उपयोग लगा है तो संस्कारमें तो यह ही बसा हुआ है। भला बतलाओ इतने उपद्रव परिग्रहका लगाव अपने उपयोगमें लादकर पूरा

क्या पड़ेगा ? मरण तो होगा ही, फिर यहाँकी कवायत, यहाँका ही विकल्प, यहाँकी ही यह विडम्बना, विपदा, यह कुछ साथ देगी क्या ? साथ न देगी, किन्तु जो कुछ कमा डाला यह पाप उस पापका फल आगे आयगा। यहाँ तो एक स्वच्छन्दता सी मिली, मेरा ही तो घर है, मेरेमें बल है, मेरेमें बुद्धि है, धन दौलत वगैरह सब कुछ मेरे पास खूब है। यों एक बड़ी स्वच्छन्दता सी मान ली है मगर शुद्धस्वरूप देखो, "वस्तुस्वरूप ही नहीं कि परसे कुछ मिले खुदगर्ज भी किसको कहें, सब सत्त्वके भले।" यहाँ कोई किसीका सहाय नहीं है। भले ही बहुत अनुराग हो, प्रेम हो, श्रीराम और लक्ष्मणका तो बड़ा ही घनिष्ट प्रेम था, पर श्रीराम लक्ष्मणको बचा सके क्या या लक्ष्मण श्रीरामको बचा सके क्या ? और दोनों ही जंगलमें रहे, दोनोंने क्लेश भोगा दोनोंने कुछ भी किया मगर किया सबने अपने-अपने भाव और परिणामके अनुसार। कोई किसीका मददगार नहीं।

(७३) उपाधियोंसे विविक्त चैतन्यस्वरूपमात्र अनुभवनेकी उमंग—भैया ! इस शरीरका भी ध्यान छोड़ो, यह तो कलंक है, यह तो कीचड़ है यह तो सारे दुःखोंकी जड़ है। भूख प्यास आदिक वेदनायें लगें तो इस शरीरके कारण लगें। शरीरको उर्दूमें बदमाश बोलते हैं और शरीफ बोलते हैं। पर यह शरीर शरीफ (सज्जन) तो है नहीं, जो यह बंडल लगा है, जहाँ जायगा वहाँ यह बंडल साथ जायगा। जैसे यहीं बुन्देलखण्डमें कहीं कहीं की महिलायें अपने शरीरमें इस तरहसे चद्दर ओढ़कर चलती है कि जिससे देखनेमें ऐसा लगता कि कोई बहुत बड़ी चीज अपने शरीरमें लपेटकर जा रही हों। अच्छा यह तो उनकी बात है मगर यह शरीर जीवपर ऐसा ही लिपटा लिपटा फिर रहा है, इस पर कुछ वश नहीं चलता कि इस शरीरको तो यहीं पड़ा रहने दें और आत्माराम इस शरीरसे निकलकर मंदिर से दर्शन कर आवें। एक ऐसा ही बन्धन है इस वक्तमें कि शरीरके साथ आप जायेंगे और आपके साथ यह शरीर जायगा। कितना कठिन बन्धन है, कितनी बड़ी विपदा है। यह हर्ष (मौज) माननेका समय नहीं है। यह तो इतनी बड़ी विडम्बना हम आप पर लदी है और इस विडम्बनाको दूर करनेका हम इस कालमें कोई पौरुष न बनायें तो इसका फल तो संसार में रुलना ही होगा। शरीर मैं नहीं, कषायें मैं नहीं। देखो धन जोड़ना सरल है, घर भरना सरल है, पर कषायोंकी पकड़ छोड़ना सरल नहीं है। और कहते हैं लोग कि मैं घर छोड़ दूँगा, मैं सब त्याग दूँगा, पर मैं इसको मजा चखाकर ही रहूंगा। कषायकी पकड़ कितनी कठिन होती है ? किसीको कोई बात बोल आये और थोड़ी देरमें वह बात असत्य मालूम पड़ी तो चूँकि हम चार आदमियोंमें बोल गए थे इसलिए अब उसको लौटा नहीं सकते। यह क्या है ? यह है कषायकी पकड़। तो आप देखो कि परिग्रह तो बाहरी चीजोंका न

नहीं, किन्तु वास्तविक परिग्रह है कषाय। इसे कहते हैं आभ्यंतर परिग्रह। इस कषाय परिग्रहका त्याग हो तो मोक्षमार्ग मिले। आगे बढ़ें। इन कषायोंके छोड़नेमें क्यों संकोच होता है? अरे जगतमें जो कुछ दिखता है वह सब अप्रयोजन है, मायारूप है। अपने आपके स्वरूपकी संभाल तो करें। खुद खुदमें खुदको शरण है। यहांके विकारके हटावो और अपने आपके स्वभावकी दृष्टि बनाओ।

—०—

(१४)

(७४) **निश्चय व्यवहारके पूर्वापरवर्तित्वके सम्बन्धमें चार समस्यायें**—एक प्रश्न लोगोंके सामने रहने लगा है कि व्यवहार निश्चयसे पहले होता है या निश्चयके बाद होता है। अब जरा ध्यानसे सुनो इस प्रश्नको जरा और विस्तारसे बढ़ाओ यह प्रश्न चार रूपोंमें रखकर सुनो। निश्चयके पहले व्यवहार है क्या? निश्चयकी अनुभूतिके समय व्यवहार है क्या? निश्चयके साथ व्यवहार है क्या, या निश्चयके बाद व्यवहार है क्या? ये चार प्रश्न रखिये—अब पहले प्रश्नका मतलब सुनो— निश्चय नाम किसका है जो अन्तरंगमें मूल शुद्धि हो उसे यहां निश्चयमें रखिये और व्यवहार नाम किसका है कि जो प्रवृत्ति हो वह है व्यवहार। तो यहाँ ४ प्रश्न ये आये हैं कि क्या निश्चयके पहले व्यवहार हो सकता है या निश्चय की अनुभूतिके समय व्यवहार होता है या निश्चयके साथ व्यवहार होता है या निश्चयके बाद व्यवहार होता है। इन चार प्रश्नोंको और स्पष्ट समझें। निश्चयमें रख लीजिए सम्यक्त्व, निश्चयसम्यक्त्व सम्यक्त्वघातक। ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्ध स्वच्छता जगती है उसे कहते हैं निश्चयसम्यक्त्व या सम्यक्त्व ही कहो। निश्चय शब्द देनेकी जरूरत क्या? सम्यक्त्व तो यही है जो कि ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे हो। तो अब बतलावो उस सम्यक्त्वसे पहले व्यवहार है क्या? यदि नहीं है सम्यक्त्वसे पहले व्यवहार तो जो ये वचन कह जाते हैं छहढालामें कि 'हेतु नियतको होई, और भी अनेक ग्रंथों में जो वर्णन आता है ये सम्यक्त्वके साधन धवल जैसे महान् ग्रन्थोमें भी सम्यक्त्वके साधनमें एक परिच्छेद ही अलग बनाया है छठवीं पुस्तकके अन्तमें चूलिकामें और अनेक ग्रन्थोंमें लिखा रहता है तो फिर वह कैसे? अच्छा तो सुनो— निश्चयके पहले व्यवहार नही एक प्रश्न, दूसरा प्रश्न है उस निश्चय सम्यक्त्वका जब अनुभव हो रहा याने स्वानुभूतिकी अवस्था है, उस समयमें ही व्यवहार है सम्यक्त्वके अनुरूप क्या ऐसी बात है? यह दूसरा प्रश्न है।

तीसरा प्रश्न है कि अनुभूति तो नहीं हो रही, किन्तु सम्यक्त्व विद्यमान है। क्या उस समय व्यवहार होता है यह तीसरा प्रश्न है। चौथा प्रश्न है—सम्यक्त्व मिट जाय। कुछ जीवोंके मिट भी तो जाते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व हो, उदय आ जाय मिथ्यात्वका तो लो मिट गया। उपशम सम्यक्त्व हो, उदय आ गया मिथ्यात्वका तो लो मिट गया। तो क्या सम्यक्त्व मिट जानेके बाद व्यवहार होता है ? ऐसे ये चार प्रश्न रखियेगा। और उत्तर क्या होगा कि जो चार प्रश्न रखे गए वह ही इसका उत्तर है। ये ही चार उत्तर हैं, निश्चयसे पहले व्यवहार निश्चयकी अनुभूतिके समय व्यवहार, निश्चयके साथ व्यवहार और निश्चयके मिटने के बाद भी व्यवहार। ये चार समाधान हैं और इनका क्रमसे उत्तर दिया जायगा विवरणके रूपमें।

(७५) **व्यवहारसम्यक्त्वका चार प्रकारोंमें विश्लेषण**—यहाँ यह बात जान लें कि व्यवहार नाम इन सभीका पड़ता है। सम्यक्त्वसे पहले जो परिणति है उसे भी व्यवहार बोलते हैं, और कह दीजिए व्यवहार सम्यक्त्व और स्वानुभूतिके समय जो प्रवृत्ति होती, परिणति होती वह भी व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्वके रहते समय अनुभूति न जग रही हो तब भी जो परिणति होती है वह भी व्यवहार सम्यक्त्व और कभी सम्यक्त्व मिट जाय तिस पर भी जो उसका व्यवहार होता है वह भी व्यवहार सम्यक्त्व। चौथी बातमें आप कुछ सोच रहे होंगे, पर आप यह बतलावो कि जब परिणामोंकी दशा अति दुर्गम्य है। अभी कोई योगी ११वें गुणस्थानमें है और कहो डेढ़ मिनट बादमें उसे देखेंगे मिथ्यात्व गुणस्थानमें, अभी छठे ७वें गुणस्थानमें है एक मिनट बाद मिथ्यात्वमें आ गए तो विचित्रता कैसी है परिणामोंकी, पर आप यह सोचें कि जो अभी छठे ७वें गुणस्थानमें था और उसके तुरन्त बाद आ गया मिथ्यात्वका उदय तो क्या बाह्य क्रियावोंमें कोई ऐसा ज्यादह अन्तर पड़ जायगा कि जिससे आप यों समझेंगे कि अभी तो यह ठीक दिमागका था, अब यह पागल हो गया, इतना अन्तर तो न पायेंगे और परिणामोंकी ऐसी विचित्रता है कि मिथ्यात्व भी आ जाय तो परख नहीं हो सकती। वही समिति वही व्रत, वही गुप्ति बराबर ठीक कर रहे हैं। उनकी भी समझमें नहीं आता कि जब मिथ्यात्वको समझा नहीं और भीतर ऐसा नृत्य चल रहा है तो उस समय होने वाला जो व्यवहार है वह व्यवहार सम्यक्त्वसे बाहर तो नहीं गया। प्रवृत्ति तो अष्टांग रूप रही ना। तो ये जो ४ प्रश्न हैं ये प्रश्न भी हैं और ये चार उत्तर भी हैं। अब जो इन चारको व्यवहार सम्यक्त्व कहा नहीं है सम्यक्त्वपर सम्यक्त्वके लिए उमंग है और उस उमंग में जो तत्त्व श्रद्धान, सम्यग्दर्शनके ८ अंगकी प्रवृत्ति तत्त्वाभ्यास आदिक जो भी वृत्ति चल रही है लो वह भी व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया। तो व्यवहार नाम इन सबके लिए है कहीं तो

है साथ होने वाली बात साक्षात् व्यवहार और कहीं है उसके संस्कारका व्यवहार। और कहीं है सम्भावनारूप व्यवहार। तो इस प्रकार ये चार प्रश्न यहाँ बनते हैं और उनका नाम यों रख लीजिए निश्चय सम्यक्त्व हेतुभूत व्यवहार--जिसे कहते हैं--हेतु नियतको होई। निश्चय सम्यक्त्वानुभूति कालप्रवृत्ति रूप व्यवहार। जिसे कहते हैं—जब सम्यक्त्वका अनुभव हो रहा हो उस समयका होने वाला परिणमन, और, तीसरा है निश्चयसम्यग्दृष्टि। परिणति रूप व्यवहार। याने सम्यग्दर्शन है और उसकी जो अब व्यावहारिक परिणति हो रही है और चौथा है निश्चय पाश्चात्य व्यवहार। भले ही सम्यक्त्व नहीं मिला फिर भी वह योगी है, साधु है, उपासक है, उसके पहले संस्कार है, भीतरी परिणामोंका पता क्या? उसकी जो परिणति हो रही है एक वह व्यवहार है। जो योगी आत्मसाधनाके बलसे ११वें गुणस्थानमें पहुंचकर वीतराग बन गया है, यथाख्यात चारित्र पा लिया उस योगीके दो मिनट बाद मिथ्यात्व आया। जिसकी वजहसे या जिसकी सम्भावना रखकर कोई कहे कि यह हमारे मुनि नहीं। अरे भीतरकी बातका पता पाड़कर प्रवृत्ति बनावेंगे तो बना न पावेंगे। बाहरी आचरण, बाहरी बात, बाहरी प्रवृत्ति जहाँ निर्मल है, दोषरहित है वहाँ ही आपको निर्णय बनेगा। तो ये चार प्रकारके व्यवहार हैं, इनमेंसे पहले व्यवहारकी बात सुनो।

---

(१५)

(७६) निश्चयसम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्वका निर्देशन—पहले व्यवहारका नाम क्या दिया? निश्चय सम्यक्त्व हेतुभूत व्यवहार। ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व वह कहलाता है कि जहाँ सम्यक्त्व तो प्रकट हुआ नहीं, किंतु उस ही सम्यक्त्वके हेतुभूत ७ तत्त्वोंका श्रद्धान आत्मतत्त्वकी चर्चा, सम्यक्त्वके ८ अंगरूप प्रवृत्ति, सब कुछ प्रवर्तन चल रहा है। जैसे कि उन तत्त्वोंका स्वरूप है। तो ऐसा जो प्रयत्न है उसे कहते हैं निश्चय सम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्व। यह भीतरी परिणाम इतना अगम्य है कि यहाँ तो कोई किसीको जान ही नहीं सकता। सम्यक्त्वके जो बाह्य चिन्ह हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन लक्षणोंके द्वारा जान सकते हैं सो वह वास्तविक लक्षण तो अनुभूति है सम्यक्त्वका। कभी तो प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये भी आभास बन जाते हैं। प्रशम नाम है शान्त होना, क्षमाका भाव रखना। किसीने अपराध किया हो तो तत्काल क्षमा कर देना, सम्वेग—धर्ममें अनुराग, संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य यह कहलाता है सम्वेग। अनुकम्पा—प्राणियों

पर दया। देखो कितना सम्बंध है दयाका। जिसने अपने आत्मस्वरूपको जाना वह सब प्राणियोंमें वह स्वरूप जान रहा है। फिर उनको दुःखी देखकर क्यों न अनुकम्पा होगी ? अनुकम्पाका अर्थ है खुद कंप जाना, दूसरेकी तकलीफको देखकर खुदके दिलमें तकलीफ हो जाय इसे कहते हैं अनुकम्पा और इसीको कहते हैं दया। कोई भी भिखारी अगर भोजन चाह रहा है तो जब तक आप खुद दुःखी न हो जायेंगे तब तक आप उसे रोटी नहीं दे सकते उसके दुःखको देखकर खुदमें कोई दुःख होगा तो आप रोटी देनेकी चेष्टा करेंगे। दयाका नाम है अनुकम्पा। जैसा दूसरी जगह देखा उसके अनुसार खुदमें सोच बिचारकर खुदका दिल कंप जाय उसका नाम है अनुकम्पा और आस्तिक्य। यद्यपि ये सब आभासरूप भी हो सकते हैं, फिर भी लक्षण तो ये ही हैं। साधर्मी जनोंमें वात्सल्य करना, प्रीति करना, उमड़ाना, यह तो एक साधारण बात होनी चाहिए न कि छांट छांटकर करे। जैसे कहते हैं कि हमारा इससे प्रेम है। हमारे जिसे नहीं कहते तो यह हमारेसे अलग है, ऐसी छांट नहीं होती अनुकम्पामें। तो ये चार आभासरूप भी हो सकते, फिर क्या करना ? कैसे जानना कि सम्यक्त्व है, यह तो चिन्ह देखकर अनुमान किया जाता है। भला बतलावो कोई मुनि कोल्हूमें पिल रहा और विरोधीपर जरा भी क्रोध नहीं ला रहा, समतासे सह रहा और सम्भव है कहो सम्यक्त्व न हो, मिथ्यात्व हो तो क्या भीतरी सम्यक्त्व मिथ्यात्वको ऐसा ढूँढ़ ढूँढ़कर व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है। व्यवहारमें तो चरणानुयोगकी पद्धतिसे जो बात नजर आती है उसके अनुसार प्रवृत्ति होती है। तो व्यवहार सम्यक्त्वकी बात कह रहे। पहला व्यवहार सम्यक्त्व—सम्यक्त्वसे पहले जो तत्त्वाभ्यास, अष्टांग प्रवर्तन रूपमें जो व्यवहार है वह कहलाता है—हेतु नियतको होई याने व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्वका हेतु होता है।

(७७) **निश्चयसम्यक्त्वहेतुभूत व्यवहारसम्यक्त्वकी उपयोगिता**—देखो हेतुके कितने ही अर्थ हैं सम्यक्त्वोत्पत्तिके अंतरंग हेतु तो कर्मका उपशम आदिक है। बहिरंग हेतु जिनबिम्बदर्शन आदिक है और यह उपादानमें कार्य होनेके परम्परा हेतुरूप हैं। श्रद्धानुमापक प्रवर्तन होना यह व्यवहार सम्यक्त्व है। यदि धर्मात्मा जनोंमें सम्यक्त्व है या नहीं ऐसा संदेह करके चोकन्ना हो जाय तो फिर तीर्थप्रवृत्ति नहीं हो सकती। जीवमें होने वाला जो ज्ञानका पुरुषार्थ मंद कषाय स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन यही सब हुआ व्यवहारसम्यक्त्व सो इसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वका घात करने वाले अनन्तानुबंधी मिथ्यात्वादिक प्रकृतियोंका शैथिल्य हो जाता है। देखो व्यवहार सम्यक्त्वमें समाधानरूप परिणाम जो विशुद्ध होता है वहां यह सामर्थ्य है कि सम्यक्त्वघातक कर्मप्रकृतियोंको शिथिल कर दे याने व्यवहार सम्यक्त्वमें होने वाले विशुद्ध परिणामोंका निमित्त पाकर इन चार प्रकृतियोंमें भी कुछ परिवर्तन हो सकता

है । तो जैसे कोई साग-भाजी खरीदने जाय और भारी चतुराईसे छाँटे तो वह रद्दी साग लेकर आता है । तो ऐसे ही जो दूसरेमें सम्यक्त्वकी तलाशीको अपनी नम्रताका आधार बनाकर भारी काट छाँट चल गई तो उसमें कुछ भी वजन खुदके दिलमें नहीं रहती । तो जो हम आप सब लोगोंका व्यवहार चलता है सदाचाररूप तत्त्वाभ्यासरूप, आत्ममननरूप, तत्त्वचर्चा रूप यह भी तो कुछ महत्त्व रखता है । आगे प्रगति कैसे बने यदि यह भी न हो तो । फिर इसके बाद जब जीवको करणलब्धि मिलती है तो उसमें उपशम आदिक होते हैं और सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है । तो यहाँ यह देख लो कि सम्यक्त्वमें होने वाला जो पहला पुरुषार्थ किया गया वह व्यवहार सम्यक्त्व है और वह निश्चयसम्यक्त्वसे पहले चलता ही है, अन्यथा तीर्थप्रवृत्तिका कोई अवसर ही नहीं रहता ।

— o —

(१६)

(७८) **स्वानुभूतिसमयसंगत व्यवहारसम्यक्त्व**—व्यवहार सम्यक्त्वकी चार संज्ञायें विधियाँ बताई हैं । सम्यग्दर्शनसे पहिले होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनकी अनुभूतिके समय होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शनके साथ होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन नष्ट होने पर होने वाला व्यवहार सम्यक्त्व ऐसी व्यवहार सम्यक्त्वकी चार कक्षायें हैं जो यह प्रश्न करे, जो यह बात रखे कि व्यवहार सम्यक्त्व कब होता है ? सम्यक्त्वसे पहले। सम्यक्त्वके बाद । सम्यक्त्वके साथ । उनसे पूछना चाहिए कि तुम व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण क्या करते हो ? जैसा कि लक्षण कहा वैसा उत्तर देना चाहिए । तो अब देखिये इस विधिमें निश्चयसम्यक्त्वकी अनुभूतिके समयके व्यवहार सम्यक्त्वकी बात चल रही है । सम्यक्त्वमें विषय क्या हुआ ? एक अखण्ड शुद्ध सहज ज्ञायकस्वभाव । यद्यपि आत्मा पर्याय दृष्टिसे अनेक प्रकार परिणमता है, पर यहाँ अनुभवमें अन्य भेद कुछ नहीं लाते । केवल अखण्ड एक ज्ञायक स्वभाव अंतस्तत्व जब यह अनुभूतिमें चल रहा है, जिसे कहते हैं स्वानुभव । जब स्वानुभव चल रहा है तो स्वानुभूतिके समय होने वाला जो व्यवहार है वह तो स्वानुभवके कालमें ही हो सकता है । स्वानुभवके समयमें होने वाले व्यवहारका अर्थ क्या ? जो स्वानुभवके समय पर्याय हो वही व्यवहार । परिणमन शून्य कोई द्रव्य नहीं होता । सिद्ध भगवान भी परिणमनसे रहित नहीं हैं । उनके चल रहा है अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द अनन्त शक्ति ये परिणमन चलते हैं । तो जो स्वानुभवमें उपयुक्त है उसका

परिणमन क्या है ? सहज आनन्द रसमय अनुभवन निर्विकल्प अनुभवन । केवल रसास्वाद, किसका ? सहज आनन्दरसका आस्वाद । यह व्यवहार इस ही प्रकारका है जो केवल स्वानुभवके समय रहता है । फिर स्वानुभव न रहा तो भी सम्यग्दर्शन चल ही रहा, क्योंकि स्वानुभव नीचे के सम्यक्त्व वाले गुणस्थानोंमें बहुत काल तक नहीं रहता । कितना रहता, कैसे रहता ? तो ऐसा समझ लो करीबन कि जैसे बिजली तड़की है तो कितने समय ठहरी । ऐसे ही स्वानुभव हो तो कितने समय ठहरेगा । अगर स्वानुभव अन्तर्मुहूर्त ठहर जाय भली भांति तो अरहंत अवस्था हो जाती है । नहीं ठहरता और मत ठहरो । थोड़ा स्पर्श भी हो जाय, थोड़ा उसके स्वलक्षणकी दृष्टि हो जाय यह ही उसके लिए बहुत है । तो स्वानुभवके साथ होने वाला जो सहज आनन्द रसास्वादमय परिणति है वह क्या व्यवहारसम्यक्त्व सम्यक्त्व है ना ? तो उसका जो परिणमन है सो व्यवहार सम्यक्त्व है । जो अनुभवमें आ रहा है वह । वैसे तो सम्यक्त्व भी परिणमन ही है, पर सम्यक्त्व परिणमनमें जो एक अनुभवमें आयी वृत्ति है वह व्यवहार बन गया । ऐसा यह व्यवहार स्वानुभवके कालमें ही है, सम्यक्त्वसे पहले नहीं, सम्यक्त्वके साथ नहीं, सम्यक्त्वके बाद नहीं, किन्तु सम्यक्त्वका जब ठीक सही अनुभव हो रहा है उस समयमें है यह व्यवहार सम्यक्त्व ।

(७९) **बाह्य समागमोंसे उपेक्षा कर स्वानुभूतिका पौरुष करनेका अनुरोध**—यहाँ प्रश्नमें आयी हुई दूसरी बात चल रही है । देखो कितने ही प्रसंग ऐसे होते कि जीवपर कोई चर्चा चले, विवाद बने, विडम्बना हो तो अपने मूल ध्येयसे वह टल जाता है । मूल ध्येय है स्वभावदर्शन । मूल उद्देश्य है आत्मकल्याण । विषय कषाय उत्पन्न न हों, वहाँ मेरी रक्षा बनी रहे, बचाव बना रहे, ऐसी बात बन सके तो वह है मनुष्य जीवनका सार । कषाय तो भव-भवमें की, विषयानुभव तो भव भवमें पाये । वही बेढंगी रफ्तार बनी चली आ रही है अनादि कालसे उसमें तो कुछ सिद्धि नहीं होने की । अपना चित्त बदलो । आजका जमाना भी यही कहता है । पहिले जमाना था ऐसा कि पुत्रपर विश्वास, मित्र पर विश्वास, धन रह रहा उसपर विश्वास । पहले शादी सम्बन्ध करने वाले लोग देख लेते थे कि उनके इतने गाँव हैं, साहूकारी है । इनका इतना व्यापार है । इतना लेन देन है, समझ लेते थे कि यह अच्छा है और रहेगा ऐसा कई पीढ़ी तक ऐसा विश्वास रहता था । आजके धन पर किसी का विश्वास है क्या कि जो आज है वह दो महीने तक रह जाय । रह जाय वह बात अलग है, मगर जमाना इस प्रकारका है कि कह नहीं सकते कि अगले माहमें क्या हो ? यद्यपि विश्वास पर तो दुनिया टिकी हुई है । सो यह चलता है, मगर जमाना इस प्रकारका है । तो यह जमाना सिखाता है कि उदार बनो । यह जमाना बताता है कि लोभके रंगमेंमत

रंगों। उससे कितनी ही विपत्तियाँ आती हैं। यहाँ तो जैसा धर्म बताता है उसीके लायक जमाना बन रहा है। प्रमाण करो, मूर्छा हटावो। ममता न करो, राग न करो। सबको वितरण करो, सबका हक समझो। समय आ गया। साम्यवाद, समाजवाद, यह सब किस का रूप है? बात कुछ यह कहनेकी न थी, पर यह बतानेकी बात है कि बाह्य संगसे समागमसे उपेक्षा रहे, विरक्ति रहे तो आत्मानुभवकी पात्रता हो सकती है। कल्याण बड़ी चीज है। 'कला बहत्तर पुरुषकी, ता में दो सरदार। एक जीवकी जीविका दूजी जीवोद्धार'। एक आजीविका और दूसरा आत्मोद्धार। अब जिसकी जिस ढंगकी आजीविका है वैसी आजीविका रहे और दूसरा काम आत्मोद्धार रहे, उसमें भी आत्मोद्धारमें फर्क आ जाय और आजीविका अच्छी बनी रहे क्या यह प्रशंसनीय है? चाहे आजीविकामें फर्क आ जाय मगर आत्मोद्धारकी दृढ़ता बन जाय यह उत्तम है। उसमें भी गुजारा करें। तो देखो मुखसे तो कहना पड़ेगा सबको कि आत्मोद्धारमें फर्क न आये। चाहे करने को मन न हो ऐसा, चाहे आत्मोद्धारका काम धरा रहे आलेमें, पर आजीविकाका काम होना चाहिए, आजीविकाके काममें बहुत प्रगति करना चाहिए, ऐसा कोई मुखसे बोल न सकेगा। चार आदमियोंमें बैठ कर कोई मुखसे यह बोलनेको तैयार न होगा कि आत्मोद्धार तो जाने दो आलेमें और आजीविका का साधन बढ़िया बनाना चाहिए। ऐसा कहनेमें संकोच होगा, दिल डरेगा और अगर है ऐसा तो आप यह समझे कि जिसको बोलनेमें समूहके बीच कुछ संकोच होता है और जिसको बोलनेमें धड़ाधड़ बोल सकता है तो आप बतलावो कि जो समाजमें धड़ाधड़ बोला जा सकता है वह परिणाम हो जाय तो वह अलौकिक है कि नहीं? अभी दान करने वाला पुरुष समाजके बीच खड़ा होकर यह नहीं कह सकता कि मैंने इतना दान किया और सबका उपकार किया। उसे संकोच होगा। तो मालूम होता है कि जिसमें गर्व न हो और जिस में अपने एक कोई स्वार्थकी बात न आये। आप हर बातमें देखो, कोई यहाँ आकर यह नहीं बोल सकता कि देखो भाई दस लक्षण पर्व आया है, अब खूब रोज रोज ३-४ बार खावो। यहाँ आकर तो यही बोला जायगा कि भाई व्रत करो, अनशन करो, पूजा पाठ करो, तो उससे समझो कि जो सर्वसमूहके बीच कहा जा सकता है मार्ग तो वह है चलनेका।

(८०) अपनी परिस्थिति व पदवीके अनुसार वृत्ति व विकास—बात यह चल रही है कि धर्मके लिए जब हमें कुछ पौरुष करना है तो हमारी यह मंजिल और कदम ये भिन्न भिन्न जगहपर ही हैं। हम वहाँ एक बात नहीं कह सकते सबके करनेके लिए। किसीको मांसका ही त्याग करा दिया तो यह ही धर्म हो गया चाण्डालका, मांसभक्षीका, किसीको प्रतिमा व्रत दे दिया, यह ही धर्म हो गया, किसीको और ऊँचा ब्रह्मचर्य व्रत दिया विकास

हुआ, कोई मुनिव्रत पा ले, अच्छा हो गया, पात्रतायें होती हैं, योग्यतायें होती हैं, सब तरह से निभो। शिखर जी की वंदना करने जाते तो वहाँ एक बात तो नहीं होती कि जो ४० वर्षका हो वही वंदनामें जाय। बूढ़े बुढ़िया भी जाते, लंगड़े लूले भी जाते, बच्चे लोग भी जाते। दसों तरहकी बातें होती हैं। तो ऐसे ही धर्ममार्गमें हम केवल एक रूप ही बनायें कि यह ही करो, लक्ष्य तो एक रहेगा, लक्ष्य १० नहीं बन गए, मगर करनेमें क्या आया ? इसके मामले अनेक बनेंगे। पुराणमें कहा कि किसीने कौवाका माँस छोड़ा था तो वह भी मरकर स्वर्गमें देव हुआ था। अपनी बातपर दृढ़ रहा, विरक्त हो गया जिसका कि वह आदी था, मगर अपने नियमपर दृढ़ रहा तो देखो उसने भी कोई रास्ता तो पाया। आगे धर्मकी बात पायगा। तो यह आत्मोद्धारका धर्मधारणका बहुत व्यापक क्षेत्र है। ऐसा ही चल रहा कोई और ऊँचा चल रहा कोई, और कोई बड़ा चल रहा चलने दो। जैसे सब कोई शिखरजी की यात्रा कर रहे तो करने दो, ऐसे ही धर्मधारणका क्षेत्र है। आत्मोद्धारके लिए जिसके जितनी योग्यता है, पात्रता है वह उतना कर रहा है, पर लक्ष्य सबका एक है। जैसे शिखरजी की यात्रामें यात्रा करने वाले लोग नाना प्रकारके हैं, पर लक्ष्य सबका एक है—मैं वंदना कर आऊँ। ऐसे ही धर्मधारणके प्रसंगमें धर्म करने वाले अनेक प्रकारके लोग हैं, मगर सबका लक्ष्य एक है, क्या कि सम्यक्त्वकी अनुभूति, स्वभावकी अनुभूति, स्वभावमें मग्न होना, और देखो जैसे जो कोई भी पहली टोंकपर पहुंच गया वह पहली टोंकके पास जो गली है उसमेंसे ही तो गुजरकर पहुंच गया। जो अभी बहुत नीचे है वह जरा देरमें आकर पहुंचेगा। जो बिल्कुल ऊपर पहुंच गया है वह जरा जल्दी पहुंचेगा। तो ऐसे ही ये हमारे श्रावकव्रत, मुनिव्रत, अप्रमत्त विरत व श्रेणीसे गुजरकर ही पहुंचाते हैं उस प्रभुस्थानपर। तो इस प्रकार यह धर्मपालनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। करते जावो, पर आगे बढ़ो। बस यहाँ आगे बढ़नेकी बात है। करो, छोड़ो, आगे बढ़ो, यही पद्धति है। तो इस तरह कोई अपने उपयोगको स्वच्छ रखकर अपने स्वभावकी अनुभूतिमें प्रवेश करता है तो ऐसी अनुभूतिके समयका व्यवहार तो उस अनुभूतिके समय है। न सम्यक् होनेसे पहले है, न सम्यक्त्व मिटनेके बाद है और न अनुभूति समयको छोड़कर बाकीके सम्यक्त्वके साथ है, वह एक अनुभूतिके समय है।

—०—

(१७)

(८१) **सम्यक्त्वसहवर्ती व्यवहारसम्यक्त्व**—अब तीसरे प्रकारके व्यवहार सम्यक्त्व की बात कह रहे हैं। जो सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार अनुभूति वाला नहीं है। सम्यग्दर्शन होनेपर सदा अनुभूति नहीं चलती। और सम्यक्त्व रहता है। जैसे किसी हिन्दी भाषा वालेने संस्कृत भाषा पढ़ ली, विद्वान् बन गया, कुशल बन गया, पर संस्कृतका पत्र पढ़ रहा हो या संस्कृतमें कुछ बोल रहा हो तो उस समय है संस्कृत भाषाका उपयोग, प्रयोग, पर क्या उस संस्कृत भाषाका उपयोग, प्रयोग रात दिन रहता है ? जब मौका समझा तब है। बाकीके समय संस्कृतकी योग्यता है, संस्कृतज्ञ है, ऐसे ही जिसको सम्यग्दर्शन हो गया उसको सम्यक्त्वकी अनुभूति सदा निरन्तर रहे सो तो नहीं होती, किसीको दो दो चार चार माहकी सम्यक्त्वानुभूति नहीं होती। अरे उस अनुभूतिका रसास्वाद वही समझता है। वह एक अलौकिक दुनियामें पहुंच गया जिसने अपने आपके सहज ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव किया। सिद्ध भगवानकी लिस्टमें उसका नाम लिख गया। उसका उम्मीदवार बनेगा अवश्य। जिसको सम्यक्त्व हुआ, सम्यक्त्वानुभव हुआ वह अवश्य ही सिद्ध होगा। अगर विषय कषायों के झंझटने भी इसे रोका तो वह कब तक रुकेगा ? पहुंच जायगा। जिसको सम्यक्त्व हुआ, अनुभूति भी अभी नहीं है, हुआ तो अनुभवपूर्वक ही सम्यक्त्व, पर अब नहीं है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टिकी जो प्रवृत्ति है अष्टांगरूप प्रवृत्ति, वह व्यवहार सम्यक्त्वके साथ चलती है। सम्यक्त्वके बिना नहीं है, सम्यक्त्वसे पहले नहीं है, सम्यक्त्वके मिटनेपर नहीं है। कभी सम्यक्त्व मिट भी तो जाता है। तो यों यह व्यवहार सम्यक्त्व जिसकी अष्टांग प्रवृत्ति है वह होती है सम्यक्त्वके साथ। एक उद्देश्य यह न छूटे।

(८२) **आत्मसंयमनका महत्त्व**—एक छोटी सी कहानी है कि कहीं एक पतंग उड़ रही थी तो हवाने उस पतंगका बड़ा स्वागत किया और कहा अरी जीजी अब तुम हमसे ही मिलकर रहो, जो डोर पकड़े है उसका साथ तुम छोड़ दो फिर खूब स्वतंत्र होकर हमारे पास रहो। तो पतंग बोली—हमारा उससे छूटना कैसे बन पायगा ?···· हम तुम्हारी मदद करेंगे, बोलो तुम्हें हमारे साथ रहना स्वीकार है ना ?···· हाँ हाँ स्वीकार है। तो खूब तेज हवा चली, पतंगकी डोर टूट गई और पतंग स्वतंत्र होकर हवाके साथ किलोल करने लगी। अब तो वह पतंग हो गई स्वच्छन्द। जब तक वह पतंग डोरके आश्रयमें थी तब तक तो वह रक्षित थी। अब स्वच्छन्द हो जानेका परिणाम क्या हुआ सो देखिये हवाके तेज थपेड़ोंसे पतंग फटने लगी, बहुत हैरान हुई, तो पतंग बोली—हवा जी बंद हो जावो, हम

बहुत परेशान हो गई। अब हमें न सतावो, अब न चपेटो, पर हवाने तो यही चाहा था। थोड़ी ही देरमें ऊपरसे बादल गरजने लगे, पानी बरसने लगा तो पतंग भीग गई, नीचे गिर गई और कीचड़में जाकर फँस गई। तो देखो एक संयमन छोड़ दिया वह संयम डोरा छोड़ दिया तो पतंगकी क्या दशा हुई? हवासे बह-बहकर कीचड़में ही फँस गई। तो ऐसे ही समझो कि मन भी पतंगकी तरह चंचल है, इस मनकी ऐसी उड़ान मत करो कि जो अपने कब्जेसे बाहर हो जाय। बड़ी सम्हालकी बात है। उस ढंगसे चलो। देखो कैसा जमाना आज चल रहा है, कैसा अध्यात्मरुचिका आज जमाना है कि जो श्रीमद्भगवत गीता है, जिसमें कृष्ण, अर्जुनकी कथा लिखी है, जिसकी आज टीका होने लगी कि ये कृष्ण अर्जुन कुछ न थे। एक अध्यात्म चल उठा कि अर्जुन तो एक जिज्ञासु भव्य जीव थे, ऐसा ही सब जीवोंका अर्थ लगा लगाकर वे सब पात्र हट रहे। श्रीरामके चरित्रके विषयमें भी अब लोग टीका करने लगे। तो ऐसा कुछ अर्थ लगाया कि न श्रीराम रहे, न लक्ष्मण रहे, न दशरथ रहे, ऐसा जो आत्मा है, भीतरका भाव है उसको पैदा करने वाला भाव है उसके साथकी समता है वह मिटाकर वह सब चारित्र उड़ गया। आजकी हवा ऐसी चल रही है और यह ही बात हमारे तप संयमकी भी चल रही है, व्रत कुछ नहीं, तप कुछ नहीं, संयम तो यह है। स्वभाव में मग्न होना बाकी सब तो कवायत है। इसमें कुछ धरा नहीं, यह तो हवा ही चल रही है सब जगह, पर यह बतलावो कि जो छोटे ज्ञान वाले लोग हैं उनपर भी कुछ दया करना है कि नहीं। चलने दो सबको, इस ढंगमें चलेंगे, चलते हुएमें समझावो, उन्हें आगे बढ़नेकी बात बताओ आगे और ले जावो। घरमें सभी कोई हैं– छोटे बच्चे भी हैं, जवान लोग भी हैं, बूढ़े लोग हैं, जब सवेरा हो जाता है तो सभीको लोग जगाते हैं—अरे उठो काम करो, सामायिक करो, अपना काम देखो, लेकिन छोटे बच्चोंके प्रति लोग यही तो कह देते हैं ना कि अरे यह तो बच्चा है, इसे अभी सोने दो। तो सबको एक लाठीसे हाँकनेकी बात नहीं चलती। जिसने जितनी योग्यता पायी उतना उससे वह आगे बढ़े और आगे बढ़े स्वभावका दर्शन करे, सहज स्वभावमें मग्न हो जावे। तो देखो जिसको सम्यग्दर्शन हो गया उसको अनुभूति नहीं हो रही सदाकाल, महीनेमें कभी हुआ मगर सदाकाल जो उसकी प्रवृत्ति चलेगी वह कहलाया व्यवहार सम्यक्त्व। वह सम्यक्त्वके साथ चल रहा है।

(८३) **ज्ञानीकी अष्टाङ्गप्रवृत्ति**—ज्ञानी पुरुष जिनवचनमें शंका नहीं करता, क्योंकि जिनवचनकी बात उसने अपने अनुभवसे मिला ली। अनुभव तो होता था उसे और उसको और दृढ़ता हुई। तो जिनवचनके प्रति जिसको भक्ति नहीं है वह सब जगह दोष देखता है। बहुतसे लोग तो कहने लगते हैं कि तीसरे अध्यायको तो उमास्वामीने गलत बना दिया। अब

ऐसा कहने वाले लोग हो गए कि पृथ्वी तो गेंदकी तरह गोल है। उसके आगे नरक कहाँ धरा? स्वर्ग कहाँ है? राकेट चला दिया तो जितना थमा रहा उतना स्वर्ग है। कहाँ जम्बूद्वीप, कहाँ भरत क्षेत्र, कहाँ मेरु पर्वत, यह तीसरा अध्याय बेकार कहने लगे कुछ लोग पर जिनको जिनेन्द्र बचनोंमें आस्था है उनकी एक सबसे विलक्षण बात जो स्वानुभूतिकी है वह जिसे मिल गई और उस विषयकी तुलना कर लिया कि सच हैं ये वचन तो जिनेद्र देवके जो और परोक्ष वस्तुके बारेमें जो बचन हैं उनपर भी इसको खूब दृढ़ श्रद्धा रहती है कि हाँ सब ठीक बात है, उसको नरक स्वर्ग आदिक किसीमें भी सन्देह नहीं होता, ये प्रवृत्तियाँ हैं, यह व्यवहार सम्यक्त्व है, विषय साधनकी आकांक्षा न होना यह सहज ज्ञान गुण आ जाता है ज्ञानी पुरुषमें, मुनिराजको देखकर ग्लानि न करना। अब वहां देखो——वे कभी नहाते नहीं, दाँत भी उनके कभी साफ नहीं रहते, केशलोंच किए जानेके कारण बाल भी तितर बितर रहते, कितने ही मुनियोंके तो बैठनेका जो आसन है वह खराब हो जाता है तो ऐसे ऐसे शरीरोंको देखकर, वहाँ मैलपर दृष्टि नहीं, किन्त भीतरी वैराग्यपर दृष्टि है। उनका रत्नत्रय बड़ा पवित्र है। कैसा विरक्त आत्मा हैं। कि कमसे कम इतना तो स्पष्ट ही दिखता कि निर्विकार हो गए तभी नग्न हो सके। आप लोगोंमें से कोई जरा १०-५ मिनटको जरा नंगा होकर दिखा तो दे। जहाँ बालकवत् निर्विकार भाव है वहाँ ही नग्नता बनती है। उस मुद्रामें कितने ही गुण नजर आयेंगे। आपको तो गुण देखनेसे मतलब है? आपका उपयोग विशुद्ध रहे, गुण पूजा करें, गर्व तब आता है अपनेमें जब कि अपनेको सबसे बड़ा और दूसरोंको तुच्छ माना जाय, यह अहंकारका नियम है, पर उससे अपनेको कुछ सिद्धि होगी क्या? अपनेको तो अष्टांगरूप प्रवृत्ति करें। जैसे बने वैसे संकटोंसे छुटकारा पाना है। ज्ञानी पुरुष तत्त्व कुतत्त्व, सुगुरु कुगुरु, सुदेव कुदेव आदि प्रयोजन भूत विषयोंमें अमूढ रहता है, उसे कोई भी चमत्कार सत्यश्रद्धासे विचलित नहीं कर सकता। ज्ञानी पुरुष धर्मप्रभावना हेतु परके अवगुण नहीं बखानता, अपने गुण भी नहीं बखानता। कदाचित् किसी साधुमें दोष आ जावे तो उसे एकान्तमें तो समझायगा ज्ञानी, किन्तु जनतामें प्रकट नहीं करेगा। इसका कारण यह है कि जनतामें प्रगट करनेसे लोग श्रद्धाहीन हो जावेंगे। ज्ञानी निजगुणकी वृद्धिरूप प्रवर्तन करता है। कोई धर्मात्मा कारणवश धर्मसे च्युत हो रहा हो तो उसे ज्ञानी धर्ममें स्थिर करता है। ज्ञानी पुरुषको सर्व धर्मात्माओंसे अद्भुत वात्सल्य रहता है, निष्कपट प्रेम रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने सदाचारसे, तपश्चरणसे, विद्याविकाससे कल्याण कारी धर्मकी प्रभावना करता है। इस प्रकार यह अष्टांग प्रवृत्तिरूप व्यवहारसम्यक्त्व सम्यक्त्वसहभावी व्यवहार है।

—०—

(१८)

(८४) **निश्चयपाश्चात्य व्यवहारसम्यक्त्व**—व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयसे पहले होता या साथ होता या पीछे होता, इस सम्बंधमें चर्चा चलते-चलते इस प्रसंगके चौथे भेदका विश्लेषण किया जा रहा है। इसका नाम है निश्चय पाश्चात्य व्यवहार। याने सम्यक्त्व मिट जानेके बाद होने वाला व्यवहार। जिस जीवको सम्यक्त्व हो गया था और अब मिथ्यात्वका उदय आनेसे सम्यक्त्व न रहा तो भी इतना जल्दी जो व्यवहार प्रवर्तन होगा वह पहले जैसा ही होगा। जैसे किसीको सम्यक्त्व है और अब न रहा तो उसकी प्रवृत्ति अनर्गल अटपट न हो जायगी, उसका संस्कार लगा है। मिथ्यात्व मिट जानेपर भी जो संस्कार लगा है, जैसी प्रवृत्ति करते थे वैसी प्रवृत्ति करने लगेगा और इस स्थितिको देखो तो वह लो सम्यग्दर्शनके बाद यह व्यवहार सम्यक्त्व हुआ। यहाँ कुछ मालूम तो नहीं किया जा सकता कि इस मुनि महाराजके सम्यक्त्व था, अब इस एक मिनटमें सम्यक्त्व नहीं है और अब सम्यक्त्व आ गया। क्षयोपशम सम्यक्त्वका ऐसा ही परिवर्तन चलता है, तो कुछ पता तो नहीं रहता और उनको भी स्वयं पता नहीं होता कि हमको सम्यक्त्व नहीं रहा और मिथ्यात्व आ गया। ऐसा वह भी नहीं जानता। थोड़े समयकी बात उनका जो व्यवहार होगा वह अष्टांगरूप होगा। यों यह व्यवहार सम्यक्त्व निश्चयके बाद होने वाला है। स्याद्वादसे सबका निर्णय कर लो। कहीं विवाद हो ही नहीं सकता। यदि कोई विवाद कर रहा तो समझ लो कि यह जैनसिद्धान्तसे दूर है। स्याद्वादमें विरोधका क्या काम? ऐसी ऐसी अनेक कठिन समस्यायें स्याद्वादसे समाधानमें आ जाती है। तो व्यवहार सम्यक्त्व कब होता है इस विषयमें हम जितने प्रश्न करें उतने ही उत्तर हैं। व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण समझ लो। जब जैसा लक्षण बतायेंगे तब तैसी उनकी वृत्ति कही जायगी। दोनों निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्वके बादमें रहा। अब सम्यक्त्व न होनेपर भी उसका व्यवहार सम्यग्दृष्टिकी तरह रह रहा है, क्योंकि उसके व्यवहारके साथ अव्यवस्था नहीं, किसी प्रकारका विवाद नहीं। तो चूंकि सम्यक्त्व कुछ मिट जानेके बाद जो प्रवृत्ति हो रही है तत्काल उस प्रवृत्तिमें कोई फर्क नहीं नजर आता है। यों यह निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्व न रहनेपर भी विधिवत् चलता रहता है। जैसे कि व्यवहार सम्यक्त्व होता था और वहाँ जैसी प्रवृत्ति चलती थी वैसी ही प्रवृत्ति अब चल रहीं है इसलिए लोगोंको अब अविश्वासकी बात वहाँ कुछ नहीं है। ऐसा यह निश्चयपाश्चात्य व्यवहार सम्यक्त्वके पश्चात् होता है अर्थात् सम्यक्त्व मिट जानेपर होता है। कुछ समय तक यह जीव वैसी प्रवृत्तियोंमें रह जाता है सम्यक्त्व मिट जानेपर भी तो भी वहाँ यह व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है। यों व्यवहार सम्यक्त्वका जैसा अर्थ लगावेंगे

वैसा ही उसका उत्तर आयगा।

—०—

(१९)

(८५) **निमित्तमें उपयोग जोड़े तो विकार होता है इस तथ्यका विश्लेषण**—एक चर्चा होती है कि निमित्तमें उपयोग जोड़ें तब विकार होता है या निमित्तमें उपयोग न जोड़ें तब भी विकार होता है ? एक यह समस्या सामने है। इसका उत्तर संक्षेपमें तो यह है कि जीव आश्रयभूत निमित्तमें उपयोग जोड़े तो व्यक्त विकार होता है और इस बहिरंग निमित्त में उपयोग न जोड़े तो व्यक्त विकार नहीं होता, क्योंकि कर्मका उदय, इसका किसीको ज्ञान नहीं। जिसका ज्ञान नहीं उसमें उपयोग जोड़नेकी बात कैसे हो सकती ? तो कर्मोदयका निमित्त होनेपर याने उदयविपाकके सन्निधान होनेपर जीवमें अव्यक्त विकार होता है, इस तथ्य को समझनेके लिए निमित्तके स्वरूपको समझिये—निमित्त और उपादान। निमित्त भिन्न चीज होती है, निमित्तका उपादानमें प्रवेश नहीं। निमित्तका उपादानमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ नहीं, निमित्तका प्रभाव भी उपादानमें नहीं, किन्तु निमित्तसन्निधान पाकर उपादान अपनेमें प्रभाव बना लेता है। मूल बात यह है और निमित्त उपादानका सम्बंध याने निमित्तनैमित्तिक भाव सर्व विषम पर्यायोंके साथ लग रहा, पर सिर्फ जीवके विकार कामके प्रसंगमें निमित्त दो प्रकारके हुआ करते हैं। अन्यत्र कहीं न होंगे दो प्रकार। पुद्गल पुद्गल में कार्य हुआ, वहाँ निमित्त और उपादान है, वहाँ दो प्रकार नही हैं। जो निमित्त है सो निमित्त जो उपादान सो है ही, पर जीवके विकारके प्रसंगमें निमित्त दो प्रकारके होते हैं। एक तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। देखो यह प्रकरण बहुत ध्यानसे सुनने योग्य है। देखो निमित्तके दो प्रकार हैं, किस जगहके लिए जीव में विकार होता है उसके लिए, और जगहके लिए नहीं। अजीव अजीवके सम्बंधमें निमित्तके दो प्रकार नहीं। वहाँ तो एक ही प्रकारका है निमित्त। और यह समझो कि सदा सब जगह निमित्तका उपादानमें अत्यन्ताभाव रहता है। याने निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा, उपादानका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा। जैसे दृष्टान्तमें समझ लो, कुम्हारके व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टीमें घड़ा बना, तो निमित्त मानो कुम्हार। तो कुम्हारकी अंगुली, नजर, रूप, रस, गंध, स्पर्श, व्यापार, क्रिया, कुछ भी मिट्टीमें गई क्या ? मिट्टीमें तो मिट्टी ही है। कुम्हारका कुछ भी मिट्टीमें नहीं गया, लेकिन कुम्हार जैसा व्यापार करता, यह निमित्त योग

न हो तो कहीं मिट्टीमें बिना निमित्त योगके स्वयं घड़ा बन गया क्या ? नहीं, फिर भी निमित्तने घड़ेमें कुछ किया नहीं, और निमित्त बिना घड़ा बना नहीं, सर्वत्र आप यही बात पायेंगे। निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य दोनों एक साथ सब जगह रहते हैं। यह बात कही है अभी अजीव और अजीवके लिए। व्यापार भी अजीव चीज है, दृष्टान्त एक देश होता है, पर जीवके विकारके लिए मायने जो भाव हो कषायभाव हो, तो ऐसे भावकी निष्पत्तिमें दो प्रकारके निमित्त होते हैं। एक तो कर्मका उदयरूप निमित्त, दूसरे जिसपर क्रोध आ रहा हो, जिसपर कषाय जग रही हो वह चीज, निमित्तमें दो तरहके निमित्त हैं। सब जिन्दगीमें परख रहे होंगे—एक है अन्वयव्यतिरेकी मायने कर्मका उदय होनेपर ही क्रोध हो सके, कर्मका उदय न हो तो क्रोध न हो सके, ऐसा जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक है एक तो वह निमित्त हो सकता कर्मोदय और एक ये दुनियाके सारे पदार्थ। ये कहलाते आश्रयभूत, ये उपचरित निमित्त हैं, इनपर उपयोग लगावें तो निमित्त कहलायेंगे, और इनमें उपयोग न लगायें तो निमित्त न कहलायेंगे। ऐसी बात इस जगतके सारे उपचरित निमित्तोंमें है।

(८६) उपचरित निमित्तोंके परिचयसे प्राप्तव्य शिक्षा—निमित्तकी द्विविधतासे हमको शिक्षा क्या मिलती है कि भाई जो बहिरंग निमित्त है, उपचरित निमित्त हैं, जो खास निमित्त नहीं हैं, जिनमें उपयोग फंसावो तो निमित्त कहलाते, न फंसावो तो नहीं कहलाते। ऐसे उपचरित निमित्तमें क्यों लगाव करते ? उपचरित निमित्तसे हटना चाहिए और जितना त्याग बन सके उतना इस उपचरित निमित्तका त्याग करना चाहिए। चरणानुयोग इसी आधारपर बना हुआ है जो जो पदार्थ हमारे विकारमें उपचरित निमित्त पड़ते हैं उनका त्याग करें और जो वास्तविक निमित्त है कर्मोदय उनका त्याग आप क्या करें ? उनका त्याग स्वयं हो जायगा। यदि आप उपचरित निमित्तका परिहार कर दें तो ऐसा ज्ञानबल बढ़ेगा कि ये कर्मोदय भी शिथिल होंगे और कर्मबन्ध भी शिथिल होंगे और उनका समूल क्षय होगा मगर पुरुषार्थपूर्वक आप कर क्या सकते हैं ? उपचरित निमित्तका त्याग। देखो जैनसिद्धान्तमें जो व्रत संयम आदिक बताये गए हैं उनमें यह ही आधार है, भाई व्रत करें, उपवास करें याने भोजनका विकल्प न रहे, भोजनका प्रसंग छोड़ें और एक निर्विकल्प भावना में बढ़ सकें इसके लिए है उपवास। इसके लिए उपवास नहीं है कि लोग जान जायें कि इनका भी उपवास है। किन्तु भोजनका, अन्य बाह्य पदार्थोंका विकल्प न जगे और उनका प्रसंग हम न जुटायें और एक उस विकल्पसे बचें और अपने धर्मध्यानमें समय विशेष लगायें। होता हो है प्रोषधोपवासमें ऐसा। उपवास करें और धर्मध्यानमें ही अधिक समय लगायें, चरणानुयोगकी यही प्रक्रिया है कि उपचरित निमित्तका त्याग करें।

(८७) अव्यक्त विकार व व्यक्त विकारके विश्लेषणसे अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका परिचय—एक प्रश्न आया था न—निमित्तमें उपयोग जोड़ें तब विकार होता है या निमित्त में उपयोग न जोड़ें तब भी विकार होता है। इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए विकार दो प्रकारका है यह भी समझना और निमित्त दो प्रकारका है यह भी समझना और इन दोनों में अन्तर है—विकार दो प्रकारका कौन ? एक तो अव्यक्त विकार और दूसरा व्यक्त विकार। व्यक्त विकार तो निमित्तमें उपयोग जोड़ा, बाह्य आश्रयभूत पदार्थमें उपयोग जोड़े तब होगा और उसमें उपयोग न जोड़ें तो व्यक्त विकार न होगा। दूसरा विकार कौन है ? अव्यक्त विकार जिसका हमें पता नहीं, जिसको हम बुद्धिमें ला सकते नहीं उसकी हम चर्चा कर रहे, ऐसे अव्यक्त विकारमें कर्मोदयका निमित्त है। देखो एक मोटा दृष्टान्त—काँच होता है ना तो काँचका प्रतिबिम्ब झलका है ऐसा कांच जिसके उसपर निरख सकते, जैसे कि रेलके डिब्बों में लगे रहते। जिसमें बाहरकी चीजें देखते रहते हैं। घरोंमें भी लोग लगवाते। तो ऐसा काँच जिसके आर-पार देख लो जिसमें किसी भी तरफ लाल मसाला न लगा हो ऐसा एक बिल्कुल साफ कांच उसमें भी प्रतिबिम्ब पड़ता कि नहीं पड़ता ? नहीं पड़ता, अगर कुछ पड़ता भी तो बिल्कुल मामूली झाँईसी पड़ता है, और जिसमें लाल मसाला लगा हो उसमें देख लो कितना स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है। तो वहाँ जैसे व्यक्त छाया और अव्यक्त छायाका एक मोटा दृष्टान्त दिया है ऐसे ही जीवोंके लिए व्यक्त विकार और अव्यक्त विकार हैं। व्यक्त विकार तब आता जब कि बाह्य उपचरित निमित्तमें उपयोग जुड़े। और उपयोग न जुड़े तो अव्यक्त विकार होता। तो यहाँ दो बातें समझना—व्यक्त विकार होता है निमित्तमें उपयोग जोड़नेसे और अव्यक्त विकार होता है निमित्तका सन्निधान पानेसे। ऐसी दो बातें समझनेपर कोई विवाद नहीं रहता। और एक बात समझ लो, जो जगतमें ये बाह्य पदार्थ हैं ये उपचरित निमित्त हैं, इनमें उपयोग जोड़ें तो विकार हो यह बात सही है ना, और इन पदार्थोंमें उपयोग न फंसायें तो विकार नहीं होता, सही है ना, पर एक तो यह समझें कि यहाँ व्यक्त विकारकी बात कही। दूसरी बात यह समझना कि एक निमित्तका नाम लेकर जैसे आश्रयभूत निमित्तमें बात घटित होती है ऐसे ही अज्ञात अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमें भी घटित करें तो उसका कहना इस प्रकार बनत कि जैसे आकका दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता तो कोई सब जगह यह कहे कि दूध पीनेसे मनुष्य मर जाता है तो क्या इसका ऐसा कहना ठीक है ? अरे आकका दूध पीनेसे मनुष्य मरता है न कि गाय भैंसका। ऐसे ही यह समझो कि उस आश्रयभूत निमित्तका उपचरित निमित्त होनेपर निमित्तका आरोप होता है। इसमें उपयोग जोड़नेसे व्यक्त विकार होता है न कि कर्मके उदयमें उपयोग जोड़ सकते, क्योंकि कोई जोड़

हो नहीं सकता, वहाँ तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक भाव है। यह बड़ी सूक्ष्म चर्चा है। और देखो वह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त बंधके समय ही अपनेमें पूर्ण सामर्थ्य वाला बना, वहाँ प्रकृतिबंध है, प्रदेशबन्ध है, स्थितिबन्ध है, अनुभागबन्ध है। अगर इसमें अन्तरंग निमित्तको न मानें तो फिर जैनसिद्धान्तके १५ आने ग्रन्थ असत्य हो जायेंगे। केवल एक आने ही खंडित करकर सत्य कल्पित रहेंगे। देखो– समयसारमें स्वयं लिखा है कि कर्मके उदयसे जीव सुख पाता है, कर्मके उदयसे जीव दुःख पाता है, कर्मके उदयसे जीव मरता है, कर्मके उदयसे जीव जीवित रहता है। किसीका कर्मोदय कोई दूसरा नहीं दे सकता, वह ही स्वयं करता है। समयसारमें एक परिच्छेद अलगसे पूरी तरहसे दिया गया है। तो उसमें अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका स्थान है और इस जगतके आश्रयभूत पदार्थोंका क्या स्थान है? देखो बात दोनों सत्य हो गईं।

(८८) **स्याद्वाद द्वारा समस्याओंका समाधान**—जैसे कोई चार अंधे पुरुष हाथीका परिचय लेनेके लिए चले। तो हाथी खड़ा था। एक अंधेके हाथमें टटोलते टटोलते पड़ गए पैर तो वह कहता है कि अरे हाथी तो खम्भा जैसा होता है, एकके हाथमें पड़ गई सूँड तो वह कहने लगा—अरे हाथी तो मूसल जैसा होता है। एकके हाथमें पड़ गए कान तो वह कहता है अरे हाथी तो सूप जैसा होता है और एक के हाथमें पड़ गया पेट तो वह कहने लगा—अरे हाथी तो ढोल जैसा होता है। अब वहाँ वे चारों अपनी अपनी बात रखकर आपसमें झगड़ रहे थे। वहाँ कोई सूझता पुरुष आया, बोला—अरे भाई तुम लोग आपस में क्यों झगड़ते हो? तुम सबकी बात ठीक है। देखो जिसने पकड़ा पैर सो पैरोंकी दृष्टिसे हाथी खम्भा जैसा है, सूँडकी दृष्टिसे हाथी मूसल जैसा है। कानोंकी दृष्टिसे हाथी सूप जैसा है और पेटकी दृष्टिसे हाथी ढोल जैसा है। तो बात समझ गए और चारों अंधे शान्त हो गए। तो ऐसे ही समझिये कि ये दोनों कथन सत्य हैं। उपयोग निमित्तमें जुड़ायें तो विकार होता, न जुड़ायें तो विकार नहीं होता। यह बात सत्य है। पर निमित्त कौन-सा? आश्रयभूत निमित्त। विकार कौन सा? व्यक्त विकार और जो यह कहते हैं। उपयोग जोड़नेकी बात कि निमित्तका सन्निधान होनेपर उपादान अपनेमें विकार उत्पन्न कर लेता है, उसकी बात सत्य है, जीवमें कर्मोदयरूप निमित्त पाकर उपादानमें विकार होता यह भी सत्य बात। अजीव पदार्थोंमें तो बिल्कुल खुली बात यहाँ जोड़ने जानेका सवाल नहीं। उपादान व निमित्त दोनों अजीव हैं कौन किसमें उपयोग जोड़े? जोड़ने वाली चीजका उपयोग जोड़ें, इसमें ठहरने वाली चीजका उपयोग जोड़ें, किसीका कोई उपयोग नहीं जोड़ता निमित्तका सन्निधान है तो उपादानमें अपना प्रभाव आ गया, अपना कार्य बन गया। हाँ यहाँ इतनी

बात अवश्य समझना कि तीन कालमें ऐसा नहीं हो सकता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन कर सके। प्रत्येक द्रव्य अपने आपमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप ही रहता है, अन्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप नहीं हो सकता है। सर्वत्र देख लो, अजीव अजीवके प्रसंगमें जीव अजीवके प्रसंगमें। जीव जीवमें तो उपादान निमित्तका संबंध नहीं, यह भी बात आप समझ लो भले ही ऐसा लगता हो कि आपने पढ़ाया, हमने पढ़ लिया तो भाई आपके निमित्तसे हमने पढ़ लिया यह बात तो ठीक है वहां उपचरित निमित्तकी अपेक्षा करना, आपसे मतलब चैतन्यशक्तिसे नहीं, चित्स्वभावसे नहीं, किन्तु इस पर्यायसे, जो वचन है वह अजीव, जिसको देखा वह अजीव मगर एक वास्तविक जीव। शुद्ध जीव, चैतन्य शक्ति वाला जीव। उसके लिए कोई जीव निमित्त नहीं होता। यह प्रसंग चलता है। तो जीव अजीवमें और अजीव अजीवमें जो विकारकी बात चलती है तो इसमें यह बात समझना स्याद्वादका सहारा लो, वहां सर्व समस्यावोंका समाधान है।

(८६) वचनोंका आशय समझकर निर्विरोध होनेका संदेश—देखो जितने भी लोग हैं उन सबमें बुद्धि है और जो कुछ वे विचार कर कहते हैं आखिर हैं तो सब परमात्मस्वरूप और एक निश्चल भावसे कल्याणकी भावना रखते हुए, धर्मसे प्रीति रखते हुए बोलते हैं तो जरा कुछ उनकी भी तो मदद करो कि वे किस दृष्टिसे किस भावसे वे सत्य बोलते हैं। असत्य तो तब बनता कि जब एक नयकी बात पर आग्रह करके रह जाय और प्रतिपक्षनय को माने ही नहीं, तब उसका कथन सत्य होकर भी असत्य है। सत्य तो है एक दृष्टिसे, मगर उस दृष्टिका आग्रह करले और प्रतिपक्ष नयका निषेध करे तो सत्य कह कर भी वह असत्य रह जाता है। यही बात हुई है सब अन्य दर्शनोंमें। क्षणिकवादियोंने क्या पकड़ किया अगर वे यह कहते हैं कि पदार्थ अहेतुक है, पदार्थ एक क्षण ठहरता है। पदार्थका किसीसे ताल्लुक नहीं है। सर्व पदार्थ ऐसे पूर्व और उत्तर योगसे रहित हैं, उनने क्या अपराध किया यही तो जैन सिद्धान्तका ऋजुसूत्रनय भी कहता है कि पर्याय एक क्षणकी पर्याय अहेतुक है। उसकी दृष्टि दूसरे क्षण पर है ही नहीं। तो बतलावो कि जैनदर्शनमें जो ऋजुसूत्रनय कहता है वही बौद्धजन कहते हैं। क्या अपराध बन गया? अपराध यह हुआ कि उन्होंने ऋजुसूत्र नयका एकान्त कर दिया कि पर्याय अहेतुक ही होती है। दूसरी बात मानना नहीं? जैसे कि ग्रन्थोंमें लिखा है कि पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान होता है। यह है द्रव्यार्थिक नयका विषय और प्रतिसमयकी पर्याय अहेतुक होती है, बात यह ऋजुसूत्रनय द्रव्यार्थिकनयने बतायी। तो आप यह बतलावो कि जो पर्यायार्थिकनय ने बताया उसको मुख्य करके कहनेसे हितके लिए प्रेरणा मिली है क्या? द्रव्यार्थिकनयके विषयको मुख्य करके

प्रेरणा दिया कि उपादान आत्मा अपने भावोंको संभाले, पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान होता है।

(९०) प्रतिपक्षनयका विरोध न कर द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतामें आत्महितकी गवेषणा—जैन दर्शनमें अनेक नय हैं, पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता करके हितमार्गमें लगनेकी पद्धति जैन दर्शनमें बहुत कम है। ऋजुसूत्रनयकी बात किसी प्रसंगमें कही जाने वाली चीज है। क्योंकि वह ऋजुसूत्रनयका विषय तो है ना, उसे कह दिया है सर्वार्थसिद्धि ग्रंथमें देखो। अन्य जगह भी कहा है इस प्रसंगमें। पर उस प्रयोगकी मुख्यता करके वर्णन नहीं है पर्यायार्थिकनयकी बातका। द्रव्यार्थिककी अपेक्षा तो यह आयी है कि पूर्वपर्याय संयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान है और ऋजुसूत्रनयका यह विषय है कि पर्याय तो एक समयका है। उसका हेतु क्या, उसका अन्यसे सम्बंध क्या? सो उसका विषय गौण रूपसे वर्णित है, जैसा कि बौद्ध जन मानते हैं। बौद्धोंका दर्शन देखो। ऋजुसूत्रनयका दर्शन इतना गौणरूपसे वर्णित है जैन ग्रन्थोंमें कि उस नयका नंबर प्रसंग आनेपर ऋजुसूत्रनयके विषयकी बात बतानेका प्रकरण होनेपर कहा जाता है। न कि ढोल पीटनेकी तरह कहा जाता है। आप अन्तर देखें, तभी तो आगममें द्रव्यार्थिकनयको प्रधान बताया गया है। देखो क्या बात कह रहे हैं कि बात सब सत्य है, पर आग्रह हो जाय और प्रतिपक्षका निषेध हो जाय तो सत्य होकर भी असत्य है। जैसे मोटा दृष्टान्त लो—बतलावो जीव नित्य है कि अनित्य? अब जिसने जो अपनी दृष्टि बनाया होगा वह वैसा उत्तर देगा। हर जीव द्रव्यकी दृष्टि बनाये है कि जीव द्रव्य है, जीव सत् है, जीव अनन्तानन्त हैं। तो कहेंगे कि जीव नित्य है, और जिसने पर्यायदृष्टि बनायी है, पर्यायको मुख्य करके देखें तो जीवमें प्रतिसमय नवीन पर्यायें होती हैं और वे पर्यायें एक क्षण ठहरती हैं, दूसरे क्षण नहीं रहतीं। जीव अनित्य है, जो सुबह है वह दोपहर नहीं, जो दोपहर है वह शामको नहीं। विचार विकार तरंग, और जो इस भवमें है वह अगले भवमें नहीं। तो जीव अनित्य है, ऐसे दो प्रकारके दिमाग वालोंने दो बातें कहीं। अब ये दोनों ही अपनी-अपनी हठपर अड़ जायें, द्रव्यार्थिकनयसे देखा तो कहा कि सर्वथा जीव नित्य ही है, अपरिणामी है, कूटस्थ नित्य है, उसमें परिणाम है ही नहीं, विकार है ही नहीं, ऐसा कोई एकान्त कर ले तो द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत्य बोल रहे थे, मगर एकान्त कर लिया तो वह असत्य हो गया। उसमें वस्तुका स्वरूप नहीं बनता, ऐसे ही पर्यायका एकान्त करके कोई कहे कि जीव तो क्षण-क्षणमें नया नया है। दो क्षण भी नहीं ठहरता एक जीव, क्योंकि उसने देखा पर्यायको, और उस पर्यायको मान लिया सम्पूर्ण जीव। वह तो दूसरे क्षण भी नहीं ठहरता, वह तो अनित्य ही है, ऐसा एकान्त कोई कर ले तो वह भी असत्य है। तब द्रव्यार्थिक पर्या-

यार्थिक दोनों नयोंकी संधिका महत्त्व है जैनदर्शनमें । फिर करे क्या ? जब जिस दृष्टिको मुख्य करके हमें आत्मस्वभावका दर्शन हुआ उस द्रव्यको मुख्य करके स्वभावदर्शन किया जावे ।

(९१) **अन्तस्तत्त्वका परिचय कर उसमें लीन होनेके पौरुषमें ही कल्याणलाभ**—निचोड़ यह है आत्माके स्वभावके परिचय बिना, ज्ञान बिना और स्वभावमे मग्न हुए बिना संसारके संकट नहीं मिट सकते । मुक्ति मिलेगी तो अंतस्तत्त्वके परिचयसे मिलेगी । आत्मबोध करें, आत्मज्ञान करें, आत्मामें मग्न हों । जैसे—लोग रमते हैं ना विषयोंमें, भोगोंमें, पदार्थोंमें तो वह भी एक ऊपरी बात ही तो है । बोलो कोई रम सकता है क्या मकानमें ? आप यहाँ बैठे हैं, मकान वहाँ धरा है, केवल कल्पना ही तो करते । यह रम सकता है क्या किसी दूसरी बातमें ? तो जब ये भोग विषयरम्य नहीं हैं, रमने लायक नहीं हैं, आखिर छोड़कर जाना ही तो होगा, कितने दिनकी बात है ? यह वैभव, यह धन, यह संयोग कितने समयकी बात है ? कुछ प्राण निकल जानेका समय नियत है क्या ? अरे न जाने कब किसका प्राणान्त हो जाय । चलते-फिरते, उठते बैठते, लिखते पढ़ते न जाने कब प्राणान्त हो जाय । प्राणान्त हो जानेका समय कोई नियत नहीं । ऐसा असार संसार है, इसमें किसी भी बाह्यपदार्थमें मग्न मत हों, लगाव मत लगावो, बाहर दृष्टि दो अपने आत्माके स्वरूपकी । भला होगा तो आत्मज्ञानसे ही होगा । उस आत्मद्रव्यको समझें और ज्ञानमात्र एक स्वभावरूप अपनेको अनुभव करें । मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसी अपनेमें दृष्टि दें, ऐसा अनुभव बनायें । ये विकल्प छोड़ें कि में व्यापारी हूं, मैं अमुक हूं, मैं पुरुष हूं । मैं स्त्री हूं, ये भी विकल्प अनुभवमें बाधक है, क्योंकि ये सारे विकल्प जब होते तब शरीरमें मग्न रहते हैं । आप सोच लो—मैं व्यापारी हूं, ऐसा कोई तब कह सकता, जब कि चित्तमें चैतन्यस्वरूप समाया हो । जब शरीरका भान है तब कहेंगे कि मैं व्यापारी हूं, तब कहेंगे कि मैं अमुक हूं । तो ये सारे जितने बाह्य विकल्प हैं ये सब शरीरके आश्रित हुए ना । तो इन विकल्पोंका परिहार करें और अपने आपके भीतर जो एक विशुद्ध चैतन्यशक्ति है उस आत्मतत्त्वका अनुभव करें ।

(९२) **बाह्यविकल्प त्यागकर उपयोगभूमिको स्वच्छ बनानेका कर्तव्य**—जैनदर्शनके उपदेशका सार कितना है, उपदेश बहुत है, ग्रन्थ बहुत हैं, पर सार यह है कि अंतरंग बहिरंग विकल्पका त्याग और अपने आपको सहज ज्ञानस्वभाव रूप अनुभव करो । धीरे-धीरे उपयोगको स्वच्छ करके बाह्यमें विकल्प न जाय, इसके लिए अगर सारा जीवन लग जाय एक उपयोगकी स्वच्छता करनेके लिए तो समझो कि हम बहुत बड़ा काम कर रहे । एक राजाके पास दो चित्रकार आये । एक था मानो इटलीका चित्रकार और एक था जापानका । राजाने दोनों चित्रकारोंसे कहा कि तुम दोनों इस हालमें एक एक भींतपर सुन्दरसे सुन्दर चित्रकारी

करो, जिसकी चित्रकारी विशेष अच्छी होगी उसको पुरस्कार मिलेगा।····ठीक है। बीचमें एक पर्दा डाल दिया गया। तो इटलीके चित्रकारने क्या किया कि कई तरहके मसाले ला लाकर एक तरफकी भींतको रगड़ना शुरू किया। वह ६ माह तक रगड़नेका ही काम करता रहा और उधर दूसरी भींतपर जापानी चित्रकारने नाना प्रकारके रंग ला लाकर चित्र बनाना शुरू किया, वह भी ६ माह तक चित्र बनानेका काम करता रहा। जब ६ माह पूरे हो गए तो राजाने बीचका पर्दा हटा दिया और दोनों चित्रकारोंकी चित्रकारी देखना शुरू किया। तो वहाँ क्या देखा कि इटलीके चित्रकारने जो भींतको ६ माह तक घुटाई की थी उसमें दूसरी भींतपर बने हुए चित्रोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था जिससे चित्र बड़े कांतिमान दिखाई पड़ रहे थे, और दूसरी ओर जापानी चित्रकार द्वारा बनाये गए चित्र बड़े भद्दे मालूम पड़ रहे थे। आखिर इटलीके चित्रकारने पुरस्कार प्राप्त किया। तो भाई अपनी इस उपयोग भींतको पहले घिसो, खूब रगड़ो मननसे, चिंतनसे विचारसे, और फिर जो करेंगे क्रिया, व्रत, संयम आदिक जो कुछ करेंगे वह विधानसहित, विधिपूर्वक सहजभावसे होगा। इसमें तीन बातें समझनी हैं, एक तो निमित्त दो प्रकारके—आरोपित निमित्त और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, और विकार दो प्रकारके— बुद्धिपूर्वक विकार और अबुद्धिपूर्वक विकार, बस ये दो रूप समझ लिया तो इस प्रश्नके समाधानमें सन्देह नहीं रह सकता। तो यहाँ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है। अन्तरंग निमित्त कहो, कर्मोदय कहो, बंधन उपाधि कहो, इन सब शब्दोंका समयसारमें प्रयोग किया गया है और उपचरित निमित्तके लिए उपचरित निमित्त है—आश्रयभूत निमित्त कहो, बहिरंग निमित्त कहो, नोकर्म कहो, विषयभूत निमित्त कहो, ये सब एकार्थक हैं। आप ही समझो शास्त्रोंमें कर्म नोकर्म ये दो बताये कि नहीं। कर्म भी निमित्त हैं और नोकर्म भी निमित्त हैं। विकारके लिए। अगर दोनों ही इस प्रकारके हों कि जिसमें हम उपयोग जोड़ें निमित्त हो तो इसके कहनेकी क्या जरूरत थी? वे तो एक ही प्रकारके कहलाये। तो उनमें एक विवेक बनायें कि जगतमें जितने भी पदार्थ हैं ये सब आरोपित निमित्त हैं। कुछ परतंत्र नहीं है कि ये पदार्थ हमको रागद्वेष करा ही दे। हम इनमें जुड़ते, इनको ख्यालमें लेते, राग करते, द्वेष करते, इसलिए अपनेका परतंत्र अनुभव करें कि हम बड़े बंधनमें हैं।

(९३) उपचरित निमित्तोंको महत्त्व न देकर निज महान् ज्ञानस्वभावमें प्रीति करनेका अनुरोध—लोग कहने लगते कि अभी तो हमारी कच्ची गृहस्थी है पर हम तो यह नहीं जानते कि गृहस्थी पक्की कब कहलाती? और फिर गृहस्थी कच्ची है तो वह तो बंध नहीं सकती, पक्की ही तो बंधेगी। गृहस्थी पक्की हो जाय या कच्ची हो, जब उसमें उपयोग जोड़ो तभी वे निमित्त बनते हैं, उनमें उपयोग न जोड़ो तो वे निमित्त नहीं होते। राजा जनककी

एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह एक योगी कहलाते थे। तो एक गृहस्थ अपनी गृहस्थीमें बड़ा दुःखी होकर राजा जनकके पास पहुंचा और कहा—महाराज मैं क्या करूं ? मैं तो गृहस्थीसे बहुत दुःखी हूं, मैं तो गृहस्थीसे बंधा हुआ हूं। गृहस्थीने मुझे जकड़ रखा है। तो राजा जनक ने उत्तर तो कुछ न दिया, पर सामने खड़े हुए एक खम्भेको अपनी जोंटमें भर लिया और कहा अरे रे रे भाई मुझे छुड़ावो, देखो इस खम्भेने मुझे पकड़ लिया। तो वह गृहस्थ बोला–राजन् आप तो बड़े बेवकूफ मालूम होते हैं। हमने तो सुना था कि आप बड़े बुद्धिमान हैं, इसीसे हम आपके पास आये थे, पर आप तो हमसे भी अधिक मूर्ख मालूम होते हैं। अरे आपने स्वयं ही इस खम्भेको पकड़ रखा है फिर भी आप कह रहे कि इस खम्भेने मुझे पकड़ लिया। तो राजा जनक बोले—बस यही तो तुम्हारा उत्तर है। तुम भी तो मूर्ख मालूम होते हो। अरे गृहस्थीको तुमने स्वयं पकड़ रखा है, अपने चित्तमें बसा रखा है फिर भी कहते हो कि गृहस्थीने मुझे पकड़ रखा। तो जिसमें अपना उपयोग जोड़ो वही निमित्त होता है। जिसको हमने जाना उसीमें उपयोग जुड़ सकता। तो जो ज्ञात निमित्त है, जो वास्तविक निमित्त है, आश्रयभूत निमित्त है उसमें उपयोग जोड़ा तब विकार व्यक्त होता है, पर कर्मोदय है, अज्ञात अज्ञातमें उपयोग तो नहीं जुड़ता, अज्ञातके निमित्तसे ज्ञातका तिरस्कार हो जाता है और ज्ञातसे अज्ञातका भी तिरस्कार हो जाता है, किन्तु उपयोगका जुड़ना ज्ञात नहीं होता। तो ज्ञातका तिरस्कार ज्ञातसे भी होता और अज्ञातसे भी होता है। उसके बादका वर्णन अब आगेके निबंधोंमें आयगा, अभी तो इतना तात्पर्य समझना कि उपयोग दो प्रकारके होते—व्यक्त और अव्यक्त। निमित्त दो तरहके होते–अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आरोपित निमित्त। आरोपित निमित्तमें उपयोग जोड़ें तो व्यक्त विकार होता है न जोड़े तो नहीं होता और अन्वयव्यतिरेकी निमित्तका सन्निधान पाकर अगर उपयोग इन बाहरी पदार्थोंमें न जोड़ें तो अव्यक्त विकार मिलकर व्यक्त विकार नहीं हो सकता। तो जो इन विषयोंमें उपयोग न जोड़नेका तपश्चरण करे उसके यह संभव है कि अव्यक्त विकार भी दूर अवश्य हो जायगा।

—०—

(२०)

(९४) उत्पादशीलता होनेपर भी विकारपरिणमनकी स्वपरप्रत्ययकता–जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित होते हैं तो प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण नई अवस्था बनाता है, पूर्व-पूर्व अवस्था विलीन करता है और वह पदार्थ सदा बना रहता है, जैसे

एक दृष्टान्त लो—एक अंगुली है, अभी यह सीधी है, अब यह टेढ़ी हो गई तो क्या हो गया कि टेढ़ेपनका तो उत्पाद हुआ और सीधेपनका विनाश हुआ, और अंगुली बराबर वही बनी रहती है। जो सीधमें थी वही अब टेढ़में है। अंगुली वही है। और अंगुलीमें ऐसी अवस्था नई बनी और पुरानी अवस्था मिट गई यह एक दृष्टान्त है, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने द्रव्यत्व गुणके कारण नई-नई अवस्थायें बनाता है, जो जहाँ नई अवस्था बनी वहाँ पुरानी अवस्था विलीन होती है और वस्तु वहीका वही रहता है, ऐसा सभी पदार्थोंका नियम है, पर साथ ही साथ यह भी विचारें कि पदार्थ केवल अपने ही प्रत्ययसे परिणमन करे तो उसमें स्वभाव परिणमन होगा। विभाव परिणमन, विकार परिणमन न होगा। क्यों न परिणम होगा क्या वजह है कि पदार्थ जब अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य व्रतको लिए हुए है तो उस में अपने आप विकार परिणमन न हो। समाधान—देखो अपने आपमें अपने स्वभावके अनुरूप उत्पाद होना चाहिए, स्वके ही प्रत्ययसे विषम पर्याय कैसे बन सकती है? वहाँ यह मानना ही होगा कि उसके साथ किसी पर उपाधिका सम्बंध है तब यह विकाररूप परिणमा। देखो निमित्त और उपादानका सम्बन्ध इतना ही भर है कि योग्य उपादान अपनेमें विकार उत्पन्न करता है, किन्तु इस वाक्यमें यह समझ लिया होगा कि निमित्त उपादानमें विकार नहीं करता और निमित्तके सन्निधान बिना विकार नहीं होता। यह नियम समस्त पदार्थोंके लिए है। जो जो पदार्थ विकाररूप परिणमते हैं, विकाररूप परिणम सकने वाले पदार्थ दो ही प्रकारके होते है—जीव और पुद्गल। शेष पदार्थोंमें विकार परिणमन नहीं होता। धर्मद्रव्यमें निरन्तर स्वभाव परिणमन है। अधर्मद्रव्यमें भी स्वभाव परिणमन आकाश और कालद्रव्यमें भी स्वभाव परिणमन चलता है। विभाव परिणमन केवल दो द्रव्योंमें है—जीव और पुद्गलमें। सो विभाव परिणमनमें जो कुछ भी होगा वह पर पदार्थ उपाधिका निमित्त पाकर होगा। होगा उपादानमें, उपादानकी परिणतिसे ही, निमित्त उपादानकी परिणति न कर देगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं करता, सभी पदार्थ अपने आपमें अपना ही परिणमन कर रहे हैं, पर निमित्तयोग होनेपर विकृत परिणमन होता है और परप्रत्यय न हो तो वहाँ विकृत परिणमन नहीं होता।

(९५) **दृष्टान्तपूर्वक विषम कार्यकी स्वपरप्रत्ययकताकी सिद्धि**—देखो एक मोटा दृष्टान्त। जैसे रेलगाड़ी चलती है तो इंजन कैसे चलता है? बस चलता ही जाता है और जब कभी दिशा बदलनी होती है, पूरबसे चलती है अब दक्षिणको करना है तो पैंटमैन होता है जो लाइन बदलता है। उस बदली हुई लाइनका सन्निधान पाकर इंजन भी दक्षिणकी ओर चल देता है। इंजन स्वयं अपने आपकी ओरसे जिस बेगसे चल रहा था उसमें स्वयं यह बात नहीं पड़ी है कि वह अपनी ओरसे दक्षिण दिशामें चला जाय। गया यद्यपि अपनी

ही शक्तिसे, अपने ही परिणमनसे लेकिन आंखोंसे देख ही तो रहे हैं जब कि इस प्रकार जो दक्षिणकी ओर इंजन गया तो पटरी बदलनेका निमित्त पाकर गया। तो निमित्तने इंजनकी गति नही बना दी। इंजन तो स्वयं गतिशील है, मगर यह भी दिख रहा कि उस बदलका निमित्त पाकर इंजन दक्षिणकी ओर गया, ऐसे ही सर्वत्र नियम है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमते तो हैं अपने आपकी परिणतिसे ही लेकिन विभाव परिणमन जो होता है उसमें कोई पर पदार्थ निमित्तमात्र अवश्य है, अन्य किसी उपाधिके सन्निधान बिना विकार परिणमन नहीं होता। तो देखो इतनी बात सब द्रव्योंके लिए लागू है। अब केवल जीवद्रव्यके विकारकी बात लो। पुद्गलमें उपादान एक क्यों होता है और जीव विकारके प्रसंगमें निमित्त दो प्रकारके होते हैं एक होता है अन्वय व्यतिरेकी निमित्त और दूसरा होता है आश्रयभूत निमित्त। जीवमें जो प्रकट विकार होता है, बुद्धिपूर्वक विकार होता है वह इस प्रकार होता कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर और इस जगतके आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग जोड़कर यह जीव अपनी परिणतिसे अपनेमें विकार उत्पन्न कर लेता है। तो देखो निमित्तमें दो बातें आयी ना एक तो अन्वय व्यतिरेकी निमित्त पाया दूसरे जगतके जो बाह्य पदार्थ है, आश्रयभूत पदार्थ हैं उनमें उपयोग जोड़ा तो बाह्य आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग जोड़ा सो विकार व्यक्त होता है और अन्वय व्यतिरेकी निमित्तमें उपयोग नहीं जोड़ा जा सकता। वह तो अजीव अजीवमें जैसा निमित्त उपादानका सम्बन्ध है उसी नातेका सम्बन्ध अन्वय व्यतिरेकी निमित्त और जीवके विभाव पर्यायमें है। वहां यह जीव बाह्य पदार्थोंमें उपयोग नही जोड़े तो वहाँ व्यक्त विकार तो नहीं होता, लेकिन कर्मविपाकका सन्निधान हो तो इसमें अव्यक्त विकार हो ही जाता है। अव्यक्त विकार शिथिलताको लिये हुए है।

(६६) **आश्रयभूत निमित्तोंके साथ जीवविकारके अन्वयव्यतिरेक सम्बन्धका अभाव**—यहां अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आश्रयभूत निमित्त दो की चर्चा चल रही है। ये दोनों अलग-अलग बातें हैं, जिनको जैन सिद्धान्तमें कर्म और नो कर्म ये दो भेद कहे है। कर्म तो है वास्तविक निमित्त और नो कर्म है आरोपित निमित्त उसमें उपयोग जोड़ें तो निमित्त बने न जोड़ें तो नहीं बनता है ऐसी इन दो निमित्तोंके सम्बन्धमें बात चल रही है कि कर्म उदय विपाक है अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। अन्वयव्यतिरेकी निमित्त किसे कहते हैं जिस कर्मविपाक के होनेपर ही जीवमें विकार होता है और कर्मविपाक न होनेपर जीवमें विकार नही होता, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध जहां पाया जाय, जिस निमित्तमें पाया जाय उसे कहते हैं अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। सर्वत्र यह जानना कि परिणमन तो पदार्थका अपने आपमें अपनी ही परिणतिसे होता है किन्तु जो विभाव है वह मात्र स्व प्रत्ययक नहीं होता। वह होता है

स्वपरप्रत्ययक। तो अब आश्रयभूत निमित्त क्या है? आश्रयभूत निमित्त वह है जिससे बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़ा जावे। वहां उपयोगके जोड़नेपर कर्मोदय विपाकज विकार व्यक्त जग जाता है ऐसे जिन बाह्य पदार्थोंमें हम लगाव लगायें, उनमें अपना चित्त दें तो वे बाह्य पदार्थ निमित्त कहलाते हैं। वे उपचरित निमित्त है, आरोपित निमित्त हैं। वास्तविक निमित्त नहीं हैं। इन आश्रयभूत निमित्तोंके साथ जीवके विकारका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं जैसे क्रोध आया और किसी बच्चेपर आया, बच्चेका क्रोधके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं कि बच्चा होने पर ही क्रोध जगे। बच्चा न हो तो क्रोध न जगे। बच्चा होनेपर भी क्रोध न जगे। बच्चा न होनेपर भी क्रोध जग जाय, तो वहां अन्य कोई आश्रयभूत निमित्त बन जाता है। इन आश्रयभूत निमित्तोंका जीवविकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। तो यहाँ दो प्रकारके निमित्त ध्यानमें आये ना जिनका सिद्धान्तमें स्पष्ट वर्णन है। तो यहां क्या तात्पर्य निकला कि आश्रयभूत निमित्तमें जब उपयोग जुड़ता है तब विकार व्यक्त हो जाता है। होता है यद्यपि इस जीवमें ही मगर कर्मोदय विपाक निमित्त है और बाह्य पदार्थ याने नो कर्म ये आश्रयभूत निमित्त हैं।

(६७) **आश्रयभूत विषयोंमें उपयोग न जोड़नेका मोक्षमार्गमें सहयोग**—अब देखो उपयोग कहाँ जोड़ा गया? जगतके इन बाह्य पदार्थोंमें? और कहो कि कर्मोदयमें उपयोग जोड़ देंगे तो बतलावो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और ये पञ्चेन्द्रिय, क्या ये जानते हैं कि ये कर्म अब उदयमें आये हैं, अब निकले हैं? ऐसा कोई ज्ञात तो नहीं होता। जो चीज ज्ञात नहीं है उसमें लगाव कैसे लगाया जाय? तो कर्मोदय विपाकमें उपयोग नहीं जुड़ता। इसका तो जीव विकारके साथ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है जैसा अजीव पदार्थोंका अजीव पदार्थोंके साथ होता है। अब एक पुनः इस घटनाको समझ लीजिए। अशुद्ध जीव है और उसके साथ कर्मका बन्धन है। जब कर्मका उदय विपाक होता है तो उस समय जीवके उपयोगकी स्वच्छताका तिरस्कार हो जाता है, दब जाता है। ऐसी स्थितिमें यदि यह जीव इन बाहरी आश्रयभूत पदार्थोंमें उपयोग जोड़ता है तब तो हो जाता है विकार व्यक्त और इसमें उपयोग नहीं जोड़ता है तो विकार रह जाता है अव्यक्त। देखो अज्ञानी तो प्रतिक्षण किसी बाह्य विषयमें उपयोग जोड़े रहता है। ज्ञानी पुरुषमें ऐसी कला है कि वह बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़े तो व्यक्त विकार हो और उपयोग न जोड़े तो व्यक्त विकार न हो, ऐसी स्थितिमें जब कि वह इन पुत्र मित्र मकान आदिकमें अपनी ममताका लगाव नहीं रखता, तो ये कर्म जो पहले बंधे हैं वे शिथिल होकर क्षीण हो जाया करते हैं। पौरुष चलेगा हमारा बुद्धिपूर्वक कामके लिए। बुद्धिपूर्वक काम यही है कि इन बाह्य पदार्थोंको ध्यानमें लाते।

उपयोग इसमें लगाते और यहाँ व्यक्त विकार बनाते। पुरुषार्थ क्या करें कि किसी भी बाह्य पदार्थको अपने उपयोगमें मत लावें, किसीका ख्याल न करें, एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप अर्थात् अपने आपकी सत्ताके कारण जो चित्का स्वरूप है वह मेरे ध्यानमें रहे तो भव भवके बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें खिर जायेंगे। सो अपनेको पुरुषार्थ यही करनेको है कि इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमें अपना उपयोग न जोड़ें। हुआ क्या यहाँ कि कर्मोदय विपाक हुआ, उसका सन्निधान पाकर ज्ञानका तिरस्कार हुआ, स्वच्छता दब गई। उस कालमें घबड़ाता हुआ यह जीव अपने सुखके लिए ऐसा निर्णय बनाये हुए था ना कि पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अनुभव जगा तो शुभ हो गया तो यह बाह्य पदार्थोंमें उपयोगको जोड़ता है और वहाँ विकार व्यक्त हो जाता है। विकार न जोड़े तो विकार अव्यक्त रहेगा, और विकारका मूल जो कर्म है वे कर्म भी खिर जायेंगे और इससे हम मुक्तिके निकट पहुंच जायेंगे।

—०—

(२१)

(९८) **अन्वयव्यतिरेकी निमित्त व आश्रयभूत निमित्तका विश्लेषण**—जीवमें रागादिक विकार होते हैं। इस प्रसंगमें स्वयं ही आप ही आप परके सम्पर्क बिना जीवमें ऐसा विकार हो, स्वप्रत्ययक हो तब वह स्वभावभाव बन जायगा। तब जैसा कि आगम कहता है, युक्ति कहती है, अनुभव कहता है, कोई परउपाधि संपर्कमें होता है तब विकार होता है। तो उन्हें ही निमित्त बोलते हैं। तो निमित्तकी जो प्रकारता बतायी जा रही है एक अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, दूसरा आश्रयभूत निमित्त। खूब ध्यानसे सुनो— निमित्तका उपादानमें न द्रव्य जाता, न क्षेत्र जाता, न काल जाता, न भाव जाता, न प्रभाव जाता। निमित्तका कुछ भी अंश उपादानमें जाता नहीं, मगर निमित्त योग बिना विकार होता नहीं। वहाँ यह ही समझना कि निमित्तका सन्निधान पाकर उपादान स्वयं उसरूप हो जाता है। तब उन निमित्तों में दो प्रकार हो गए—अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और आश्रयभूत निमित्त। जहाँ कहा वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। अन्वयव्यतिरेकीका अर्थ है कि जीव विकारके साथ कर्मका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध है, कर्मोदय हो तो जीव विकार हो, कर्मोदय न हो तो जीव विकार न हो, ऐसा सम्बंध जहाँ हो उसे अन्वयव्यतिरेकी निमित्त कहते हैं, और जहाँ अन्वय व्यतिरेकी तो नहीं है, पर जिसमें उपयोग जोड़ा जावे तो निमित्त कहलाता है उपयोग न जोड़े तो निमित्त न कहलाये ऐसा जो बाहरी समागम है उसे कहते हैं आश्रयभूत निमित्त।

इन दोनोंका एक दृष्टान्त ले लो। जैसे किसी मनुष्यको क्रोध उत्पन्न हुआ, जो कि दिख गया, व्यक्त हो रहा कि यह गुस्सामें आ रहा। तो वहाँ देखो क्रोधप्रकृतिका उदय न हो तो क्रोध बन जायगा क्या ? क्रोध प्रकृतिका वहाँ उदय है, यह तो हुआ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और साथ ही वह नौकरपर या पुत्रपर किसीपर क्रोध बन रहा, नहीं तो जो स्पष्ट क्रोध है उसका स्वरूप क्या ? किसी व्यक्तिपर, किसी पदार्थपर उपयोग जोड़ते हुए यह क्रोधी बनता है, तो जिसमें उपयोग जोड़ा गया वह कहलाता है उपचरित निमित्त (आश्रयभूत निमित्त)।

(६६) अन्वयव्यतिरेकी निमित्तमें प्रतिनियतता व आश्रयभूत निमित्तमें अनियतता— अन्वयव्यतिरेकी निमित्त व आश्रयभूत निमित्त दोनोंका अन्तर आयगा आगे समझनेमें, पर थोड़ा स्थूल रूपसे इतना तो ध्यानमें है कि इन दो प्रकारके निमित्तोंमें परस्पर अन्तर है। तो जैसे जीवने किसी नौकरपर क्रोध किया तो वहाँ अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है वह नौकर, जिसपर क्रोध चल रहा, यह भी आप देखेंगे कि अन्वयव्यतिरेकी निमित्त तो होता है प्रतिनियत और आश्रयभूत निमित्त नियत नहीं होता। जैसे क्रोध आयगा कब ? जब क्रोधप्रकृति का उदय हो। नियत बन गया ना ? अन्य प्रकृतिके उदयमें नहीं, मगर आश्रयभूत निमित्त में नियतपना नहीं कहा। नौकरपर उपयोग जोड़कर क्रोध आ गया, पुत्रपर क्रोध आ गया या अन्य किसीपर उपयोग जोड़कर क्रोध हो गया, तो प्रतिनियत न रहा। जैसे कि कर्मविपाकका विकारके होनेमें प्रतिनियत है उस प्रकार से जगतके बाहरी पदार्थ प्रतिनियत निमित्त नहीं हैं, जो ध्यानमें आया उसीका आश्रय करके यह विकारी बनता है। लोग कहा करते हैं कि एक गुहेरा होता है वह जब मूत्र करता है तो किसी न किसीको काटकर, डसकर करता है। तो वहाँ बात यह है कि उस गुहेरेको कोई ऐसा शौक नहीं है कि वह किसीको डसता हुआ हो मूत्र करे, किन्तु उसके मूत्र करनेकी प्रकृति ही ऐसी है। न हो मनुष्य तो किसी लकड़ीको ही मुखसे काटकर मूत्र कर देगा। कुछ भी जीव मिले या अजीव मिले, यह उसकी औरकी आदत है। तो ऐसे ही जब व्यक्त विकार होता है तो वह परपदार्थमें उपयोग जोड़ता है। तो इसकी ऐसी आदत है कि यह विकार बनता ही तब है जब किसी भी परपदार्थमें उपयोग जोड़ा जा रहा हो, किसी बाह्य पदार्थमें उपयोग जोड़े बिना व्यक्त विकार नहीं होता, क्योंकि इस विकारका फिर रूप क्या, मुद्रा क्या ? हाँ आश्रयभूत पदार्थका उपयोग न हो तो अव्यक्त विकार रह जायगा। तो जो आश्रयभूत निमित्त हैं उनमें तो प्रतिनियतपना नहीं है कि नौकर न हो तो क्रोध न होगा, जो विचारमें होगा उसीका आलंबन लेकर क्रोध बना लेगा। जैसे गुहेरा किसी आदमीकी प्रतीक्षा नहीं करता, वह तो जीव मिले या अजीव उसको डसता हुआ ही मूत्र करता है, ऐसे ही यह उपयोग जो कुछ भी सामने मिले, जिसका भी

ख्याल आ जाय, कुछ सम्बंध बन जाय, उसका ही आश्रय करता हुआ यह विकार उत्पन्न कर लेता है। तो आश्रयभूत निमित्तमें तो यह अटपट बात चलेगी, क्योंकि वह उपचरित निमित्त है, वास्तविक निमित्त नहीं हैं। पर कर्मोदय विपाकमें अटपट बात नहीं चलती। वहाँ यह प्रतिनियतपना है कि दर्शन मोहका उदय होनेपर मिथ्यात्वभाव होता, साता वेदनीयका उदय होनेपर साता भाव होता, क्रोध प्रकृतिका उदय होनेपर क्रोध भाव होता, तो कर्मोदय विपाक तो एक वास्तविक निमित्त हुआ और जगतके ये बाहरी पदार्थ आश्रयभूत ये उपचरित निमित्त कहलाते हैं।

(१००) **निमित्तकी द्विविधताके परिचयमें सन्मार्गका प्रकाश**—देखो दोनों बातें सही समझो जायेंगी तो जिनागमकी सत्यता समझेंगे। कर्म, नोकर्म इनको कहनेकी क्या जरूरत? यह आवश्यकता है, यह भेद बताता है। एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि कोई एक वेश्या मरी, उसको देखकर कामी पुरुष सोचता है कामविषयक बात, मुनि सोचता है उसके कल्याण वाली बात और कुत्ता शृगाल आदिक सोचते हैं कि ऐसे ही छोड़ जायें तो इससे हमारी क्षुधा मिटे। अब यहाँ यह बात देखेंगे कि जो साधु जन हैं उनका वास्तविक निमित्त वह मृतक वेश्या शरीर नहीं है, किन्तु १२ प्रकारकी कषायोंका अनुदय है, क्षयोपशम है, इस कारण उनका भाव विशुद्ध हुआ। कामीके जो भाव हुआ उसमें वास्तविक निमित्त वह मृतक वेश्या-देह नहीं है, किन्तु उस प्रकारके बंधका उदय है। तो ऐसा भाव हुआ, और शृगाल आदिकके असाता वेदनीयका उदय है और साथ ही उस प्रकारकी रतिका उदय है सो ऐसा भाव बना। अगर आश्रयभूतकी ओरसे देखें तो अटपट रहे ना। वही वेश्या मुनिके और प्रकारके परिणाम का निमित्त रहा, वही देह कामी और शृगालके और प्रकारका निमित्त रहा, तो ये दो बातें स्पष्ट जाननेमें आनी चाहिए कि अव्यक्त विकार तो होता है, उपयोग किसी आश्रयमें न पड़ रहा हो और व्यक्त विकार तब होता है जब किसी परवस्तुमें उपयोग जम रहा हो। तो देखो सभी ग्रन्थोंमें जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला सभीमें यह स्पष्ट हो जाता है कि हाँ वास्तवमें जीव विकारमें दो प्रकारके निमित्त हुआ करते हैं। अजीव विकारमें वहाँ एक ही प्रकारका निमित्त होता है, उपयोगमें जुड़ने न जुड़नेकी बात नहीं है अजीवमें। जैसे आग पड़ी है पीछे पैर आ गया आगपर, तो वहाँ यह बात न चलेगी कि अरी आग हमने तो तुमको उपयोगमें ही नहीं लिया था, तू जला क्यों रही है? जलानेका कारण क्यों बन रही है? वहाँ तो जैसा योग है, जैसा उपादान है उस प्रकारसे वहाँ बर्ताव होता है। तो जो पहले यह बताया था कि कर्मविपाक है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और ये बाहरी समागम है आश्रयभूत, उसका दृष्टान्तपूर्वक कुछ कथन किया गया है।

—०—

(२२)

(१०१) **अन्तरङ्ग निमित्त व बहिरङ्ग निमित्तका प्रतिपादन**—निमित्तकी द्विविधता के विषयको एक दूसरे प्रकारसे ध्यानमें लायें। एक होता है अन्तरंगनिमित्त और दूसरा कहलाता है बहिरंग निमित्त। बात यही कही जा रही है जो पहले कहा गया था कि कर्म तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त और जगतमें बाह्य पदार्थ हैं आश्रयभूत निमित्त इसीको इस तरह निरखें कि एक तो है अंतरंग निमित्त और दूसरा है बहिरंग निमित्त जिसे हम उपचरित निमित्त कहते हैं जिसमें उपयोग जोड़नेसे व्यक्त विकार होता है वह बहिरंग है तो यह बात कैसे घटित होती है, क्यों कर्मविपाक अंतरंग है और क्यों ये बाह्य पदार्थ बहिरंग हैं, उनका हेतु देखिये—कर्मविपाकको अंतरंग निमित्त इस कारण कहा जाता कि वह अन्वय व्यतिरेकी है, एक क्षेत्रावगाही बद्ध है और स्वभाव तिरस्कारमें वह हेतु है और उनका प्रतिफलन हो गया, अन्वरित है, इस कारण कर्मविपाकको अंतरंग निमित्त कहते हैं। देखिये—इन दोनों निमित्तोंमें अंतरंगपना और बहिरंगपनाका विश्लेषण किया जा रहा है। अन्तरंग निमित्त है कर्मविपाक। यह सिद्ध करनेके लिए चार बातें बतायी गईं। प्रथम तो यह कि अन्वयव्यतिरेकी ये बाहरी पदार्थ मेरे विकारमें अन्वय व्यतिरेकी नहीं। पुत्र हो तब क्रोध हो, पुत्र न हो तब क्रोध न हो, ऐसा नियम तो नहीं बनता। तो अन्वय व्यतिरेक नहीं है इस कारण वह बहिरंग कहलाता है और कर्मविपाकमें अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है। अन्वय व्यतिरेकका अर्थ है कि जिसके होनेपर है और न होनेपर न हो जैसे कि अग्निके होनेपर ही धुवां होता है और अग्निके न होनेपर धुवां नहीं होता, यह बात तो आप प्रत्यक्ष घरमें देखते ही हैं। तो जिसके होने पर हो हो और जिसके न होने पर न हो, उसको उस कालके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। जैसे किसीको घमंड आया तो मान प्रकृतिका उदय होने पर ही आया। मान प्रकृतिका उदय न हो तो घमंड नहीं हो सकता है। अब वहाँ यह विशेषता है कि यदि यह जीव किसी बाहरी पदार्थका आश्रय ले तो वह मान व्यक्त हो जाता है, आश्रय न ले तो वह अव्यक्त रहता है। यहां खूब ध्यानसे सुनो अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्तमें क्या अन्तर है? कर्मविपाक तो है अन्वय व्यतिरेकी और ये जगतके बाह्यपदार्थ हैं केवल आश्रयभूत, ये अन्वय व्यतिरेकी नहीं हैं इस कारण कर्मविपाकको तो अंतरंग निमित्त कहते हैं और बाह्य समागमको बहिरंग निमित्त कहते हैं।

(१०२) **कर्मविपाककी अन्तरङ्ग निमित्तताका व बाह्य विषयोंकी बहिरङ्गनिमित्तता के द्वितीय कारणका प्रदर्शन**—दूसरा हेतु दिखाया कर्मविपाक एक क्षेत्रावगाही बद्ध है, जब कि दुनियाके ये विषय प्रसंग ये बाह्य पदार्थ एक क्षेत्रावगाही बद्ध नहीं हैं। यहाँ दो विशेषण दिए

गए– एक क्षेत्रावगाही और बद्ध एकक्षेत्रावगाही। तो मेरे आत्माके प्रदेशोंमें रहने वाले अनेक पदार्थ हैं। यह देह है, और, और भी पदार्थ हैं, लेकिन वे बद्ध नहीं हैं। तो जो बद्ध नहीं है, बाहरी क्षेत्रमें है वह कहलाता है बहिरंग और जो अपने अंतरंग भावसे अन्वयव्यतिरेक रखता हो वह नीति कहलाती है अंतरंग। तो दूसरा हेतु है कि यह कर्मविपाक एक क्षेत्रावगाही बद्ध है लेकिन ये बाहरी विषय प्रसंग साधन ये एक क्षेत्रावगाही बद्ध नहीं हैं। यों अन्तरंग निमित्त और बहिरंग निमित्तमें अन्तर आया। अब तीसरा हेतु देखो कर्मविपाक तो होता है स्वभाव तिरोधानका हेतु अर्थात् आत्माका जो स्वभाव है उस स्वभावका तिरोधान होता है, इसका हेतु है कर्मोदय विपाक। जब जोड़ा तब, न जोड़ा तब, वह कर्मविपाक उदयमें आया तो वह स्वभाव तिरोधानका हेतु बन जाता है। चौथा हेतु है। अनिवारित प्रतिफलनका हेतु जैसे दर्पणके सामने हाथ करे तो उसको कोई रोक नहीं सकता कि न आये प्रतिबिम्ब और रोकेगा तो वही प्रतिबिम्बमें आ गया। तो यह कर्मविपाक प्रतिबिम्बका हेतु होता है इस कारण इसे अंतरंग निमित्त कहते हैं। और बहिरंग निमित्त ये जीवके विकारमें छाया आये ही आये, इसका निमित्त नहीं है। इस कारण ये कहलाते हैं वास्तविक निमित्त। हाँ तो जो एक यह चर्चा है कि उपयोग निमित्तमें जुड़े तो वह निमित्त कहलाता है और उपयोगमें न जुड़े तो वह निमित्त नहीं कहलाता। यह बात बहिरंग निमित्तमें घटावो, कर्मविपाकमें न घट सकेगा, क्योंकि कर्मविपाकका तो ज्ञान हुआ नहीं जीवको। ज्ञात है। जो अज्ञात है वह आश्रयभूत कैसे हो सकता है? और ये विषयसाधन बाहरी पदार्थ ये ज्ञात हैं तब ये विकारके विषय बनते हैं। तो उपयोग जोड़नेसे विकार हो, यह बहिरंग निमित्तमें लगावो। अन्तरंग निमित्तमें नहीं।

(१०३) **सम्पर्क व उपयोगरूप जुड़ानमें अन्तर**—वैसे तो जैसे निमित्तनैमित्तिक भाव होते हैं वैसी ही चीज चलती है, तो अंतरंग निमित्त मायने कर्मका उदय हो तो और कर्ममें उदीरणा हो तो वे दोनों ही अन्तरंग निमित्त कहलाते हैं। तो अंतरंग निमित्त याने जिसका उदय आये, जिसकी उदीरणा हो, ऐसे कर्म इस विकार करने वाले जीवको ज्ञात ही नहीं है तो उसका आश्रय कैसे लें? हाँ भूमिकाका जुड़ना तो है मगर ज्ञान द्वारा नहीं। जब कर्मका उदय होता है तो वहाँ ज्ञानस्वभावका तिरस्कार हो जाता है। तो इस प्रकारका जो तिरस्कार होता है, जिसे प्रतिफलन कहते हैं वह हुआ एक आलम्बन मगर बुद्धि वाला आलंबन नहीं कि उपयोग जुड़ायें तब ही हो यह तो एक प्रतिफलित हुआ वह कर्मविपाक और जीवमें उसकी छाया माया पड़ी। इस तरह बहिरंग निमित्त हो जाता है। इस सब चर्चासे शिक्षाकी बात क्या मिलती है? देखो शिक्षा केवल एक ही है स्वभावदर्शन लेनेकी। इस स्वभावदर्शन

के सिवाय कुछ भी दूसरा तत्त्व आश्रयमें न आने दें। प्रतिफलन—सामने जो दर्पणके आगे हाथ किया तो हाथका आलंबन हो गया, तो वहाँ जो आलंबनका अर्थ समझा ऐसा ही जीव के विकारमें भी समझें। तो शिक्षा हमको यह मिली कि जितने व्यक्त विकार होते हैं वे किसी बाह्य पदार्थका आश्रय विकल्प करना ही होता है। वे सब विकार दुःखदायी हैं इस कारण हमें इन बाहरी पदार्थोंका आश्रय न करना चाहिए, उपयोग न जोड़ना चाहिए। एक तो यह शिक्षा मिलती है, दूसरी यह शिक्षा मिलती कि कर्म कोई जबरदस्ती नहीं करते हैं कि तुम क्रोधी बनो, मानी बनो, ऐसा कर्मकी ओरसे कुछ भी जबरदस्ती नहीं है, वहाँ जो कुछ भी प्रश्न चलते है वे इसके ही अन्तरसे उठकर चलते हैं निमित्त पाकर। तो यहाँ यह समझना कि हमको कायर न होना चाहिए, निमित्त मेरेको विकार नहीं बनाते, किन्तु उस ही निमित्तका सन्निधान पाकर निमित्त पाकर विकारी बन जाता हूं। बात दोनों हैं। वृक्षके नीचे आने वाले पुरुषको वृक्ष छाया नहीं देता। वृक्ष तो वृक्षमें है। वृक्ष अपनेसे बाहर क्या दे सकते ? लेकिन ऐसा ही योग है कि जो मनुष्य वृक्ष तले जायगा, वृक्षका संबंध पायगा वह स्वयं अपने आप छाया ले लेगा। तो जैसे वृक्ष निमित्त बिना छाया नहीं, ऐसे ही समझो कि कर्मोदय बिना जीवके विकार नहीं। और जैसे यहाँ समझो, वृक्ष मुसाफिरको छाया नहीं देता, ऐसे ही यह समझो कि कर्मोदय जीवको विकारी नहीं बनाता, यह ही विकारकी आदत रखने वाला प्राणी योग्य अनुकूल निमित्त सन्निधान पाकर विकारी बन जाता है। बात यही है और सच्ची समझके बाद ही मुक्तिके मार्गकी बात बनती है। तो यहाँ यह बताया गया कि बुद्धिपूर्वक जो पदार्थमें विकारकी बात न करे तो ये व्यक्त विकार न रहेंगे और एक अपनेको रास्ता मिल जायगा, जिस रास्तेसे चलकर हम सिद्धप्रभु बनेंगे। श्रद्धा हो अपने आत्मस्वरूप की तो वहाँ फिर किसी प्रकारका विसंवाद नहीं।

(१०४) **स्वभावके दर्शनकी हितरूपता**—स्वभावदर्शन ही हित है। स्वभावदर्शनके लिए पद्धति है अपने अंतस्तत्त्वके आश्रय करने की, सो उन पद्धतियोंसे हम कल्याण मार्गमें बढ़ें तो यहाँ यह स्पष्ट किया गया कि बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जुड़ना है, कर्मोदयमें उपयोग नहीं जुड़ता। पर बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न जोड़ें तो उसकी ऐसी धीरता वीरता उत्पन्न होती है कि उसका अव्यक्त विकार भी खतम होने लगता है। यह है दो प्रकारके निमित्तों की चर्चा। मगर इसमें कोई विपरीत भाव लाये, इन बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जोड़े तो यह विकार बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, न जोड़े इस उपयोगको, बाहरी पदार्थोंमें। यह अपने आपके घरमें, जैसा तेरा स्वरूप है, स्वभाव है उसके अनुकूल तू अपनेको बर्तता हुआ रह, इसमें ही कल्याण लाभ मिलेगा। अनुभवमें इतनी बात है कि व्रत तप संयम नियम करना ये ही

स्वभावके उचित वर्तव्य है, सम्यग्दर्शन सहित व्रत, तप आदिककी क्रियायें हों तो बनेगा मोक्षमार्ग। और सम्यक्त्व साथ नहीं है तो रहेगा सदाचार और उसका फल है पुण्यबंध अगली गति उत्तम मिलेगी। वहाँ धर्मका प्रसंग मिल जायगा। तो व्रत, तप, संयम आदिक सभी स्थितियोंमें आदरके योग्य सम्यक्त्व जग गया तो मोक्षमार्ग और न जगा सम्यक्त्व तो पुण्य बंध। तो सदाचार जितनी शक्ति हो उसके मर्फिक करना ही चाहिए ताकि हमारे उत्तरोत्तर विशुद्धता बढ़े, निर्मलता बढ़े कि हम अपने आपके बसे हुए सहज परमात्मतत्वका दर्शन कर सकें।

—•—

(२३)

(१०५) **कर्म और नोकर्मके वर्णनका तथ्य**—ये संसारी प्राणी राग, द्वेष, मोह भाव के कारण दुःखी हैं, अन्यथा जीवका स्वरूप तो सहज चैतन्यमात्र है। केवल प्रतिभास। उस में कष्टका क्या काम? जितना भी कष्ट है वह रागद्वेष मोहका है। सो कष्ट भी भोगते जाते हैं और राग, द्वेष, मोहको छोड़ भी नहीं सकते। यह स्थिति है संसारी प्राणीकी। जब जान लिया कि राग ही कष्ट है तो फिर राग क्यों नहीं छोड़ते? द्वेष, मोह, कष्ट हैं तो फिर उन्हें क्यों नहीं छोडते? न जानने वाले तो छोड़ ही क्या सकें? जिनको परिचय ही नहीं कि राग द्वेष मोह ये कष्टरूप हैं, विकार हैं, मेरे स्वरूप नहीं, इनका जिन्हें पता नहीं वे तो छोड़ेंगे ही कैसे? किन्तु यदि ज्ञानी जीवको पता भी हो गया कि ये राग और द्वेष कष्टरूप हैं, फिर भी वे क्यों नहीं छोड़ते? इसका कारण विचारना होगा। तो सोचिये अब कारण। विकार होते समय जो हमारी समझमें आ सकता है, रागद्वेष विकारमें विकार होता है तब उस प्रसंगमें तीन पदार्थोंका प्रसंग रहता है—कर्म, नोकर्म और अशुद्ध जीव। यह बात कठिन नहीं है। ध्यानसे सुनो और अपने अन्दरकी बात भीतरकी बात। कैसे हमपर उपद्रव आते हैं और उन उपद्रवोंसे हम किस प्रकार छूट सकते हैं, यह बात यहाँ समझना है। तो पहले उपद्रवोंकी बात समझो कि ये आते किस तरह है? जिसमें विकार होते हैं, जो रागी द्वेषी बनता है वह तो है जीव उपादान और जिन पदार्थोंका ख्याल करके जिनमें उपयोग जोड़कर ये रागद्वेष बनते हैं ये होते हैं नोकर्म और जिस कर्मविपाकका निमित्त पाकर ये सब घटनायें बन जाती हैं वे कर्मविपाक हैं निमित्त। सीधी सी बात यों समझो कि कर्मोदय निमित्त है और जिसमें हम अपना उपयोग जोड़ते हैं ख्याल बनाते हैं, स्त्री, पुत्र, मित्र मकान आदिक ये कहलाते हैं नो कर्म और जो जीव रागी बन रहे, द्वेषी बन रहे वे हैं उपादान।

(१०६) **कर्म, नोकर्म व अशुद्ध उपादानका प्रसंग**—यहाँ तीन बातें सामने आयीं—कर्म, नोकर्म और अशुद्ध जीव उपादान। इन तीनोंका अर्थ समझो। कर्म क्या चीज ? पहले जब हमने रागद्वेष मोह किया था उस समय उनका निमित्त पाकर जो कार्माणवर्गणाओंमें कर्मरूपता आती मायने कर्मबन्ध किया, सो कर्म बँधते समय ही उनमें ये चार विभाग हो गए थे कि ये कर्म कैसे इस तरहका काम करेंगे ? प्रकृति बन गई थी और ये कर्म निषेक इतने समय तक ठहरेंगे तो यह कर्म निषेक इतनी डिग्रीका फल देगा और कर्म सो बँधे ही हैं। जैसे जब भोजन करते हैं ना और पेटमें भोजन चला गया तो वहाँ यह विभाग अपने आप हो जाता है कि कौनसी चीज क्या बन गई ? हड्डी बने, खून बने, मल बने, मूत्र बने, पसेव बने। होता है ना ऐसा। आखिर जिस भोजनको कहते हैं कि अब यह भोजन पच गया तो इसके मायने क्या कि उनमें अब कुछ सार सार बन गया और कुछ मल बनकर निकल गया। तो जो सारसा बना देहके लिए उसमें से कुछ हड्डी रूप बना, कुछ मांसरूप बना, कुछ अन्य रूप बना। तो यह क्या बन गई ? प्रकृति। और अब कितने दिन तक ठहरेंगे ? जो हड्डी बने वे परमाणु कितने दिन तक रहेंगे। जो मल बना वे कितने समय तक रहेंगे। जो मल, मूत्र, पसेव आदिक बने वे कितने समय तक रहेंगे, जो खून बना वह कितने समय तक रहेगा। है ना उसकी भिन्न-भिन्न बात। मल २४ घंटे अधिकसे अधिक रहे या जिसका जो कुछ हो, मूत्र ६-७ घंटे तक रहे देहके अन्दर, खून कुछ वर्षों तक रहे, हड्डी— ये और अधिक वर्षों तक रहें, तो ऐसी स्थिति उस भोजनमें पड़ जाती ना और अनुभाग हड्डीमें अधिक ताकत, खूनमें कम ताकत, मलमें कम ताकत, मूत्रमें और कम ताकत। अभी वैद्यक शास्त्र बताते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके पेटमें कमसे कम ३ सेर तो मल हमेशा रहना ही चाहिए। जब नहीं रहता है मल तो वह मनुष्य जल्दी मर जाता है। तो उस मलमें भी कोई शक्ति है। उसकी कितनी शक्ति और हड्डीकी कितनी शक्ति। उस शक्तिमें अन्तर है ना ? यह ही हो गया अनुभाग। और कितने प्रदेश कहां लगे हुए हैं ? यह हुआ प्रदेशबंध तो ऐसे ही समझो कि जब जीवने रागद्वेष भाव किया, मोह किया तो कर्म बँधे और कर्ममें ये चार विभाग बन गए। अब आप समझते जाना कि जब यह कहा जाय कि निमित्तमें उपयोग जुड़े तो विकार होता है या तब वह निमित्त कहलाता है यह बात नोकर्ममें घटित होगी या कर्ममें ? नोकर्ममें घटित होगी। जगतके इन बाह्य पदार्थोंमे हम उपयोग जोड़ें तो वे निमित्त कहलावेंगे। और हम निमित्त न जोड़ें। उनका ख्याल न करें तो वे निमित्त नहीं कहलाते। पर कर्मविपाक जो कि बंधके समयमें ही अनेक प्रकारसे निश्चित हो गया जब स्थिति पूरी हुई। उदय हुआ अथवा उदीरणा हो जाय तो उस समय इसका प्रतिफलन इस जीवसे होता है। यह है अनिवारित। अब ज्ञान

अगर साथ है तो नोकर्ममें उपयोग न जोड़े यह उसकी विजय है। यदि ऐसा ज्ञानबल बनाये कोई ज्ञानी पुरुष तो विकार व्यक्त नहीं होता। और फिर जो जड़ रह गई, जो कि १०वें गुणस्थान तक चलती वह भी स्वयं छिन्न होती जायगी।

(१०७) **व्यक्त विकारके निर्माणकी पद्धति**—यहां बातें तीन आयीं—कर्म, नोकर्म व अशुद्ध उपादान जीव। कर्म तो वह कहलाया जो कर्म बांधे गये। कहते ही हैं सब ऐसा कि ऐसे ही कर्म बांधे। जिनको समझ भी नहीं कि कर्म क्या चीज कहलाते हैं और कैसे बनते हैं वे देहाती लोग भी कहते हैं कि भाई ऐसे ही कर्म बांधे थे। बात तो बोल देते हैं तो उस कर्म में जो कुछ पाया जाता है वह कर्ममें ही मिलेगा, नोकर्ममें और जीवमें न मिलेगा। क्या पाया जाता है ? रूप, रस, गंध, स्पर्श, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग, यह चीज कर्मके कर्मत्वमें ही मिलेगी, इसे कहते हैं अन्तर्व्याप्य व्यापक सम्बंध। खुदमें ही व्यापे, खुदसे ही व्यापे ऐसी चीज कर्मकी कर्ममें है ? अब चले नो कर्म। कर्म मायने संसारके ये सारे पदार्थ। जो दिख रहे हैं, धन है, वैभव है, पुत्र मित्र हैं, शरीर है, कीर्ति है, ये उनके पदार्थ नो कर्म कहलाते हैं सो इन नो कर्मोंमें हम उपयोग जोड़ें तो ये निमित्त है, न जोड़ें तो निमित्त नहीं। तो इन नोकर्मोंका जो कुछ भी हो रूप रस गंध स्पर्श आदिक इनका अन्तर व्याप्य व्यापक सम्बंध उस नोकर्मसे ही है। अर्थ क्या है सीधा कि जैसे किसी पुत्र पर गुस्सा आया तो पुत्र कहलाता है नोकर्म और क्रोध प्रकृतिका उदय कहलाता है कर्म और जिसे गुस्सा आया वह कहलाया उपादान। तो पुत्रकी बात पुत्रमें मिलेगी कर्ममें नहीं, जीवमें नहीं। अब तीसरी चीज क्या है ? उपादानकी याने राग करने वाले, विकार करने वाले ये खुद जीव। तो इनका जो कुछ है वह इनका इनमें ही है, कर्ममें नहीं, नोकर्ममें नहीं। सो सबका सबमें ही अपना सर्वस्व है, फिर भी निमित्त नैमित्तिक योग ऐसा है कि क्या घटना बनती है ? कर्मका उदय आया उस समयमें ज्ञानका तिरस्कार हुआ। तिरस्कार होते ही यह ज्ञान संसारके पदार्थोंमें जुड़ गया। बस व्यक्त विकार हो गया कैसे रागादिक भाव होते हैं उसकी तरकीब कह रहे हैं। होता है ना सबमें रागभाव। वह कैसे बनता ? बातें तीन कही जा रही हैं। विकार हुआ, कब हुआ, जब उस तरहका कर्म उदयमें आया और बुद्धिमें कैसे आया जब जगतके इन बाहरी पदार्थोंमें इसने उपयोग जोड़ा। यह है विकारके निर्माणका तरीका।

(१०८) **आश्रयभूत बाह्य वस्तुमें उपयोग न जोड़नेका व्यापक महत्त्व**—अच्छा तो जब ऐसा समझें कि ये विकार, ये कषाय, ये रागादिक भाव कर्म नोकर्म व योग्यताके प्रसंगमें होते है तो अपने आप क्या करना चाहिए कि इन राग विकारोंसे ही दूर हो जायें। क्या है तरीका सीधा ? तरीका सीधा यह है कि इन बाहरी नोकर्मोंमें यह ख्यालात न जुड़ायें, उप-

योग न जुडायें, दिल न फंसायें। आप कहेंगे कि यह तो बड़ा कठिन लग रहा कि हम मकान में, धनमें, पुत्रमें, स्त्रीमें, इनमें हम दिल न दें, यह तो बड़ा कठिन लग रहा, तो पहला उपाय यह बतावें कि इनमें हमारा दिल न जाय। तो उसका उपाय सुनो। इन बाहरी पदार्थोंमें हमारा दिल न लगे। इसका उपाय है आत्मज्ञान। सम्यग्दर्शन। सत्य श्रद्धा बन जाय कि मैं तो केवल एक चित्प्रतिभासमात्र हूं, मेरा सहजस्वरूप केवल यह ज्ञायकभाव है। इसको किसी से क्या मतलब ? किस जगह उपयोग लगाना। यह ही तो बरबादी है। यह ही तो संसारमें रुकावट है। उमंग होनी चाहिए कि मैं तो अपने इस ज्ञानस्वरूपमें ही अपने ज्ञानको जोड़ूंगा, इतना होनेपर भी सम्यक्त्व जग जानेपर भी रागद्वेष होते हैं। छठे गुणस्थान तक तो बुद्धिमें आता है उसका क्या उपाय है कि वह मिट जाय। यद्यपि कर्मोदय ऐसा नहीं है कि समझ बना-बनाकर भी अपने आपमें उपयोग जोड़ जोड़कर भी राग बनता है, द्वेष बनता है, ऐसा कर्मविपाक चलता है। फिर भी उसके मेटनेका तो उपाय यह ही है कि बराबर निज ज्ञान-स्वभावकी आराधना करे।

(१०६) **ज्ञानविकासकी ज्ञानप्रयोगसाध्यता**—देखो आप लोग रोज-रोज भोजन करते हैं और देखते भी जाते हैं कि ऐसे रोटी बेली, इस तरह तवापर डाली, देखते हैं ना रोज-रोज और आप सबको खूब बता भी देंगे कि अजी रोटी बनानेमें क्या धरा ? यों आटा गूंथो, लोई बनाओ, बेलनामें पसार दो, परथनमें उलट दो, फिर तवेपर धर दो। पहली पर्त जरा जल्दी ही उलट दो, दूसरी पर्त थोड़ा देरमें उलटो, उसको उठाकर धधकती हुई आगमें डाल दो, रोटी फूल जायगी और बन जायगी। यों कहना तो सरल लगता है, पर जरा कल रोटी बनाकर तो दिखाना। और जब प्रयोग करने जायेंगे तो आपको वे सब विधियाँ सीखनी पड़ेंगी। इसी प्रकार तो यहाँ हो रहा है। आजकल बातें बनाने वाले तो बहुत हैं, पर करने का काम दूर है। जैसे रोटी बनानेकी गप्प मारना तो सरल है और बनाकर दिखाना कठिन है, तब ऐसे ही समझिये कि जब कहा अनुभव करनेके लिए हम चलते हैं कि मैं जानूं तो सही उस ज्ञायकस्वभावको। अपने उपयोगद्वारा उस ज्ञानस्वभावको लें, ग्रहण करें, तन्मय हो, अनुभव बने, जब ऐसा करनेको चलेंगे तब केवल बात बातसे न बनेगी, आपकी दिनभरकी न्याय प्रवृत्ति, दिन भरका सदाचार दिन भरके सद्विचार होंगे तो यह पात्रता जगेगी कि मैं अब धीरतापूर्वक अपने ज्ञानद्वारा अपने ज्ञानके स्वरूपको देखूं। तब जब इसको प्रेक्टिकल करते हों तो वे सब बातें गुजरेंगी जो सबपर गुजरी हैं, जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब ऐसे ही प्रयोग में चलकर गुजरकर हुए हैं। बात सबको वही होगी जो सिद्ध भगवन्त बनेगा। तब भाई जल्दी करो ना, अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें प्रमाद क्यों करते ? शीघ्रता करो, शीघ्रता

करोगे तो आपको बहुत संयमी भी होना होगा, न्यायवृत्तिसे रहना होगा, सदाचारसे रहना होगा, पाप छोड़कर रहना होगा। तब ज्ञान इस लायक होगा कि हम अपने ज्ञानमें निज ज्ञानस्वरूपको जानें। और करता न हो और केवल बात ही करता हो तो रोटीकी बातकी तरह बात की जा सकती है, मगर रोटी बनाते न बनेगा, ऐसे ही अगर निज ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं करना है तो केवल उसके लिए बातें बहुत हैं। बोलते जावो खूब, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूपका अनुभव करना है तो उन सबको उस ही रूपमें डालना होगा जिससे गुजरकर यह अनुभव पाया जाता है, यह ही कहलाता है व्यवहारधर्म। सदाचारसे रहो, न्यायसे रहो। अब कोई दिनभर तो अन्यायमें गुजरे, उपयोग बाहर बाहर रहो, उपयोग कषायमें रहो, उपयोग लोभमें रहो और कोई चाहे हो नहीं उसके स्वानुभव कैसे जगे ? तो बहुत सद्वृत्तिसे रहना, जीवनको सद्वृत्तिसे गुजारना। जितना निःशल्यसे रहेंगे, जितना शल्यसे दूर रहेंगे। शल्य बनती है पाप करनेसे। पाप न करें तो शल्य न रहेगा। शल्य न रहेगा तो अपना स्वानुभव करते रहेंगे। पाप करने वाले पुरुष शल्यमें रहते हैं, शल्यमें रहने वाले पुरुष इस ज्ञानस्वरूपका अनुभव नहीं कर सकते। तो ज्ञानानुभव चाहिए तो निःशल्य होना पड़ेगा। निःशल्यता चाहिए तो अन्यायसे दूर रहना होगा।

(११) **व्यक्त विकारके निरोधका आयोजन**—हाँ तो ये विकार कैसे आते हैं इसकी बात चल रही थी। कर्मका उदय आये नोकर्ममें उपयोग जोड़ा और यह जीव व्याकुल हो गया, यह करतूत चल रही है संसारी प्राणीकी और ये तीनों बातें हैं अलग-अलग द्रव्योंमें। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका करता कुछ नहीं, पर निमित्त नैमित्तिक योग तो देखिये—इन तीनोंका इस तरह का गठन हुए बिना विकार व्यक्त नहीं होता। तब हमको यह शिक्षा मिलती है कि हम बाहरी नोकर्मोंमें उपयोग न जोड़ें, और उसके लिए हम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें। आत्मज्ञान करें। अब यहाँ तीन बातें समझना है। कर्मकी चीज कर्ममें है। इन बाहरी पदार्थोंकी चीज इनमें ही है और कर्मका जो प्रतिफलन हुआ है वह प्रतिफलन जीवमें है। प्रतिफलन तक तो हमारा कोई वश नहीं चलता, पर विकार व्यक्त न होने दें, इसपर हमारा वश चलेगा और जब विकार प्रकट न हो ऐसी हम एक शक्ति बना लेंगे तो कर्मकी जड़ भी कट जायगी। अब यहाँ देखो जीवपर आपत्ति आयी ना ? क्योंकि विकल्प हुये, रागद्वेष भाव हुआ तो स्वयंपर विपत्ति आयी ना। अच्छा तो ऐसी विपत्ति कर्मकी भी आयी है, क्योंकि कर्मके अनुभाग आये ना और कर्म जब उदयमें आये तो उसमें भी खेल बने, मगर कर्म चेतन नहीं है, ज्ञानवाला नहीं है इसलिए उसका अनुभव कुछ नहीं, परिणमन तो है वहाँ, परिणमनरूप अनुभव है, पर समझरूप अनुभव नहीं है, और यह जीव चूंकि जाननहार है, चेतक है तो उस प्रकारका अनुभव इस जीव

में प्रकट हो जाता है।

(१११) अपनी आन्तरिक चर्चा—देखो यह आपके घरके भीतरकी बात कही जा रही है। अभी आ।के घरके भीतरकी कोई चर्चा छेड़े तो कितना मन लगाकर सुनोगे। क्या कह रहे यह हमारे घरकी बात कही जा रही है। और वहाँ कुछ कठिनाई समझें तो न समझिये कठिनाई। कठिन भी बात कुछ दिन सुननेसे सरल हो जाती है। विकारोंसे परेशानी है ना? रागद्वेष भाव उठते हैं उससे हैरानी होती कि नहीं? भूल-भूल जाते और रागद्वेष करते जाते, चित्त बिगाड़ते जाते, किसके लिए चित्त बिगाड़ते? क्या रखा है जगतमें सार? किस चीजमें ध्यान लगाये तो इसका उद्धार हो? बता सकते। क्या है कोई चीज संसारमें? जितने समागम मिले है ये सब समागम दुःखके कारण हैं। और जिस गृहस्थने यह बात अपने मनमें नहीं जमाया उस गृहस्थके कोई तपश्चरण न होगा। यह बात पहले समझिये कि इस गृहस्थ को जितना समागम मिला है वह सब समागम आखिर कष्टके लिए है। थोड़ी देरके लिए अगर यहाँ कुछ मौज मान लिया, अपना चित्त प्रसन्न कर लिया तो कर लो प्रसन्न, पर इष्ट वस्तु मिली हो तो वह भी दुःखके लिए। यह बात तो जल्दी समझमें आ जायगी कि अनिष्ट वस्तु मिली है तो वह दुःखके लिए होती है। सबकी समझमें आ रहा, पर यह तो बताओ कि इष्ट वस्तु मिले तो वहाँ क्या दुःख होता है? प्रथम तो जीवनमें उस इष्ट मित्रसे, उस इष्ट व्यक्तिसे कोई न कोई बात ऐसी मिलती कि बीच बीचमें उससे कुछ रंज पहुंचेगी। कितना ही प्यारा पूर्ण इष्ट हो फिर भी उसकी सारे दिनभरकी प्रवृत्तिमें, कोई न कोई प्रवृत्ति ऐसी जंचेगी कि जिससे यह उदास रहेगा। कहाँ तक कौन सम्हालेगा? रह सकता क्या कोई १० वर्ष निराकुल? निरन्तर कोई न कोई एक बात जंचेगी ऐसी जिससे कि कुछ दिल बिगड़ जायगा। खैर यह भी मानकर चलें कि वह जिन्दगीभर अनाकुल रहेगा सो रह जावे जिन्दगी भर, पर वियोग होगा न कभी कि रह जायगा संगमें सदा? आपका पुत्रमें चित्त है तो सदा रह लेगा क्या? या तो पहले आप मरण करके यहाँसे विदा हो जायेंगे या वह विदा हो जायगा। तो जो जितना अधिक इष्ट है वह उतना ही अधिक दुःखका कारण बनता है विकारके समय। गणित हिसाब भी सबका वही है। अगर जिससे मोह करके, जिसको इष्ट मानकर १० वर्ष राजी हो लिया तो १० वर्षमें जितना मौज मिल पाया उतना कष्ट वह ५ मिनटमें भोग लेगा। हिसाब सब जगह है। जैसे सबका खाना बराबर हिसाबका है। यदि किसीने खूब कीमती चीज लड्डू, पेड़ा, कलाकंद वगैरह खूब खाया ही १० दिन तक और वह बीमार हो जाय, २० दिन तक खाली मूंगकी दाल पीकर रहे तो बताओ बराबर हो गया न हिसाब? ठीक ऐसे ही जगतमें सुख दुःखका भी हिसाब बराबर बन जाता है। अरे किसमें मग्न होते?

जितना मग्न होंगे उससे कई गुना दुःख पायेंगे वियोगके समय। तो एक निर्णय बनायें कि जो समागम मुझे मिला है इससे मेरेको लाभ कुछ नहीं है। मुझे कुछ अपनेमें अपनी बात सोचना चाहिए।

—०—

(२४)

(११२) **वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त**—प्रकरणमें जो बात चल रही है वह मूल बात यह है कि जीवमें जो राग, द्वेष, मोहके विकार फंद आफतें विडम्बनायें बनती हैं वे इस तरह बनती हैं कि कर्मका उदय तो निमित्त है और जगतके बाह्य पदार्थ इसके आश्रयभूत हैं और जीवमें राग, द्वेषका विकार प्रकट होता है, तीन बातें समझना है। जिसमें विकार होता वह तो मैं जीव उपादान हूं और जिन बाहरी पदार्थोंका ख्याल करके आलम्बन लेकर विकार बनता है वह है आश्रयभूत याने उपचरित निमित्त, उनमें उपयोग जोड़े तो निमित्त है, न जोड़े तो निमित्त नहीं, और जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनका जब उदयकाल आता है उनका अनुभाग खिलता है वह कहलाया कर्म विपाक। सो वह है निमित्त। सो इस प्रसंगमें यह जानना कि निमित्त तो मात्र कर्मविपाक है, जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है, याने कर्मोंका उदय आने पर विकार बनें इसे कहते हैं अन्वय। कर्मोदय न होने पर विकार बन ही न सके इसे कहते हैं अन्वय व्यतिरेक। यह बात कर्ममें पायी जाती है। जगतके इन पदार्थोंमें नहीं, तब ही तो कह लो कि ये सब अटपट बातें हैं, कोई नियत नहीं हैं ये सब। जिस चाहेका ख्याल आ गया यही बन गया इसके विकारका आश्रय और इस दृष्टिसे समझो तो अंधेरनगरी कहो।

(११३) **दुर्बुद्धिमें अटपट आश्रय**—'अंधेर नगरी बेबूझ राजा, टकासेर भाजी टका सेर खा जा' यह बना कैसे कि एक नगरमें एक गुरु और शिष्य पहुंच गए। तो गुरुने शिष्य से कहा—जावो कुछ आटा, दाल चावल, नमक, कोयला आदि ले आवो, बना खा लें फिर चलेंगे। अच्छी बात। गया वह शिष्य बाजारमें पूछा—आटा क्या भाव ?····टकासेर, कोयला क्या भाव ?···टका सेर। नमक क्या भाव ?····टका सेर।···पेड़ा क्या भाव ?···टका सेर। रसगुल्ले क्या भाव ?····टका सेर····पेड़ा क्या भाव ?····टका सेर,····रसगुल्ले क्या भाव ? ···टका सेर। अब शिष्यने सोचा कि यहां तो सभी चीजें टका सेर बिक रही हैं, तब फिर लड्डू, पेड़ा, रसगुल्ला आदि मिठाइयां ही क्यों न टकासेरमें खरीदकर खावें। सो वह मिठाइयां टका सेरमें खरीद लाया, खुदने खाया और गुरुको भी खिलाया। वहां शिष्य गुरुसे कहता

है—महाराज हमारा निवेदन है कि इस नगरीमें करीब ६ महीने तक ठहर जावो।⋯नहीं बेटा नहीं, यहाँ न ठहरो, यह अंधेर नगरी है, यहाँपर टिकना ठीक नहीं।⋯महाराज इतनी बात तो हमारी मान ही लें?⋯अच्छा बेटा नहीं मानते हो तो ठहर जावो। बस ठहर गए। ४-५ महीनेमें ही वह शिष्य बड़ा मोटा हो गया। इसी बीचमें ही एक घटना घट गई क्या कि एक बाबू जी किसी गलीमें से जा रहे थे, देखा कि एक मकानकी भींतमें से एक ईंटा गिर गया। बाबू जी ने झट राजाके यहाँ मुकदमा दायर करवा दिया कि मैं अमुक गलीकी दूसरी से जा रहा था, अमुक नम्बरके मकानमें मकानमालिकने ऐसी भींत क्यों बनवा दिया कि जिससे ईंटा खिसक गया। यदि मैं इसके मकानके उधरसे जाता और वह ईंटा मेरे सिरपर गिर जाता तो मेरा सिर चकनाचूर हो जाता। राजन् उस मकान मालिकको दण्ड मिलना चाहिए। राजाने उस मकान मालिकको बुलवाया, पूछा—बोल तूने ऐसी कच्ची भींत क्यों चिनवा दी कि जिससे ईंटा खिसक गया।⋯राजन् मेरा दोष नहीं, मैंने तो पूरा पेमेन्ट किया, दोष है कारीगरका।⋯बिल्कुल ठीक। कारीगरको बुलवाया और पूछा—तूने भींतकी ऐसी कच्ची चिनाई क्यों किया कि जिससे ईंटा खिसक गया?⋯राजन् मेरा दोष नहीं, दोष है गारा बनाने वालेका, गारा पतला हो गया जिससे ईंटा खिसका।⋯बिल्कुल ठीक। राजाने गारा वालेको बुलवाया—तूने गारा गीला क्यों कर दिया जिससे भींतमें से ईंटा खिसक गया? अरे न गारा गीला होता, न भींतमें से ईंट खिसकती और न बाबू जी का सिर चकनाचूर होने तककी नौबत आती।⋯राजन् मेरा दोष नहीं। दोष है मसक बनाने वालेका। उसने मसक बड़ी बना दी जिससे पानी ज्यादह भर गया और गारा गीला हो गया।⋯बिल्कुल ठीक। मसक बनाने वालेको बुलवाकर पूछा—अरे तूने इतनी बड़ी मसक क्यों बना दी कि जिससे पानी ज्यादह भर गया? गारा गीला हो गया और भींतसे ईंट खिसक गयी। कदाचित् कोई बाबू जी उधरसे निकलते और वह ईंटा बाबू जी के सिरपर गिर जाता तो बोल क्या हाल होता? तुझे सजा दी जायगी।⋯राजन् मेरा दोष नहीं, दोष है उस किसानका जिसके घर बड़ा जानवर मरा। अगर छोटा जानवर मरता तो क्यों बड़ी मसक बनने पाती और क्यों बाबू जी का सिर चकनाचूर होनेकी नौबत आती?⋯बिल्कुल ठीक, अच्छा उस किसानको बुलवावो—किसानके आनेपर पूछा—तूने इतना बड़ा जानवर क्यों पाल लिया कि जिसके मरनेपर बड़ी मसक बन गई, पानी ज्यादा भर गया, गारा गीला हो गया, और भींतमें से ईंट खिसक गई और बाबू जी का सिर चकनाचूर होने तककी नौबत आ जाती। तो वह किसान कुछ उत्तर न दे सका, राजाने कहा बस सारा कसूर इसका है इसलिए ऐ जल्लादो इसे फांसीके तख्तपर लटका दो। जल्लाद—जो आज्ञा राजन्, किसानका गला फन्देमें डाला

....परन्तु इसका गला इतना पतला था कि फांसीके फन्देमें ही नहीं आता था, कैसे लटकाया जाय ? सो जल्लादोंने कहा कि इसका गला पतला है, फन्देमें ढीला है । राजा बोला—अबे देर क्यों करते ? उसका पतला गला है तो किसी मोटे गले वालेको ले आवो । सो मोटे गले वाले मिल गए वही शिष्य जो जो खूब टकासेर रसगुल्ले खा खाकर मोटे हो रहे थे । जल्लाद बोले—चलो राजदरबारमें, वहाँ तुम्हें फाँसी दी जायगी । तो शिष्य गुरुसे बोला—महाराज अब तो हमें बचावो ।....देखो बेटा हम कहते थे कि यहाँ न ठहरो, यह अंधेर नगरी है । फिर धीरेसे कहा—खैर घबड़ावो नहीं, फाँसीपर लटकते समय हम तुम दोनों फाँसीपर लटकनेके लिए झगड़ेंगे, तुम ऊपरसे कहना कि हमें फांसी मिलनी चाहिये और नीचेसे हम कहेंगे कि हमें मिलनी चाहिए, बस इस तरहसे झगड़ते रहना, काम बना लेंगे । जब राजाने शिष्य को फाँसीके तख्तपर चढ़वाया तो वे गुरु शिष्य दोनों ही झगड़ने लगे । एक कहे कि हमें पहले फांसी मिलनी चाहिए, दूसरा कहे हमें । तो राजाने पूछा—अरे तुम दोनों फाँसीके तख्त पर लटकनेके लिए क्यों झगड़ रहे ? तो गुरु बोला—राजन् तुम चुप बैठो । इस समय ऐसा शुभ मुहूर्त है कि जो फाँसी ले लेगा वह सीधे बैकुण्ठ जायगा । तो राजा बोला—अच्छा तुम दोनों चुप बैठो, फाँसीके तख्तपर चढ़कर फाँसी हमको ही ले लेने दो । तो ऐसे ही समझो कि जगतमें सारे अटपट काम हो रहे हैं । किसीका कोई सही लक्ष्य नही है । जैसे कहते हैं ना—ऊँट न जाने किस करवट बैठे ? कुछ पता ही नहीं है इसे अपने आपका । जब तक इसे सही ज्ञान न मिले तब तक पता हो भी कैसे कि हमें क्या करना है क्या नहीं करना है । जिसको अन्दरमें यह ज्ञान हुआ कि मैं एक सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूं और ज्ञानस्वभावकी आराधना करना यही मेरा रोज रोजका काम है वह शान्ति पा सकता है । जिसे यह बोध नहीं वह बाहरमें अनेक आश्रयभूत पदार्थोंका ख्याल कर-करके अपनी कषाय ही बढ़ाता फिरेगा । तो यहाँ यह समझना कि निमित्त तो केवल कर्मविपाक है और यह सब दृश्य कहलाता है आश्रयभूत उपचरित निमित्त, सो बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जोड़ते हैं तो विकार व्यक्त होता है ।

(११४) **परिस्थिति और विपरीताशयमें अन्तर**—पहले तो यही निर्णय बना लें कि हमको विकार पसंद है या अविकार भाव । तो वचनोंसे कह तो सभी लोग देंगे कि हमें तो अविकार भाव पसंद है, पर यह तो उनके कहने भरकी बात है, भीतरमें देखो तो विकार भाव ही पसंद कर रहे है । कषायें जग रही हैं भीतरमें तो इसका अर्थ है कि विकारसे ही प्रेम है । जहाँ विकारसे प्रेम है वहाँ सम्यक्त्व नहीं । रागसे राग ऐसी दो चीजें यहाँ समझना । राग तो सम्यग्दृष्टिके भी होता है पर सम्यग्दृष्टिको रागसे राग नहीं होता । जैसे कोई पुरुष बीमार हो जाय तो उसे औषधिसे राग होता है कि नहीं ? होता है,

पर उसके मनमें यह बात नहीं बसी है कि ऐसी ही दवा मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे। बल्कि वह यही सोचता है कि न जाने कब मेरी यह दवा छूटेगी। तो जैसे उस रोगीको औषधिके रागसे राग नही ऐसे ही ज्ञानीको राग विकारसे राग नहीं। जैसे औषधिके रागसे राग हो तो दुष्प्रणिधान कभी मिट नही सकता ऐसे ही संसारके इन विषय साधनोंसे, भोगोंसे, रागसे राग हो तो उसका मिथ्यात्व मिट नही सकता। कितना निर्विकल्प होना है हमको, कि किसीका आश्रय नहीं रहे। मालूम पड़े कि बात गलत है तो उसको छोड़नेमें हिचकिचाहट नहीं होती। तो ये जगतके आश्रयभूत पदार्थ इनको दोष मत दें कि ये मेरेको राग कराते हैं। जैसे कभी लोग कह देते हैं ना कि यह कुटुम्ब नरक ले जाता है तो कुटुम्बको दोष न दें। अरे खुदके मोहको दोष दें। मैं इनमें मोह करता हूं तो नरक जानेका काम करता हूं, तो यहाँ ये जगत के दृश्यमान पदार्थ तो आश्रयभूत हैं और कर्मविपाक निमित्त है। तो अब यहाँ देखना कर्म-विपाक कर्ममें है, मुझमें नहीं और जगतके ये बाहरी पदार्थ उनमें ही हैं वे, मुझमें नहीं। तो देखो मैं सबसे निराला हूं, किन्तु जब ऐसा नहीं मान पाता तो इसको संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। तो जैसे कर्मविपाक कर्ममें है, दृश्यमान इन विषयभूत पदार्थोंकी बात उनमें है, ऐसे ही उस प्रकारका जो विकारका अनुभव है वह अनुभव मुझमें है। देखो जैसे ठंडा पानी हाथ से छुवा तो लगा कि बड़ा ठंडा है, तो अब यह बतलावो कि ठंडी बात ठंड पर्याय मुझमें है क्या? वह तो पानी है, मगर उस पानीका सम्बंध पाकर जो उस प्रकारका ज्ञानमें अनुभव बने वह तो मुझमें है ना। अब यह अनुभव और वह ढंग ये दो न्यारी-न्यारी चीजें हैं, जो ठंड है सो अनुभव नहीं, जो अनुभव है सो ठंड नहीं, तो ऐसे ही यह कर्मविपाकका निमित्त पाकर नोकर्ममें उपयोग जोड़कर जो उस जातिका विकार अनुभव होता है वह विकार दूर होगा सम्यग्ज्ञानसे। सत्य बोध होना चाहिये।

(११५) **उपचरित निमित्तोंमें ही उपयोगके जुड़नेकी संभवता**— अब यहाँ एक विचार करें कि जो ऐसा कहा जाता है कि निमित्तमें उपयोग जोड़ें तो निमित्त कहलाता, न जोड़ें तो निमित्त नहीं कहलाता, यह बात कहाँ घटती है और कहाँ नहीं घटती? जो दृश्यमान पदार्थ हैं इनमें तो घटती है, क्योंकि इनका मेरे विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं है। उनमें उपयोग जोड़ें तो विकार बनेगा, न जोड़ें तो विकार न बनेगा, मगर जो कर्मविपाक है उसको एकेन्द्रिय जीव कहाँ जानते हैं जो उनमें वे उपयोग जोड़ें? जितना भी उनके पास ज्ञान है और एकेन्द्रियकी बात क्या, कुछ बड़े पञ्चेन्द्रिय भी क्या कर्मको जानते हैं? ये अष्ट कर्म साक्षात् कर्म वे सूक्ष्म हैं, उन्हें जाननेकी सामर्थ्य परमावधिज्ञानी, सर्वावधि ज्ञानीमें है। वैसे ही भूठ मूठ दम भरते कि हाँ हम जानते हैं। शास्त्र कहते हैं कि कर्मका ज्ञान, जैसे हम

आपको इनका ज्ञान होता, ऐसे ही जीवके साथ जो कर्म लगे उसका ज्ञान भगवानको, अवधिज्ञानीको, किस अवधिज्ञानीको सर्वावधि और परमावधिज्ञानीको होता है। परमावधि व सर्वावधि ज्ञानी तद्भव मोक्षगामी है, उनको ही कर्मका बोध हो सकता। खुदके कर्मका भी और दूसरेके कर्मका भी। तो जब हम आप कर्मको जानते नहीं तो उसमें उपयोग क्या जोड़ें ? वहाँ तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि उसका निमित्त सन्निधान पाकर यहाँ यह जीव खुद अपनेमें अपने ज्ञानका तिरस्कार कर लेता है। तिरस्कार तो ज्ञातसे भी होता और अज्ञातसे भी होता मगर उपयोगका जोड़ना ज्ञातमें ही होता, अज्ञातमें नहीं। अनुभव बतायगा यह बात। तब फिर हमारा यह काम है कि हम इन ज्ञात पदार्थोंमें अपना उपयोग न फंसायें, इसके लिए देखो भाई सत्संग चाहिए। स्वाध्याय चाहिए तो इस बातपर हम निभ सकते हैं, नहीं तो दिन रात तो किए जायें अनीतिका काम और थोड़ा समय पर बैठकर शुद्ध बुद्ध हूं, निरञ्जन हूं, तो हो जायगी क्या हितकी बात ? सारा जीवन, सारा दिन अच्छा बिताओ तो क्षण एक को ऐसी पवित्रता जगेगी कि जहाँ स्वभावका दर्शन होगा। और स्वभावका दर्शन हुआ कि सम्यग्दर्शन हुआ। सम्यग्दर्शन और स्वभावदर्शनमें अन्तर है। एक बात नहीं। सम्यग्दर्शनके एवज में स्वभावदर्शन हम नहीं बोल रहे, स्वभावदर्शन तो एक ज्ञानकी अनुभूतिका प्रसंग है और सम्यग्दर्शन जिसे हो गया उसे जिन्दगी भर रह सकता मगर स्वभावदर्शन जिन्दगी भर नहीं रहता। सम्यक्त्व हो जाय तो जीवन भर रहेगा, किन्तु स्वभावका दर्शन, स्वभावकी अनुभूति यह तो कभी क्षणभरको होती होगी, उसके प्रयासकी बात है।

(११६) व्यक्त विकारके आश्रयभूत उपचरित निमित्तोंमें उपयोग न जोड़नेकी शिक्षा—तो अब इस प्रकरणसे हमें शिक्षा क्या मिलती ? सो देखो हमारे विचार दो प्रकारके हुए एक तो अबुद्धिपूर्वक, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता, मेरे आत्मामें आत्माके भीतर हो तो जाते हैं पर हमारी समझमें नहीं आते, एक तो ऐसे विकार चलते हैं और कुछ विकार ऐसे चलते हैं कि जो हमारी समझमें आते हैं। उपयोगमें जुड़ते हैं, फंसते हैं उन्हें कहते हैं व्यक्त विकार तो चाहे अव्यक्त विकार हो, चाहे व्यक्त विकार हो। ये विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं। किस दृष्टिसे समझें ? विवक्षित शुद्धनिश्चयकी दृष्टिसे याने अपने आत्माको तो रखें सुरक्षित, शुद्ध, बेदाग, बेलाग और विकार जिनका निमित्त पाकर होता, विकारको पहुंचा दें उस जगह, ऐसा प्रयास किया है कुन्दकुन्दाचार्यदेवने और अमृतचन्द्रसूरिने सभी अध्यात्मशास्त्रियोंने स्वभावदर्शनके लिए विकारको हटावो, विकारको फेंको, क्या हाथसे ? अरे ज्ञानसे समझो कि ये विकार पुद्गलकर्म निष्पन्न हैं इसलिए ये वहाँ जावो, इन्हें मैं शरण न दूंगा, क्योंकि ये मेरी जातिके नहीं हैं, मेरे स्वभावके नहीं हैं, मेरे कुलके दीपक नहीं हैं, इन विकारोंको मैं

आश्रय न दूंगा, तब इस भावनासे आप अपनेमें शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी आभा लेते रहेंगे। देखो जिनागममें जितने भी वचन लिखे हैं वे वचन सब हितके लिए प्रेरक हैं, उनमें किसी वचन को यह असत्य है ऐसा कहनेके लिए जीभ न हिलाना चाहिए। उनका उपयोग करें उस प्रकार कि जिस प्रकारमें हमको स्वभावकी दृष्टि जगे और उस प्रकारका उपयोग किया जा सके। जब इतनी कला नहीं प्रकट हुई, क्योंकि अज्ञानभाव है तब ही कल्पित बातोंको यह अज्ञानी सत्य कहता है और बाकी आचार्यकी बातोंको असत्य कह देता है, क्योंकि उसने उपयोग करनेकी कला ही नहीं प्राप्त की है। उपादान दृष्टिसे हम जिस स्वभावकी दृष्टि करने का पौरुष कर लेते उससे भी अधिक सुगम पौरुष हैं निमित्तनैमित्तिक भावकी सच्चाई समझने से। देखो जब दर्पणमें सामनेके कपड़ेकी फोटो आ रही है तो यह दर्पण अपनेमें शुद्ध हैं, स्वच्छ है, ऐसा समझना, इस तरह सुगम बन जाता ना कि अरे यह तो लाल कपड़ेका सम्बंध पाकर प्रतिबिम्ब हुआ है, यह दर्पणकी चीज नहीं है। इसे ज्ञानद्वारा हटायें, दूर करें और दर्पणके अन्तः जो स्वच्छता है उसका ही दर्शन करें।

(११७) **प्रत्येक आर्ष वाक्योंकी समीचीनताके दर्शनकी कलामें विवेक**—आचार्य संतोंके प्रत्येक वाक्यका हमें सदुपयोग करनेकी कला पानी चाहिए। बड़े-बड़े आचार्य संत वीरसेनाचार्य जिन्होंने लाख श्लोक प्रमाण धवल टीका रचा, और भी टीकायें रचीं। जब कभी तत्त्वका सूक्ष्म विवेचन करते-करते दो बातें सामने आ जाती हैं, किन्हीं आचार्योंका यह मत है, किन्हींका यह मत है तो उनसे पूछते हैं कि फिर सत्य कौन है ? तो आचार्य जवाब देते हैं कि गौतम गणधरसे जाकर पूछो—इसमें हमें जीभ न हिलाना चाहिए। कितने श्रद्धालु आचार्य होते थे और उनकी कला देखो, जैसे सूत्र जी की टीका यह अकलंक देवने की, स्वामी विद्यानन्दने की। आचार्य समन्तभद्रने भी की, मगर आज वह प्राप्त नहीं है—गंधहस्तिमहा-भाष्य, तो टीका करते-करते सूत्रमें कोई शब्द अगर अनर्थक जंच रहा तो टीकाकार आचार्यों ने अनर्थक घोषणा नहीं की, किन्तु उन्होंने सोचा कि ये शब्द सार्थक कैसे बनें ? वह बात उन्होंने टीकामें लायी। जो श्रद्धाहीन है वे पार नहीं हो सकते। 'जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं'। देखो जितनी शक्ति हो सो करो और न शक्ति हो तो मत करो, मगर श्रद्धा रहेगी तो नियमसे अजर अमर पद पावोगे, और श्रद्धामें क्या सीधी श्रद्धा यही कि बस मैं केवल ज्ञानमात्र हूं। इसमें क्या टोटा, क्या विवाद और क्या संदेह ? इतना ही तो बोध होता है पशुओंके जो सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। क्या वे कोई ७ तत्त्व पदार्थोंको जानते हैं ? ये गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरा, बन्दर, नेवला आदिक इनमें से जो भी सम्यग्दृष्टि बन गए तो क्या उन्होंने सीखा था आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा आदिक ? वे इन्हें जानते हैं

क्या ? अरे एकके जाननेसे सब भावभासना हो जाती है। सीधा उनका अनुभव है कि मैं ज्ञानमात्र हूं। तो जिसको इस दुर्लभ मानव जीवनमें यह आकांक्षा हुई हो, अपने आपपर करुणा हुई हो कि मेरेको प्रयोजन नहीं इन बाहरी चीजोंसे। पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब, धन-दौलत आदिक इनमें फंसकर मैं क्या करूँ ? ये तो प्रकट असार हैं, बाहरी पदार्थ हैं। मुझे तो अपने उद्धारका काम करना चाहिए। ऐसा भाव बना हो तो उलझनकी जरा भी बात नहीं है। एकदम सब ख्याल छोड़कर भीतर देखें कि मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हूं। मैं अन्य स्वरूप नहीं हूं। इतनी सी दृष्टि बने तो उद्धारका रास्ता बनेगा। कभी इस बातके लिए न घबड़ायें कि मैंने तो व्याकरण नहीं पढ़ा। अब मेरा कैसे उद्धार हो ? अरे उद्धार तो एक अंतस्तत्त्वकी दृष्टिसे है। तो सुगम तो है यह स्वभावदर्शन, किन्तु उसके लिए पहला तपश्चरण यह है कि बाहरी पदार्थोंमें हम विश्वास मत बनायें, यह पहला नियंत्रण है। यदि अपने स्वभावका अनुभव चाहिए तो यह पहला संयमन है कि जगतके इन बाहरी पदार्थोंमें विश्वास मत बनावें, ये रम्य नहीं हैं ये विश्वासके योग्य भी नहीं हैं।

(११८) **असार तत्त्वोंसे हटकर सार सहजभावके दर्शनमें धर्मकी वृत्ति**—एकका मित्र बहुत अधिक बीमार था तो शामको देखने गया एक मित्र तो कहा—भाई कैसी तबियत है ? तो वह बहुत धीरे-धीरेसे बोला—क्या बतायें मित्र, करवट भी नहीं बदली जाती, बिस्तरसे नहीं उठा जाता। बहुत नाजुक हो गया हूं। खैर कुछ बात करके अपने घर गया, फिर दूसरे दिन भी आया मित्रको देखने तो वहां देखा तो मित्र था नहीं, तो पूछता है स्त्रीसे कि वह मित्र कहां गया ? तो कहा कि वह तो दुनियासे चला गया (मायने गुजर गया) तो वह मित्र झुंझलाकर बोला—"अरे कल तक तो कहता था कि बिस्तरसे उठा जाता नहीं, और आज दुनियासे भी चल देनेकी ताकत आ गई। तो भाई यहाँ किसका विश्वास करें ? सर्वत्र धोखा है। विश्वासके योग्य है तो बस देव, शास्त्र, गुरु, बाकी और कोई विश्वास योग्य नहीं है, क्योंकि ये आत्महितमें बाह्य साधनभूत है ना। किन्तु लोकमें यहांसे तो कोई विश्वास की बात न मिलेगी। जितना हमारे मोहका सम्बंध है, रागका संबंध है, जिस जिससे, कुटुम्ब से, मित्रसे, किसीसे, वहांसे धोखा है, पर उसमें भी देखो दो प्रकारके नाते होते हैं—एक धार्मिक नाता और एक रिस्तेदारका नाता या कुटुम्बका नाता आप समझो कि धर्म कितनी एक अनुपम विभूति है कि चाहे और नाते टूट जायें पर धार्मिक नाता सही रहता है। अपने अनुभवसे सोच लो। अभी घरमें कोई क्षोभ, उपद्रव आ जाय आपके घरमें और उसी समय मंदिरपर या देवपर या शास्त्रपर या गुरुपर कोई उपद्रव आ जाय तो आप देखते ही हैं कि घरकी परवाह छोड़कर आप वहाँ एकत्रित हो जायेंगे। धर्मका नाता बड़ा है या घरका। जो

विवेकी हैं उनकी बात कह रहे हैं। नाता धर्मका बड़ा होता है। धर्मकी प्रभावनाके लिए, धर्मकी परम्परा बनानेके लिए तन जाय, मन जाय, धन जाय, वचन जाय, ऐसी कुर्बानी अनेकोंने की। तो आप यह बतलाओ कि धर्मका नाता बड़ा है या घरके बच्चोंका या मित्रोंका या प्रलोभनके नाते बड़े कहलाते हैं। धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके प्रसादसे जीवोंका जगतसे उद्धार हो सकता है। तो वह धर्म क्या है ? इस कर्मसे, इस नोकर्मसे, और इस विकल्पसे अपने स्वरूपको निराला समझना यह है मूलधर्म और इस धर्मकी प्राप्तिके लिए ही है हमारा व्यवहारधर्म क्योंकि व्यवहारधर्म न करें और व्यसनोंमें लगे रहें तो हम इस मूलधर्मके पानेके हकदार हो सकते क्या ? तो यह अन्तः आत्मधर्मको पानेके लिए हमको अपना व्यवहार सही रखना होगा और आगेके जीवोंका कल्याण हो, करोड़ों संतान होंगी अभी तो पंचमकाल अभी बहुत दिनों तक चलेगा। उनका अकल्याण न हो इसलिए धर्मकी शुद्ध स्वच्छ परम्परा रखनेका दृढ़ संकल्प हो ऐसा जिसका भाव है वह अपने आपके अन्तः स्वरूपके अनुभवका पात्र हो सकता है। तो यहाँ कर्म नोकर्म और तथाविधानुभव इनसे निराला अपने स्वरूपका परिचय करना अपना कर्तव्य है।

—०—

(२५)

(११६) भावकनिमित्त, विषयभूत निमित्त तथा भाव्यका विश्लेषण—आज विषय चलेगा भावक निमित्त और विषयभूत निमित्तका। भावकका क्या अर्थ है ? यह बना है भू धातुमे और भू धातुका क्या अर्थ होता ? जैसे भू धातुके लट् लकारके प्रथम पुरुषका एक-वचन है भवति। भवतिका अर्थ होना होता है और होते हुएको जो प्रेरणा करे सो चलाने जैसे चलने चलाने वाला, होने वाला, हुआने वाला चलते हुये को जो प्रेरणा करे सो चलाने वाला, होते हुए को जो प्रेरित करे सो हुवाने वाला। तो होनेको जो प्रेरणा दे उसे कहते हैं भावक। सो भावक क्या है ? कर्मविपाक। कैसा है वह भावक ? समयसारमें ही बताया है—'फलदान सामर्थ्यतया प्रादुर्भूय, भवत्तं' याने फलदानमें सामर्थ्यरूपसे होकर जो हो उसे कहते हैं भावक याने जो कर्म उदयमें आते हैं वे फल देनेमें समर्थ हैं, और फिर वे उस प्रकारसे अपना विकरालरूप रखें इसीको कहते हैं भावक निमित्त। जैसे घड़ा हो रहा है और घड़ेका भावक निमित्त है कुम्हार। उस उस प्रकारसे निर्माणके अनुरूप अपनी चेष्टा कर रहा है, वह प्रेरणा जैसी ही तो लगती। व्यवहारमें उससे अधिक प्रेरणा वाली बात, और कौन लेंगे। मिट्टीको पीला जा रहा है, चिपटाया जा रहा है, सिमटाया जा रहा है, दोनों हाथोंसे उसके

भींत कोर बनाये जा रहे हैं तो वह कुम्हार हुआ जैसे भावक। देखिये—यद्यपि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कुछ प्रवेश नहीं होता, न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव, फिर भी कैसा विषम कार्य होनेका योग है कि निमित्त सन्निधान पाकर उपादान अपनेमें प्रभाव वाला होता है। तो जो बना सो भाव्य और जो निमित्त है सो भावक। भावक और भाव्य ये समयसारके दो शब्द हैं, भावक उसे कहते हैं जो फलदान देनेमें समर्थ होकर उपाय है ऐसा कर्मविपाक। और भाव्य कहते हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर होने वाले जीवकी परिणति। भाव्य है जीव और भावक है कर्म। उस समय जब कि भावक कर्मविपाक उदयागत हुआ उस समय इस जीवके ज्ञानका तिरस्कार हो गया और इन विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग जोड़ डाला। यों बन गया व्यक्त विकार।

भावक निमित्त, विषयभूत निमित्त, व्यक्त विकार, अव्यक्त विकार आदिके परिचय से प्राप्त शिक्षा—यहाँ समझनेकी कई बातें हैं—एक तो यह कि भावक कर्ममें कोई उपयोग नहीं जोड़ पाता। विकार जुड़ सकता है कभी तो ज्ञात पदार्थोंमें। जो जाना ही नहीं जा रहा, उसमें उपयोग कैसे जुड़े? किन्तु ह शंका न करना कि उपयोग न जोड़ें तो निमित्त कैसे बनेगा? अजीव और अजीवमें कौन उपयोग जोड़ता है ही नहीं उपयोग, फिर वहाँ कैसे निमित्तनैमित्तिक कार्य होता? उपयोग जोड़ा जाता है विषयभूत पदार्थोंमें। जैनसिद्धान्तमें कोई प्रवेश कर रहा हो और उसे थोड़ा यह समझमें आ गया कि ये बाहरी पदार्थ इनमें उपयोग जोड़े तो निमित्त होते तो उससे यह रटन न लगाना चाहिए कि समस्त निमित्त ऐसे ही होते कि उनमें उपयोग जोड़े तो निमित्त है। उपयोग दो तरहके हैं—जीवविकारमें एक तो अंतरंग निमित्त और दूसरा बहिरंग निमित्त और अन्य बातोंमें निमित्त दो प्रकारके होते ही नहीं हैं. एक बात। दूसरी बात समयसारके अनेक प्रकरणोंमें आत्मस्वभावकी दृष्टि कराने के लिए निमित्तनैमित्तिक भाव समझाया अधिक गया है। जैसे अजीवाधिकारमें ही खूब बताया कि ये रागादिक वर्णादिक गुणस्थानपर्यन्त भाव पौद्गलिक हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मसे निष्पन्न हैं। प्रयोजन यह है कि इन परभावोंसे दृष्टि हटाकर अपने स्वभावकी दृष्टि करना। घरमें या मित्रमंडलीमें जो कुछ लोग हैं, जिनका परस्परमें विश्वास है कि ये मेरे अहितका काम न करेंगे तो उनके प्रति ऐसी ही दृष्टि रहती है। ऐसे ही आगमके समस्त वाक्योंमें यह विश्वास बसा है ज्ञानीको कि आगमवाक्य कोई भी मिथ्या नहीं होता। तो जहाँ वस्तुस्वातंत्र्यका वर्णन है वहाँ भी स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लेना और जहाँ निमित्तनैमित्तिक भावका वर्णन है वहाँ तो बहुत ही सुगम रीतिसे स्वभावदर्शनके लिए उमंग बढ़ती है। ये रागादिक भाव नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, पौद्गलिक हैं, उनसे मेरा क्या वास्ता? इनसे हटें, अपने स्वभावके

अभिमुख हों, जैसे एक धर्मप्रसंग या मनुष्यभव या शासन समागम धर्मप्रसंग पाया किसलिए कि अपने स्वभावकी परख कर ली जाय और स्वभावके अभिमुख होकर अपनेको कृतार्थ कर लिया जाय, और अगर चर्चा वार्ता विवाद आदिके प्रसंग रख लिए जायें तो अपने हृदयसे पूछो कि क्या कुछ कल्याणमार्गमें लग रहे हो ? अरे हितमार्ग मिलेगा तो स्वभावकी दृष्टिमें मिलेगा। उस दृष्टिको आप प्रत्येक वचनोंमें पा सकते हैं। एक बालक भी कुछ जैनधर्मकी बात कह रहा हो, बारह भावनाओंके दोहे पढ़ रहा हो तो उसे सुनकर भी आप अपने स्वभावदृष्टिके लिए उमंग बना सकते हैं। तब ऐसा समाधान बनावें कि हमको आगम वचनोंमें विवाद नही करना है, किन्तु समस्त वचनोंसे स्वभावदृष्टिकी उमंग लाना है।

(१२१) **अनुयोगोंमें वर्णित कथनोंसे स्वभावके दर्शनकी शिक्षाका ग्रहण**—प्रथमानुयोगमें पुण्य पापके फल बताये गए संसारमें परिभ्रमण बताया गया। उस कथाको सुनकर भी यह जानकर कि ऐसा करनेमें आत्माका क्या हित है ? इससे विरक्त हो और अपने स्वभावके अभिमुख हों। जहाँ चर्चा आये करणानुयोगकी कुछ भी, लोकका वर्णन आये तो वहाँ शिक्षा मिलती है कि अरे इस स्वभावकी दृष्टिके बिना ही तो ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें भ्रमण किया। जहाँ वर्णन आया कि ऐसे ऐसे जीवोंके देहकी अवगाहना है मच्छ वगैरह, और वह चर्चा क्या ? रोज रोज ही तो देखते हैं, सड़कपर सूअर फिर रहे, उनका सारा शरीर कीचड़ व मलसे लथपथ है, लोग उन्हें देख देखकर छि: छि: करते, कैसी उन सूअरों की दयनीय दशा है। तो उसको देखकर भी स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लें कि एक अपने आत्माके अंतस्तत्त्वके परिचय बिना ऐसी ऐसी खोटी दुर्गतियोंमें इस जीवको जन्म लेना पड़ता है। तो अपने हितकी शिक्षा हम सब जगहसे पा सकते हैं। यहाँ अपने हितकी शिक्षा लें, अपना काम बनायें और अपनेमें तृप्त होवें। प्रसंग चल रहा है भावक और भाव्यका। भावक है कर्म और भाव्य है जीव विकार अथवा विकार परिणत आत्मा। यह क्या है ? यह सब निमित्तनैमित्तिक योगका ही कथन है, उसमें स्वभावकी दृष्टि सुरक्षित है। अपने आपमें विकार रूप नहां परिणमता ऐसा शब्द दिया है समयसारमें—'जह कलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रागमादीहिं। रंगिज्जदि अण्णेहिं सो रत्तादीहिं दोसेहिं।' अब यहाँ दृष्टान्तपूर्वक समझिये—जैसे स्फटिक पाषाण स्वयंको परिणामनस्वभाव वाला है मगर रागादिक रूपसे परिणमनेके स्वभाव वाला नहीं। अनुभवसे सोच लो, युक्तिसे सोच लो, स्फटिक पाषाण स्वयं में तो परिणमन स्वभाव रखता ही है, क्योंकि द्रव्य है। द्रव्यत्व गुणका काम न हो तो द्रव्य कैसे ? पर विकार परिणमनका स्वभाव नहीं रखता, इस कारण वह स्वयंके द्वारा लालिमा आदिक रूप नहीं परिणमता, किन्तु जो स्वयं लाल हैं ऐसे पदार्थका सन्निधान पाकर यह

स्फटिक लाल पीले आदिक रूपसे परिणमता है। तो समयसारमें तो और भी कठिन शब्द दिया कि परद्रव्यके द्वारा ही रागादिक रूपसे परिणम जाता है। सब जगह मूड और दृष्टि देखना। जब किसीको ठंडका रोग बढ़ जाता है तो दवा कौन सी दी जाती है ?......गर्म, और जब किसीको गर्मीका रोग बढ़ जाता है तो दवा कौनसी दी जाती है ?.....ठंडी। अगर कोई वैद्य इससे उल्टा काम करे तब सो न जाने कितने ही रोगियोंको मार डाले। तो अपनी दृष्टि अपना विवेक तो सदा सही रहना चाहिए। आचार्य संतोंका विवेक, बड़ा अद्भुत होता है। तो प्रयोजन यह है कि आपको स्वभावदृष्टिकी शिक्षा लेना है, वह लें, सर्वत्र मिल जायगी। अपने को कला चाहिए और अपने को शुद्ध भावना चाहिए। तो अब होता क्या है ? इस अज्ञानी जीवमें कि भावक एक स्वतंत्र पदार्थ है और स्वयं अलग पदार्थ है, किंतु इन दोनों में एकत्वका अनुभव करता है अज्ञानी, पर विवेकी नहीं कर पाता कि यह विकार मेरा स्वरूप नहीं, वह विकारोंको अपना स्वरूप मानता है, और विषयभूतमें उपयोग जोड़ जोड़ कर अपने विकारोंको व्यक्त करता है। तीन चीजें हैं यहाँ भावक, भाव्य और विषयभूत पदार्थ। ये तीनों ही स्वतंत्र हैं। एकका किसी दूसरेमें प्रवेश नहीं, फिर भी यह जगत, विषम जगत दो रूपोंमें निमित्त बनता है, इसे कहिये विरुद्धाविरुद्ध कार्य हेतु।

—०—

(२६)

(१२२) भावककी वास्तविक निमित्तरूपता व आश्रयभूतकी उपचरित निमित्तरूपता— यहाँ दो बातें बताई गई हैं भाव्यका भावक कर्मविपाक और उस प्रसंगमें विषयभूत पदार्थ हैं ये जगतकी सभी चीजें जो उपचरित निमित्त हैं, आरोपित हैं निमित्त। इन आरोपित निमित्तों में उपयोग दें तो ये निमित्त कहलाते। तो अब इन दो का अन्तर देखो भावक निमित्त और आश्रयभूत निमित्त। भावक निमित्त तो वास्तविक निमित्त है, अन्वय व्यतिरेकी निमित्त है कि जिसके होनेपर ही विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो। यहाँ उपचारकी बात नहीं चलती, किन्तु जो विषयभूत पदार्थ हैं वे उपचरित निमित्त हैं। उनमें उपयोग जोड़ें तो निमित्त हैं, उपयोग न जोड़ें तो कुछ नहीं है। सारा जगत पड़ा है, जिसे ज्ञानबल हो गया, उसे कुछ भी नहीं। कोई पुरुष मर गया तो घरके लोग रोते है, और साधुजन उसके लिए कुछ पछतावा करते हैं। घरके लोग क्यों रोते ? उनको उस प्रकारकी कषाय है, उस प्रकार का मोह परिणाम है, और साधुजन क्यों विवेक करते ? ऐसा दुर्लभ नरजीवन पाया कि वि-

षय कषायोंमें ही गवा दिया, ग्रात्महित कुछ न कर सके। उनके उन कषायोंका क्षयोपशम है, तो ग्रंतरंग निमित्तके भेदसे ही तो दो प्रकारके भाव हैं। कोई बहिरंग निमित्तकी ग्रोरसे निर्णय करे तो न बनेगा। पुरुष तो एक ही है यदि वह मोहका निमित्त है तो सबका मोह होना चाहिए ग्रौर यदि वह विवेकका निमित्त है तो सबको विवेक होना चाहिए। तो उपचरित निमित्त, ग्रारोपित निमित्त जिसको ग्राश्रय हुग्रा जिसमें विचार बनाया, वह हो गया ग्रारोपित निमित्त। तो भावक कर्म तो है निमित्त, ग्रौर ग्राश्रयभूत विषयभूत पदार्थ है उपचरित निमित्त। भावक निमित्त वास्तविक निमित्त है यह बात इस ध्यानसे भी समझना कि ऐसा माने बिना ये ग्रागमके सारे शास्त्र मिथ्या हो जायेंगे। कितना वर्णन है कर्मकाण्डका। कर्मकाण्डका इतना वर्णन है ग्राचार्योंका कि ग्राधेसे ज्यादह ग्रागम कर्मकाण्डमें भरा, धवल, महा धवल, जय धवल कैसी-कैसी युक्तियोंसे भरे, कैसी उसमें विभक्ति बताया, ग्रविभक्ति बताया, ग्रब वह ग्रध्ययन समाप्त होता जा रहा है, पर जितने विद्वान हुए ठोस विद्वान, पुराने विद्वान, ग्रब ग्राजकल नहीं दिख रहे, कितना परमागमका बोध था ग्रौर साथ ही निर्मलता भी, शान्ति भी, समता भी, सब तरहका बोध, तो ग्राप यों समझो कि देखो निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयसे हमें शिक्षा क्या लेना है, बस यह निर्णय बना लें। हटनेकी शिक्षा लेना है। हटकर निवृत्त हों, उससे विमुख हों, उनका ग्राश्रय मत करें, स्वभावका ग्राश्रय करें।

(१२३) **विधिनिषेधसे उपलब्ध सन्मार्गपर विधि निषेधके ग्रवगमसे गमन**—देखो भैया! निमित्त नैमित्तिक भावका परिचय है प्रतिषेधके लिए ग्रौर उपादानमें स्वभावका परिचय है विधिके लिए। शब्दोंका झगड़ा प्रायः सभी सम्प्रदायोमें बनता है। अष्टसहस्री ग्रन्थमें चौथी कारिका का जो विस्तृत वर्णन है उसमें विधि नियोग ग्रौर प्रेरणा वेद वाक्योंके तीन-तीन ग्रर्थ किए गए। उन तीन ग्रर्थोंके ग्राग्रहमें वहाँ ही तीन मंतव्य बन गए—एक बना ब्रह्मवाद, एक बना भट्टीय ग्रौर एक बना प्रभाकरीय। तो वहाँ तो इतनी गुंजाइस है, मगर जैनशासनमें शब्दोंमें इतनी गुंजाइस नहीं है कि कई ग्रर्थ किए जा सकें। यहाँ तो नय दृष्टिकी विविधतासे ग्रनेक ग्रर्थ हैं, प्रायः शब्द द्वारा ग्रनेक ग्रर्थ नहीं। तो उन नयोंसे हमको ग्रपने हित का मार्ग ढूंढ़ना है। कहीं नयोंकी चर्चामें नहीं ग्रटक जाना है, इससे पार होकर एक स्वभाव दृष्टिके लिए बढ़ना है, उसमें बढ़ो। तो यहाँ भावक तो है निमित्त कारण ग्रौर विषयभूत है उपचरित निमित्त। भावकका सन्निधान पाकर जीव जब विकार रूप होता है तो कैसे होता है व्यक्त, इन बाहरी पदार्थोंमें दृष्टि देते हैं, सबसे बड़ी भारी विपदा है जीवपर ग्रज्ञानकी। कैसा ग्रज्ञान ? कैसा मन, जिसको प्रकट सभी जड़ वैभवोंमें इतनी ग्रसक्ति है कि चित्तमें वही रहता है, उसका बोध बना रहता है, ग्रौर फिर पुत्र मित्र स्त्री ग्रादिक पर जीवोंमें कितनी

आसक्ति होती है। उसकी समझमें यह रहता है कि यह ही सर्वस्व है और इसीसे हम सुरक्षित हैं और इसीसे हम बड़े कहलाते हैं, अच्छे कहलाते हैं, ऐसा बोध जिनके है उनपर कितनी बड़ी आपत्ति है। बाहरी बात आपत्ति नहीं कहलाती, किन्तु अपनेपर अज्ञान थुपा हो तो वह है आपत्ति। जहाँ स्वपरका भेद न हो सके वहाँ धैर्य कैसे बनेगा ? मैं सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। मेरी कहाँ अरक्षा है ? मुझमें किसका प्रवेश है ? शस्त्रसे कटे नहीं, पानीसे गले नहीं, आगसे जले नहीं, हवासे उड़े नहीं, पकड़नेसे पकड़ा न जाय। इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वपर क्या आपत्ति आती है परपदार्थसे, किन्तु स्वयं भीतरमें अज्ञान बसा हो तो यह ही तो विपदा है।

(१२४) **सम्पर्क और उपयोगयोजनमें अन्तर**—ये जो दो प्रकारके निमित्त हैं भावक याने पुद्गल कर्म और विषयभूत याने संसारके दिखने वाले पदार्थ। किनमें यह जीव उपयोग जोड़ता है विषयभूत पदार्थोंमें और यों यह अपने आपमें विकारोंको व्यक्त करता है, तो यह हुआ भावक भाव्यका संकर। मिल गए, अहो—जैसे बेमेल जोड़ हो जाय तो जीवन भर खटखट रहती कि नहीं, ऐसे ही बेमेल जोड़ है जीवका और कर्मका। तो सदा खटखट रहेगी कि नहीं। कर्म है, अचेतन, जीव है चेतन। कर्म है दुःखका हेतुभूत और जीव है आनन्दस्वरूप और इसकी बना दी गई जोड़ी, कौन ने बनाया ? अनादिसे बन रही। तो इसमें यह जीव भी नच रहा और कर्म भी मगर कर्म तो है ऐसा अचेतन कि उनको कुछ परवाह ही नहीं और जीव है चेतन सो बस सारी बिडम्बना जीवपर पड़ रही है। क्यों नहीं उमंग आती कि अनन्त भव तो बिता डाला इन बाह्य निमित्तोंके प्रसंगमें अब एक भव ऐसा ही सही, किसीका ख्याल नहीं करना, और आत्मस्वभावको दृष्टि रखना है, उन अनन्तभवोंमें अगर उनकी तरह एक भव जो न लगे तो कोई कमी पड़ी जाती है क्या ? उन अनन्तमें से समझो एक कम रहा तो कुछ कमी आ गई क्या ? क्यों नहीं उमंग होती कि यह भव तो मैं धर्मसाधनामें ही लगाऊँगा। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रयोजन नहीं। अब यहाँ देखिये इस जीव ने आलम्बन किसका लिया ? इन बाहरी पदार्थोंका। अगर कर्मोदय हुआ तब यह ज्ञान तिरस्कृत हो गया। इसको कौन बचाये ? अब उस समय यह विवेक है कि इस उपचरित निमित्तमें उपयोग न जोड़ें तो विजय है और इस उपचरित निमित्तमें उपयोग जोड़ें तो हार है। फिर भी वस्तु विधि देखिये कि कर्म अज्ञात है, उनमें उपयोग जोड़नेरूप आलम्बन नहीं, किन्तु सम्पर्क रूप आलम्बन है। उपयोग जोड़नेका आलम्बन और अर्थ रखता और प्रतिफलनका सम्पर्करूप आलम्बनका अन्य भाव है, यह बनता है अजीव अजीवमें जैसे प्राकृतिक इसी प्रकार यहाँ भी बनता है यह उपयोग जोड़े बिना वस्तुविधिके अनुसार। तो वहाँ

यह अनिवारित है कर्मविपाकका प्रतिफलन है और उस प्रतिफलनमें आत्म तिरस्कार है, इस प्रकार जो अन्तः सम्पर्क है ऐसा आलम्बन है पर उपयोग जोड़नेरूप आलम्बन होगा तो इन बाहरी उपचरित निमित्तोंमें ही होगा।

(१२५) आश्रयभूत अर्थमें अर्थात् नोकर्ममें उपयोग न जोड़नेसे विजयकी संभवता—हम इन कर्मोंको क्या करेंगे ? जैसे कहते हैं ना 'मोह महा रिपु जोर' अच्छा इन अष्टकर्मोंका जरा ध्वंस करो। इन कर्मोंको कैसे बिगाड़ोगे ? और कर्मोंको कैसे जीतोगे ? कोई उपाय तो बताओ। अरे उनका जीतना यह ही है कि कर्मोदयके सहायक नोकर्म कहलाते हैं। ये विषय भूत पदार्थ हैं। ज्ञानबलसे इनमें उपयोग न जोड़ें, कर्मका पराजय होने लगेगा। तो जो करने की बात है वहाँ तो करें नहीं और केवल बातोंमें ही हम अपना समय लगायें तो इसमें अनन्त भवोंकी तरह यह भी भव जायगा। करें उपयोग। इस उपचार निमित्तका सहारा मत लें। इनमें उपयोग मत जोड़ें और अपने स्वभावके अभिमुख बने, यह तपश्चरण करते तो रहो, यह परिणमन होने तो दो। भव-भवके बांधे हुए कर्म निर्जीर्ण हो जायेंगे। तो अब देखो विकार दो जगह आया, जैसे लाल पीले कपड़ेका सामना पाकर दर्पणका प्रतिबिम्ब हुआ तो लाल पीला दो जगह आया दर्पणमें और कपड़ेमें तो कपड़ेका लाल पीला कपड़ेमें और दर्पणका लाल पीला दर्पणमें लेकिन दर्पणका लाल पीला दर्पणके स्वभावसे नहीं उठा लाल पीले, परद्रव्यका सन्निधान पाकर दर्पणमें आया, दोनो जगह बात स्वतंत्र है। दर्पणके प्रतिबिम्बको व्याप्य व्यापक बनकर लाल पीला पदार्थने नहीं किया, फिर भी दर्पणके स्वभावसे वह प्रतिबिम्ब उठा नहीं, इन दोनोंमें कोई एक बात न माने तो व्यवस्था नहीं बनती। स्वभाव भक्ति, अरे भला जब लोकमें भी किसीके प्रति भक्ति हो किसीके प्रति प्रीति हो तो उसके अवगुण नहीं दिखते, गुण ही दिखते। माँ को अपने बच्चेमें गुण ही दिखते, अवगुण नहीं। बहुत ही ऐबी हो जाय तो उसकी बात अलग है। मगर साधारणतया माँ बच्चेके गुण ही देखेगी, अवगुण नहीं। तो ऐसे ही जिसे आत्माके स्वभावकी, सहज परमात्मतत्त्वकी रुचि हुई है तो वह अशुद्धता नहीं देखना चाहता।

(१२६) ज्ञानरुचिक संतोंकी अविकार स्वभाव देखनेकी धुन—यदि ऐसा एकान्त है कि अपनी योग्यतासे अपने समयमें विकार कर जाता है जीव, निमित्तकी कुछ बात नहीं, तो यह अपने में अवगुण देखेगा। ज्ञानी तो उसे ऐसा शुद्ध देखता जैसे समयसारमें वर्णन किया कि जीवके रागादिक भाव पौद्गलिक हैं, जीवके नहीं हैं, जैसे बच्चेको खोटी आदत लग जाय किसी लड़के के संगसे और कोई शिकायत करे कि तुम्हारा बच्चा तो कुसंगमें आ गया तो वह कहता है कि नहीं, हमारे बच्चेमें खोटी आदत नहीं है, वह आदत तो पड़ोसी

बच्चेकी लग गई है। तो एक मां अपने बच्चेको निर्दोष देखती है, क्योंकि वात्सल्य है ना ? यह ही प्रयोग किया है समयसारके अजीवाधिकारमें और कर्तृकर्माधिकारमें। यह जीव अकर्ता है कर्मका भी और विकारका भी, तब फिर कैसा है ? विशुद्ध चैतन्यमात्र। जब कभी ऐसा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञायकभाव अपने अनुभवमें आये तो समझो कि हमारा वह क्षण धन्य है और हमारा कल्याण हुआ, सम्यक्त्वका अभ्युदय हुआ, अब स्वच्छता आयी। विपरीत अभिप्रायका विच्छेद हुआ। यह है नयकी बात। तो ऐसे ज्ञानानुभूतिकी उमंग रखनेकी धुन रखें तो आपको सर्वत्र हितका पंथ मिलेगा। हाँ तो यहाँ क्या समझना है कि जिस समय मेरा इन बाह्य पदार्थोंमें विकार नहीं जुड़ रहा उस समय वह मुझमें अव्यक्त विकार बराबर चल रहे। क्योंकि भावक कर्मोदयके विपाककी बिधि ऐसी है, लेकिन वह अव्यक्त विकार भी मेरा स्वरूप नहीं। और इन विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग जोड़कर जो मैं अपनेमें व्यक्त विकार करता हूं यह मेरा स्वरूप नहीं। मैं तो समस्त विकारोसे विविक्त स्वभावतः केवल चित्प्रतिभास मात्र हूं। कभी सहज जगता। स्वयंपर बीती हुई बात है। कोई घटना ऐसी हो रही है कि कुछ बरस रहीं हैं आपत्तियाँ अपने ऊपर और यह भीतर ही बहुत दृढ़ मन करके भीतर ही भीतर अपनी प्रगति भी कर रहा है। देखो स्वप्न आये ऐसा कि मेरे ऊपर रेलगाड़ी निकल रही है, तो स्वप्नमें ऐसा ही तो दृढ़ मन कर लेते कि निकल जाने दो गाड़ी। निकल जायगी गाड़ी हम सुरक्षित रहेंगे। ऐसे ही बहुत अंतर्बल करके यह ज्ञानी अपनेमें अनुभव करता है कि बीतने दो विकार, आ रहे हैं आने दो, जा रहे हैं जाने दो। मैं तो भीतर एक विशुद्ध चित्प्रतिभास मात्र हूं, ऐसा बल, ऐसी धुन कि वह विकारसे विविक्त ही अपनेको अनुभव करता है।

—०—

(२७)

(१२७) **बन्धनोपाधि निमित्त और ममताश्रय निमित्तका विश्लेषण**—निमित्तोंका प्रकार इन निबंधोंमें बताया जा रहा है। मूलमें बातें दो हैं— (१) अन्तरंग निमित्त और (२) बहिरंग निमित्त। उमीके ही प्रकारान्तर कहे जा रहे हैं। यहाँ बताया जा रहा है कि एक तो है बंधनोपाधि निमित्त और दूसरा है ममताश्रय निमित्त। याने जो कर्म बाँधे थे और उदयमें आये हैं वे कर्मविपाक कर्म कहलाते हैं, बंधनोपाधिमें बंधनोपाधिके सन्निधानसे होता क्या है यह बात निरखना है। जरा दृष्टांतमें देखो—ये शब्द कहे जा रहे हैं समयसारके—बंधनोपाधि निमित्तसन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां। जैसे दर्पणके सामने कोई पदार्थ आया तो दर्पणमें प्रतिबिम्बको आनेमें कितनी देर लगती है ? ऐसा लगता है कि मानो एक-

दम दौड़कर ही ये प्रतिबिम्ब आ गए। तो ऐसे ही बंधनोपाधि सन्निधानसे एकदम प्रधावित हुए ये अस्वभावभाव हैं। इससे हुआ क्या कि आत्मामें जो स्वभावभाव है उसका तिरोधान हो गया। तब यह जीव अज्ञानसे मोहित हो गया। अब इसे कुछ सूझता नहीं। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब छा जाय तो दर्पणकी स्वच्छता तिरोभूत हो गई। अब वहाँ अन्य कुछ ज्ञेय न बन सकेगा, प्रतिभास न कर सकेगा, ऐसे अज्ञानमें जीवकी दशा विकृत हो जाती है। देखो यदि निमित्त नैमित्तिक भाव न हो और स्वय अपने आपकी ही योग्यतासे, परिणमनसे स्वप्रत्ययक होकर ही ये विकार भाव जगे तो इसकी समस्या यह होगी कि फिर ये मिटेंगे कैसे? जो नैमित्तिक हैं वे मिट सकते हैं और जो स्वप्रत्ययक हैं वे मिट नहीं सकते। आचार्य संतोंने निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय कराकर स्वभावकी रक्षा करायी है। समझो ज्ञानमें कि मैं चैतन्य स्वरूप अविकार हूं। स्वयं एक स्वच्छ प्रतिभास मात्र हूं। तो जब बंधनोपाधिका सन्निधान हो और यहाँ एकदम अस्वभावभाव प्रभावित हो, ज्ञानस्वभावका तिरस्कार हो, तब अज्ञानसे मोहित होकर यह जीव कहता है कि यह मेरा है। मकान मेरा है, घर मेरा है, पुत्र मित्रादिक मेरे हैं, तो जिनमें मेरा है, मेरा है कह रहे वह कहलाता ममताश्रय निमित्त। उनका अन्वय व्यतिरेक नहीं है, और यह बंधन उपाधि कर्मोदय विपाक कहलाया अन्वय व्यतिरेकी निमित्त। यहाँ यह बात समझना कि ममताके आश्रयभूत पदार्थोंमें यह जीव उपयोग जोड़ता है, और बन्धनोपाधि तो दृश्य भी नहीं हो रहा। कहाँ है वह कर्म? उसमें उपयोग क्या जुड़ेगा? वहाँ तो जैसे अजीव अजीवमें निमित्त नैमित्तिक भाव है सो यह चल रहा है। यह उपयोग जुड़ता है बहिरंग निमित्तोंमें। जिसे कहते हैं ममताश्रय निमित्त।

(१२८) **भेदविज्ञानबलके द्वारा परभावसे हटकर स्वभावका आश्रय करनेमें कल्याण लाभ**—अब क्या करना चाहिए कल्याणके लिए कि भेदविज्ञानके बलसे अपने स्वरूपका परिचय करें तो इसका परिणाम क्या होगा कि बंधनोपाधि शिथिल हो जायगी। कर्मोंपर दृष्टि रखनेसे कर्म शिथिल नहीं होते, किन्तु अपने स्वभावका आश्रय करनेसे कर्म स्वयं शिथिल हो जाते है। जैसे कर्मकी ओरसे यह निमित्त नैमित्तिक भाव है कि कर्मविपाक हो तो विकार होते जीवमें। तो जीवकी ओरसे यह निमित्त नैमित्तिक भाव है कि जीव अपने स्वभावका आश्रय करे तो कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं, निर्जीर्ण हो जाते हैं, और जब ममता ही निर्मूल हो गई, ममता ही न रहेगी तो फिर ये आश्रयभूत पदार्थ, बहिरंग पदार्थ ये फिर निमित्त कभी क्या होंगे? तो कर्तव्य एक ही है, स्वभावका आश्रय करें। अपने आपको निरखें कि मैं ज्ञानमात्र हूं। कर्मविपाक बड़ा विचित्र होता है। कुछ जानबूझकर, कुछ बाह्य क्रियायें करके भी अपने आपके विवेकसे च्युत हो जाता है प्राणी। विवेकको खो देता है और क्या

उचित है, क्या अनुचित है ? इसे भी भूलकर अपनी कषायोंका ही आग्रह रखते हैं, यह है कर्मविपाककी विचित्रता। देखो यहां यह ज्ञान दृढ़ रखना कि जीव कभी पुद्गल रूप नहीं होता और पुद्गल कभी जीवरूप नहीं होता। ऐसा स्वातंत्र्य होनेपर भी यह निमित्त नैमित्तिक भाव विकारके प्रसंगमें है ही, अन्यथा विकार हो नहीं सकता। हमको तो स्वभावके आश्रयकी शिक्षा लेनी है। वह शिक्षा मिलती है सर्व परिचयोंमें। निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयमें वह शिक्षा मिलती है कि नैमित्तिक भाव मेरे कुछ नहीं, उनसे हटें और लगें अपने आपके सहज स्वभावके अवलोकनमें। तो हर विधियोंमें हम स्वभावाश्रयकी शिक्षा प्राप्त करें।

—o—

(२८)

(१२९) **अन्तरङ्ग निमित्त व उपचरित निमित्तके वर्णनका उपसंहार**—अब यहाँ इस विषयका उपसंहार किया जा रहा है, इसके बाद फिर नये-नये विषय आयेंगे। जिस प्रकारसे इन निमित्तोंका द्विविधपना बताया है उस सबका सारांश यह है कि वे हैं दो प्रकार के अंतरंगनिमित्त याने वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। देखो जब अजीव अजीव का प्रसंग हुआ तो वहाँ तो वास्तविक निमित्त और उपादान ये दो ही रहते हैं, पर चूंकि जीव उपयोग स्वरूप है, ज्ञानवान है तो जीवमें विकार होनेके प्रसंगमें एक निमित्त और निकल बैठता है। उसे कहते हैं उपचरित निमित्त याने जिन-जिन पदार्थोंका आश्रय करें तो विकार व्यक्त हों ऐसे इन पदार्थोंका आश्रय करना यह है उपचरित निमित्तका सम्बन्ध। तो वास्तविक निमित्त तो है कर्मका उदय और उपचरित निमित्त है ५ इन्द्रियां और मनके विषयभूत पदार्थ। इतना तो होता ही है कि जब पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आते हैं और वहाँ कर्म में एक भयंकर विड्रूप स्थिति बनती है तो वहाँ इस जीवके ज्ञानस्वभावका तिरस्कार तो हो ही जाता है। अब उस तिरस्कारके समय जीव क्या करे ? भीतरमें तो कुछ विवेक कर पाता नहीं, भीतर तो उसकी बुद्धि चलती नहीं, तो उस बुद्धिका परिपाक बाहरी पदार्थोंकी ओर होने लगता है। क्या करे यह उपयोग ? अहाना है कि गधासे न जीते तो कुम्हारीके कान मरोड़ दिये। घर घरमें भी ऐसा होता पतिसे न जीते तो लड़केके चार थप्पड़ मार दिये। होता ही है प्रायः दुर्बुद्धिमें ऐसा। अरे जिस कर्मोदयका सन्निधान पाकर सारी विडम्बना बनी कि ज्ञानस्वभाव तिरस्कृत हो गया, भीतरमें अब कुछ बुद्धि बल नहीं चल रहा, ऐसी जब स्थिति होती है तब क्या करे यह जीव ? बाहरके इन विषयभूत उपचरित निमित्तों

में यह अपना उपयोग जोड़ता है। शिक्षा हमको यहाँ क्या मिली कि देखो तुम उपादान पूर्वक उपयोग क्या कर सकते हो? बस दो प्रकारके पुरुषार्थ एक तो वस्तु स्वभावको निरख करके आत्मस्वभावकी भक्ति करना और दूसरे इन कषायोंके आश्रयभूत बाहरी पदार्थोंका आलंबन छोड़कर अपनेको शान्त, कृतार्थ करना। जो कुछ भी उपाय है वह है मोक्षमार्गमें प्रवेश करने का तो यही कि विभावोंका तो सहयोग छोड़ दें और आत्मस्वरूप का आलम्बन बनायें। तो यहां यह बात आयी ना कि निमित्तपने का उपचार कर्मविपाकपर नहीं होता, किन्तु मन और इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंपर निमित्तपनेका उपचार होता है। जिनपर उपचार होता उनका बल नहीं समझा जाता। यहां तो हम अपनी कल्पनासे उनमें उपयोग जोड़ते हैं और अपने आपमें वेदना उत्पन्न करते हैं। भैया! अन्तरंग निमित्त और उपचरित निमित्तमें अन्तर तो समझना होगा अन्यथा कर्म और नोकर्म ऐसे दो शब्द क्यों दिये आचार्योंने? तो कला है, माद्दा है, कुशलता है तो अपने आपमें अपने सहज स्वभावके परखने की।

(१३०) **पराश्रय त्याग कर स्वाश्रय करनेमें ही आत्मलाभ**—सहज स्वभावके परखने की विधियाँ क्या हैं। तो किया तो प्रयत्न सभी दार्शनिकोंने कि हम उस परमब्रह्म चित्स्वभाव का परिचय करें और उसमें मग्न हों, लेकिन जो बीत रही है उसे तो सुलझावो। बीत रही क्या हमपर बात? बीत रही है बाह्य पदार्थोंका विषय बनाकर उनमें उलझनेकी बात। धर्म कहाँ है? धर्म है—समता रखो, अपने ज्ञानस्वरूपका आदर करो, समता यहाँ है समता बाह्य विडम्बनामें नहीं, बाहरी पक्षमें नहीं, कषायके दुराग्रहमें नहीं। धर्म मिलेगा तो आत्मा के सहज स्वभावके आलम्बनमें मिलेगा। पक्ष दुराग्रह, अधर्म, अन्याय, व्यसन इनकी ओर दृढ़ श्रद्धान होनेमें कहीं धर्म रखा है? धर्म है एक आत्मस्वरूप, आत्मस्वभाव। वह कैसे प्रकट होगा? बस वह दि० जैन आचार्य संतोंकी देनके उपयोगसे प्रकट होगा। हम संतों का आभार क्या मान सकते हैं, हम उनकी की हुई कृपाका क्या बदला चुका सकते हैं? कुछ समर्थ नहीं। इन आचार्य संतोंने निश्चय व्यवहार यथापद चरणानुयोग सब प्रकारका निर्देशन करके जगतके प्राणियोंको शान्तिका मार्ग दिखा दिया। देखो बात क्या गुजर रही है आत्मा में? कठिन कुछ नहीं है, भीतर ध्यान देकर सुना जाय तो सब समझमें आयगा, क्योंकि कही तो अपनी ही बात जा रही है। पहले बांधे हुए कर्मका उदय आया कि देखो तत्काल कितनी क्रान्ति विक्रान्ति मच जाती है। कर्मोदय आया, ज्ञानस्वच्छताका तिरस्कार हुआ यह ज्ञानमें विमुग्ध हो गया, क्या करे? जब इसे कुछ सूझ नहीं तो इसने बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़ा, उपयोग जोड़कर व्यक्त बिकार किया। अब इस व्यक्त विकारका निमित्त पाकर उदयमें आये

हुए कर्मोंको ऐसा बल मिला कि वे नवीन कर्मोंके आश्रवके निमित्त बन जाते हैं। और, इस तरह फिर उनका उदय आयगा और यह संसार परम्परा चलती रहती है। कब तक? जब तक कि आत्मा और परभावोंमें विवेक न बन जाय। तो ऐसे परके उपयोगकी बात छोड़कर एक आत्माके ही इस चैतन्यस्वभावके उपयोगमें सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। देखो श्रावक जनोंका धर्म कब तक रहेगा जब तक देव, शास्त्र, गुरुके प्रति अनन्य भक्ति होगी और विनम्रताका भाव रहेगा। अपनेको सबसे बड़ा न मानकर सबको अपने ही समान स्वरूप वाला समझा जायगा तो वहाँ श्रावकोंकी तरक्की होगी। विरुद्ध परिणतिमें जीवके उद्धारका अवसर नहीं होता। इस मनुष्यको केवल दो ही तो काम पड़े हैं। 'कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार। एक जीवकी जीविका, दूजो जीवोद्धार'। दो काम करनेको पड़े हैं—(१) आजीविका करें और (२) आत्मोद्धारका काम करें। यह गृहस्थोंकी बात कह रहे हैं, और जिस दिन ख्याति, पूजा, कुल, जाति आदि किसीका भी आश्रय करके एक विकार जगेगा वहाँ आत्महित न होगा। विकार मत जगो। ऐसी एक निर्विकार स्थिति बनानेके लिए आवश्यकता है कषायोंके त्यागनेकी, मोहको हटानेकी। जो ज्ञानी है उसका एक ही काम है— निज सहज शुद्ध ज्ञानका आलम्बन लेना, इसके अतिरिक्त दूसरा काम नहीं होता ज्ञानीका। अगर ज्ञानी बाह्य विषयोंको ले, पक्षमें रहे, मोहमें रहे, दुराग्रहमें रहे, कषायोंकी हठमें रहे तो उसने आत्मस्वभाव जना कहाँ? वह तो अज्ञानी है। अपने आपको दीर्घ संसारमें डुबाने वाला है। देखो अपनेमें एक विशुद्ध आत्मस्वरूप। देखो जगतमें दूसरेका विशुद्ध आत्मस्वरूप। ऐसी दो बातें करनेकी हैं। मायने ख्याल ही तो है, जैसे पुत्र मित्रका ख्याल गुरुवोंका यह कुछ नहीं है, ख्याल है, नोकर्म शुद्धात्म भक्ति और पंचगुरु भक्ति। कोई गुरुजनका, पंच करके ममता जग गई ऐसे ही केवल ख्याल है, कुछ नहीं है। मैं ही सर्वस्व हूं, शुद्ध हूं, सिद्ध हो गया। ऐसी भीतरमें उद्दण्डता रखे तो वह भी गर्तमें है और उसका सत्संग करके जो अपना ऐसा विपरीत भाव बनावे वह भी गर्तमें है। देखो परखो, अपनेमें कितनी गल्तियाँ हैं, उनको दूर करें। अपनेमें कैसा अनन्त ज्ञानानन्दकी निधि बसी है उसका ध्यान करें। बढ़ते चलें मुक्तिमार्गमें, यही एक पावन कार्य है।

—०—

(२६)

(१३१) जीवविकारकी नैमित्तिकता व मात्र जीवयोग्यताजन्यताकी जिज्ञासाका समाधान—जीव विकारके सम्बंधमें दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि यह जीव विकार नैमित्तिक है

या मात्र जीव योग्यता जन्य है ? दोनों प्रश्नोंका भाव क्या है ? याने जीवमें जो क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, विकार उत्पन्न होते हैं वे क्या इस तरह होते हैं कि कोई कर्म निमित्त उदय विपाक सन्निधानमें होता है तब रागद्वेष क्रोधादिक विकार होते हैं क्या ? एक प्रश्न तो यह है और एक वह तो जीवकी योग्यतासे होता है, जब जीवके जो भाव आनेको हो, योग्यता हो उस तरहके भाव आते जाते हैं, एक यह प्रश्न। इन दो प्रश्नोंका सामाधान इस निबंधमें है। अब यहाँ फिर भी खुलासा समझो। जीव योग्यताजन्य है, इसका अर्थ यह है कि मात्र जीवकी योग्यतासे पर्यायें होती चली जा रही है, क्या यह बात किसी दृष्टिसे ठीक हो सकती है ? हाँ हो सकती है। जब केवल जीव द्रव्यको ही देखा जा रहा है, निमित्तपर दृष्टि नहीं, न निमित्त का विधि निषेध है, न वहाँका कोई ख्याल किया जा रहा है, केवल जीवको देखा जा रहा है तो वहां उसकी पर्याय समझमें आती है और ऐसा विविक्त होता है कि जीवकी योग्यतासे ये विकार आते चले जा रहे हैं. क्या ये विकार किसी परपदार्थकी योग्यतासे आये हैं ? नहीं नहीं, उपादानकी योग्यतासे आये हैं, तो यह बात झूठ नहीं है। अगर इसका एकान्त हो जाय कि बात ऐसी ही है कि विकार जीवकी योग्यतासे ही होता है, निमित्तको वहां कुछ बात नहीं कहें, यह बिल्कुल झूठ हो जाता है। सत्य होकर भी असत्य कब होता है जब कि एकान्तका आग्रह हो। तो उस दृष्टिमें सत्य होकर भी असत्य बन जाता है। क्या हानि हुई ? यदि एक यह ही आग्रह रहे तो वह तो जीवकी योग्यता होते चले जा रहे हैं निमित्तकी वहां क्या बात है ? सन्निधान माननेकी भी जरूरत क्या है ? अगर तुम हमको हैरान करते हो तो हम कह देंगे कि उस समय जो हाजिर हो जाता है, सो निमित्त है। सो भैया ! ऐसी बात नहीं है, बात दोनों हैं। यहाँ देखो तो यह देखना है कि जीवकी परिणतियां हैं, जीवकी योग्यतायें हैं, योग्यतासे ये सब परिणमन चलते चले जा रहे हैं। मगर वहां एकान्त हो जानेपर एक समस्या आती है, तो फिर ऐसी योग्यता सदा क्यों नहीं रहती ? क्यों बदलती रहती है योग्यता ? कभी शान्त हो गया, अशान्त हो गया, क्रोध हो गया, ये योग्यतायें बदलती क्यों रहती हैं ? अगर कहो कि उनमें तो ऐसी ही योग्यता है कि वह ध्यान रहे तो यह तो सब एक लाज खोकर उत्तर देनेकी बात है, युक्ति नहीं जोड़ी। दार्शनिक शास्त्रमें युक्तिकी मुख्यता है। अगर कोई बसती है योग्यता तो यह योग्यता सदा क्यों नहीं रहती जीवमें ? जब परपदार्थका सन्निधान ही कुछ नहीं है तो पदार्थके विषयकी योग्यता सदा रहनी चाहिए, तब एकान्तकी बात ठीक न बैठेगी। ठीक रहकर भी ठीक नहीं रही यह ध्यानमें लाना है।

(१३२) **दृष्टान्तपूर्वक विकारकी नैमित्तिकताका समर्थन**—जैसे कोई प्राणी केवल दर्पणको यहाँ देख रहा है और सड़कपर बहुतसे आदमी जा रहे हैं, गधा, घोड़ा, सूअर, पुरुष

आदिक और सामने दुकानपर बड़ा ऐना लगा है तो उसमें सारे प्रतिबिम्ब हो रहे हैं। अब निमित्तको न देखें, भले ही दर्पणको देख रहे तो समझमें आ रहा कि दर्पणमें दर्पणकी परिणतिसे यह प्रतिबिम्ब बदलता चला जा रहा है। कोई अन्य द्रव्य नहीं है, लेकिन इसीका ही कोई एकान्त कर ले कि वह तो उसकी योग्यतासे ही ऐसा हो रहा तो क्यों नहीं एकसे रहते, क्यों नहीं सदा रहते ? इसका कारण क्या ? कोई उत्तर न बनेगा। तो दूसरी बात माननी होगी अब कि परनिमित्त उपाधिका सन्निधान पाकर जीव अपनी परिणतिसे ऐसा विकार करता चला जा रहा है। देखो जैनशासन स्याद्वाद कितना विवाद रहित है। कहीं विसम्वाद नहीं, कहीं झगड़ा नहीं, कहीं असत्य नहीं, मगर प्रतिपक्षनयका विरोध करे तो वह असत्य हो जाता है। हाँ अब देखिये कोई ऐसा ही कहे कि जीवमें विकारको तो निमित्तने ही किया। जीव क्या करे ? तो यह भी बात ठीक है। निमित्त न हो तो जीवमें विकार नहीं आ सकता इसलिए निमित्तसे यह विकार निष्पन्न हुआ है, जिन बातोंको समयसारमें इतना कहा— 'पुद्गल कम्मणिप्पण्णा' मगर कोई इसका ही एकान्त करके रह जाय अजी जीवके विकारको तो निमित्त ही करता है जीवका वहां कुछ वश नहीं चलता तो इसमें क्या आपत्ति आयगी ? जैसे और लोग कहते हैं कि ईश्वर सबको सुख दुःख देता है, पुण्य पाप कराता है ऐसा जो मान लेता हैं वह कायर हो जाता है। हम क्या करें, उसीकी ही भक्ति करें, वही हमें सुख देगा, तो यों यह निमित्त ही कर्ता है, यही सब कुछ है, तो इसमें तो वही पराधीनता आयगी कि मैं तो कुछ करनेमें समर्थ नहीं। निमित्त जैसा कहेगा, जैसा करेगा सो होगा, तो इसमें मार्ग नहीं मिला, इसलिए यह भी बात सत्य होकर भी एकान्तमें आ जाय तो असत्य हो जाती है।

(१३३) **आत्महितार्थीको निष्पक्षताके आदरका महत्त्व**—देखो आत्महित चाहिए है तो निष्पक्षताका आदर करो। निष्पक्षताके आदरके मायने प्रमाणसे सोच लो सब दृष्टियोंसे संभाल लो, और अपना प्रयोजन निकाल लो। भला जब किसी झगड़ेमें फंस जाते हैं, जैसे मानो स्टेशन पर ही पुलिसने रोक लिया कहा कि साहब अपना सामान दिखाओ, तो वहाँ सोचते हैं ना कि कहाँ झंझटमें फंस गए, अब कैसे उपाय मिले कि इससे निवृत्त हो, जब उपाय मिलता तो वह निवृत्त हो जाता है। तो जहाँ इतनी बड़ी विडम्बना विपत्ति लग रही है, कितना फंसाव है, यह नहीं सोचते कि हमको तो सर्व कुशलताओंसे इन झंझटोंसे निकलने की बात करना है। तो देखो शिक्षा सब नयोंसे मिलती है। कोई नय बेकार नहीं है और यह उन्मत्तोंकी चेष्टा है कि कभी पर्यायार्थिकनयकी मुख्यता करके अध्यात्म बनाया और कभी द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यता करके अध्यात्म बनाया। जब एकान्तका आग्रह हो जाता है तब उसे

कुछ सूझता नहीं है। तो जब जैसे कहनेमें आ गया तो कह देता है, कभी माँ को माँ कह देता और कभी माँको स्त्री कह देता, कभी स्त्रीको माँ कह देता, ऐसी कोई एक समुचित व्यवस्था नहीं रहती है जब तक कि हृदयशुद्ध निष्पक्ष न हो। तो अब देखो यहाँ जो दो प्रश्न किए गए कि जीव जीवके विकार नैमित्तिक हैं या मात्र जीव योग्यता जन्य है ? उत्तर दोनो हैं, परपरस्पर सापेक्ष हो तो दोनो सही, निरपेक्ष हों तो दोनों गलत। हम वहाँसे शिक्षा क्या लें ? जहाँ हमने जाना कि मेरी योग्यतासे ये होते जाते हैं वहां यह ध्यान होना चाहिए कि हम अपनी योग्यता बतलाते, कुछ बनाते, यह ध्यान कब जगे जब हम नैमित्तिक भावकी आस्था बनायें, मगर जीवमें जीवकी योग्यता इतना ही सारा काम है तो हम उस योग्यताको मिटानेका भाव ही नहीं कर सकते और जब यहां जाना कि जीव नैमित्तिक है, निमित्त पाकर हुआ है तो हमको यह शिक्षा मिलती है कि यह मेरी चीज नहीं है। यह तो निमित्त पाकर हो गया है। मैं तो विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं। जैसे जो गुणग्राही पुरुष हैं वह बच्चेके वचनोंसे भी शिक्षा ले लेते हैं, ऐसा घमंड न करें कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, मैं इस छोरेकी बात क्यों मानूं ? यह कलका छोकरा हमें क्या ज्ञान सिखाता, ऐसा गर्व न करें। वृद्ध कहे, जवान कहे, बालक कहे, अगर उसके वचनोंमें गुण है तो उसे ग्रहण करें। एक ऐसी घटना है कि एक शास्त्रसभामें तीन आदमी रोज आते थे। और शास्त्र पढ़ते थे— उनमें एक था छोटा बालक, एक था जवान और एक था बूढ़ा। तो उन तीनोंमें यह बात तय हुई कि अपन तीनों में से जो भी पहले विरक्त हो वह दूसरेको भी समझावे (सम्बोधे) ताकि वे दो भी विरक्त हो जायें। तो सबसे पहले बूढ़े व्यक्तिने सोचा कि अब हम को घर द्वार सब कुछ छोड़कर आत्मसाधना करना चाहिए सो एक दो सालमें उसने सब प्रकारका ठीक ठीक इन्तजाम कर दिया, अपने लड़का लड़की वगैरहको जिसे जो देना था सो दे दिया। सब कुछ समझा बुझा कर वह विरक्त होकर घरसे निकला। उस समय दोपहरका समय था। आगे वह अपने उस नवयुवक मित्रसे मिला जिसकी दुकान रास्ते पर पड़ती थी— बोला हम तो अब विरक्त होकर जा रहे हैं गुरुचरणोंमें, वहाँ आत्मसाधना करेंगे तो वह नवयुवक बोला—रुको हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं। अरे ऐसा न करो, पहले सब व्यवस्था तो कर दो। अरे जिसे छोड़ना ही है उसकी क्या व्यवस्था करना ? चल दिया। आगे वह बालक खेलता हुआ मिला। वे दोनों बोले—हम दोनों तो विरक्त होकर जा रहे गुरु चरणोंमें तो इतना सुनकर ही उस बालकने गुल्ली डंडा फेंका और उनके साथ चल दिया। उन दोनों ने बहुत समझाया कि अरे तुम्हारी अभी सगाई हुई है, विवाह कर लो, कुछ वर्ष गृहस्थीमें रह लो फिर साथ चलना। तो वह बालक बोला—अरे जिस कीचड़को छोड़ना ही है उसे लपेटने

की क्या जरूरत ? बस साथ चल दिया ।

(१३४) **शान्तिके उपायका पूरक व्यवहार**— भाई अगर शान्ति चाहते हो, एक आदर्श बनना चाहते हो, अपने जीवनको बड़ा संतुष्ट रखना चाहते हो तो देखो गुणग्राही बनो और अन्यायको तजनेका संकल्प बनाओ । अन्याय क्या ? कोई घर पर अन्याय करते हैं उसे न करें, जो समाजमें अन्याय करते उसे न करें । न्यायके प्रेमी बने । अन्यायके साथी मत बनो । एक गुण तो यह होना चाहिए जीवनमें अगर जीवनमें सुखसे रहना चाहते हो तो । भाव तो होना ही चाहिए । जितना कर सकें करें, मगर परिणाम यह होना चाहिए कि हम अनीतिकी बात पाप की बात, देव, शास्त्र, गुरुके द्रोहकी बात यह हम पसंद न करें, इस तरहसे एक शुद्ध मन बनाकर चलो और गुणग्राही बनो । कोई पंडित जन आयें, त्यागीजन आयें, कोई पुरुष आये उनमें क्या गुण है । सबमें कोई न कोई गुण मिलेगा भिखारियोंको जो इधर उधर फिरते देखते हैं उनको भी तुच्छ मानना योग्य नहीं, अरे उनमें भी कहीं कोई गुण ऐसा मिल जाय कि जो हम आपके भी न हो । तो यहां इस प्रसंगमें जीवकी योग्यतासे विकार होता है यह वाक्य है निश्चयनयका और निमित्त पाकर उनके विकार होता है यह वचन है व्यवहारनयका । यह व्यवहारनय उपचरित वाला नहीं है, जिसे कि झूठ कहते, झूठ इसमें एक भी नहीं है । उपचरित वाला व्यवहार झूठ होता है जो एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमें मिलाकर कहता है । यहां एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमें मिलाकर नहीं कही जा रही व्यवहारनयमें । साफ स्पष्ट बताया जा रहा है कि कर्मविपाकका सन्निधान पाकर जीव अपनी परिणतिसे विकारभावको प्राप्त होता है । घटना बताया कि एक द्रव्यकी बात दूसरे द्रव्यमें नहीं मिलाई गई इसलिए उपचार नहीं है । यह प्रमाणांशरूप व्यवहार है । तो ये दो वचन हैं निश्चय वचन और व्यवहार वचन । अगर निश्चय निरपेक्ष व्यवहार कहो तो झूठ, व्यवहार निरपेक्ष निश्चय कहो तो झूठ । बात दोनों ही समझना होगा, तब दोनों ही सत्य है । फिर करना क्या है ? करना यह है कि भाई व्यवहार जरा बहुमुखी होता है, बहुमुखीसे निवृत्त हुए, निश्चयनयपर आये । निश्चयनय भी विकल्पात्मक होता है, फिर निश्चयनयसे भी हटे, स्वके अनुभवमें आये यह है पद्धति अपने मोक्षमार्गमें प्रगति करनेकी । अब क्या प्रयोग करना चाहिए ? यह बात है सबकी अपनी अपनी योग्यताकी ।

(१३५) **आचार्य संतोंकी वाणीकी सर्वहितरूपता**— आचार्य संतोंने सब जीवोंपर करुणा भाव दिखाया है । चांडाल जो मांसके बिना रह नहीं सकता तो उसको आचार्योंने यह नहीं कहा कि शुद्ध ब्रह्म हो, कथा समाप्त । बस धीरे धीरे उसे छुड़ाया । तू मांसका परित्याग कर । ···महाराज हमसे न बनेगा । ···अच्छा तो तुझे कौन सा मांस अधिक अच्छा लगता ? ···

कौवाका। …अच्छा तो तू उसीको छोड़ दे। वह उसपर दृढ़ रहा। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार उपदेश भरे पड़े हुए हैं और इसी तरह वे बढ़ते हैं, चलते हैं तो निश्चयनय की बातसे वे समझते हैं। निश्चयनयका वचन ठीक है, लाभदायक है, हितकारी है, और उस के बाद स्वानुभवका नम्बर आता है। इतना सब होनेपर भी जैसे कुत्तोंको कोई लाइलोनकी साड़ी पहिना दे, चटाईका लहँगा, रेशमकी साड़ी, तो वह कुछ निश्चयनय है तो उत्तम मगर निश्चयनयको पचानेका, निश्चयनयका ग्रास्य करनेका अधिकार भी तो होना चाहिये। अन्यथा बनारसीदासका ही एक पद है—करनीका रस मिट गया, भयो नहिं आतम स्वाद भई बनारसिकी दशा यथा ऊँटका पाद। याने करनी तो छोड़ दी और आत्माका स्वाद मिल नहीं पाया, इसमें बनारसीदास कहते कि इस तरह मैं रहा ऊँटका पाद। ऊँटके ५ पाद (पैर) होते हैं। ४ तो बड़े पैर होते हैं और एक छोटा सा पैर छातीमें होता है जो कि ऊपर टँगा रहता है, जो कि किसी मतलबका नहीं। तो मतलब यह है कि बात सब ठीक है, समझ लें, आस्था करें मगर जब प्रयोगमें चलते हैं तब पता पड़ता है। जैसे एक रोटी बनाने की ही बात ले लो, बात तो सब लोग कर लेंगे, इस तरहसे आटा गूमो, इस तरहसे बेलो, इस तरहसे बेलो, इस तरहसे परथन बनाओ, इस तरहसे बेल बेलकर तवामें डाल दो, फिर उसे आगपर सेंक लो, यों कहनेमें क्या है, शब्दोंसे तो जो चाहे बोल दे पर जरा करके तो दिखाओ, रोटी बनानेमें आफत पड़ जायगी। ऐसे ही हारमोनियम बजाने वालेको देखकर लोग सोचते हैं कि यह तो मामूली काम है, जरा अंगुलियोंको इधर उधर घुमाते रहो बन जायगा लेकिन जरा ऐसा कहने वाले लोग बजाकर तो दिखाये। तो जो प्रयोगसाध्य बात है वह केवल बातोंसे नहीं पूरी होती, उसे तो जब प्रयोगात्मकरूपसे करो तब उसका सही पता पड़ता है कि उसमें कितनी बाधायें आती हैं।

(१३६) **यथोचित व्यवहारसाधनमें गुजरते हुए निश्चयकी आराधना कर्तव्य**—अब हमें क्या करना चाहिए, किस तरह रहना चाहिए? तो भाई निश्चयनय, व्यवहारनय दोनों का त्याग मत करें। समयसारमें बताया है 'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तित्थं'। अगर जैन सिद्धान्तकी बात समझना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनयको मत छोड़ो। व्यवहार छोड़ दोगे तो तीर्थ मिट जायगा। तीर्थ मिटनेका भी पाप लगता है। जैसे मानो कोई भावुकतामें आकर दिगम्बर परम्पराको मिटा दे तो आगे जो करोड़ों अरबोंकी संख्यामें संतान होंगे उन सबके अकल्याणका पाप लगता है। यह है उसका फल, और अगर निश्चयको छोड़ देंगे तो तत्त्व मिट जायगा। अगर निश्चयनयकी बात चित्तमें न ला सकें तो फिर हमने किया क्या? तो दोनो ही बातें देखना है।

हाँ तो नैमित्तिक है विकार और यह कहना उसका सत्य है जिसके निश्चयको यह समझ रखा हो कि जीवकी परिणति है यह और जीवकी परिणतिसे ही हो रहा है विकार। अच्छा, और जीवकी परिणतिसे योग्यतासे ही होता है विकार। कहना उसका सत्य है जिसने यह परखा कि कर्म विपाकका सन्निधान पाकर जीवकी योग्यतासे होता है यह विकार। देखो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका तीनकाल भी कर्ता नहीं होता। तो दूसरेकी परिणतिसे परिणम नहीं सकता, सभी पदार्थ अपनी परिणतिसे अपने ही स्वरूपमें परिणमते हैं, ऐसा जो जानता है वह समझता है कि केवल अपनी ही योग्यतासे होते हुए तो स्वप्रत्ययक कहलाया ना। परका तो नाम भी नहीं है, तो जानते हैं कि आपके जो स्वप्रत्यय परिणमन होता है वह कहलाता है स्वभाव परिणमन। तो क्या योग्यता मात्रसे हुए विकार स्वभाव परिणमन हैं ? नहीं हैं। विभाव है। क्यों विभाव है कि पर उपाधिका संग पाकर हुए। कैसा परस्पर मैत्रीभाव रहता है दोनोंका कि एकको छोड़कर एक जाय तो उसका नाश हो। दोनोको छोड़कर निश्चय चले तो निश्चयका नाश हो, निश्चयको छोड़कर व्यवहार चले तो व्यवहारका नाश हो, ऐसी परस्पर मैत्री है। जिसे अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्धि उपायमें बताया है कि जो स्वपर प्रत्ययक परिणमन होगा वह शुद्ध ही होगा, किन्तु उसके विपरीतमें अगर कोई विकार परिणमन है तो यह निश्चित है कि वह स्वपर प्रत्ययक होता है। जैन सिद्धान्तमें सर्वत्र ये शब्द आयेंगे तो इसमें निमित्त परसंग ही है। इस कारण जीवविकार नैमित्तिक है। जीवविकार योग्यता जन्य है। दोनो ही अपने अपने ठीक चल रहे हैं।

—•—

(३०)

(१३७) **निमित्तनैमित्तिकभाव व विषयविषयिभावका विश्लेषणमें विकारभावकी घटनामें वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिकभावके अविरोधका दर्शन**—इसमें बतला रहे हैं निमित्त नैमित्तिक भाव व विषयविषयी भाव। दो प्रकरण हैं इसके अन्दर। अर्थ क्या हुआ ? विषय विषयीभाव तो होता है ज्ञायकके प्रसंगमें और निमित्तनैमित्तिक भाव होता है कारकके प्रसंगमें। अभी बतलाते हैं, जैसे जीवमें कषाय हुई इसका विधान है निमित्तनैमित्तिक भाव और हमने यह सब जान लिया यह कहलाया विषयविषयी भाव। इसे विषयविषयी भावको जाननेमें कार्यकारणपना नहीं होता और निमित्तनैमित्तिक भावमें कार्यकारणपना होता है। अष्टसहस्री ग्रन्थमें समन्तभद्राचार्यने, आप्तमीमांसामें इसका दार्शनिक विधिसे बड़ा विस्तार

दिया है। तो अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्तके सन्निधानमें अनुरूप विकार परिणमन करता है यह तो हुआ निमित्तनैमित्तिक भावका अर्थ। इसी विधानसे कर सकते आये और इसी विधानसे कर सकते रहेंगे। यह है निमित्तनैमित्तिक भावकी बात। जो परिणमन जिस विधानसे होता वह परिणमन उसी विधानपूर्वक होता है। यह कभी न होगा कि कल तो रोटी आगपर सिकी और आज पानी पर सिक जाय। जैसा जो निमित्त नैमित्तिक भाव है वैसा उसी ढंगसे होगा, फिर भी वहाँ यह निरखते रहना चाहिए कि निमित्तका कोई अंश उपादान में नहीं गया। किन्तु उपादानमें ही ऐसी योग्यता हैं कि ऐसे निमित्तका सान्निध्य पाकर वह इस प्रकार परिणम जायगा। एक मोटा दृष्टान्त लो। हम तखत पर इस तरह बैठ गए तो यहाँ क्या कहेंगे? क्या यह कहेंगे कि तखतने बैठा दिया या यह कहेंगे कि हम अपने आप आकर बैठ गए? बात क्या हुई कि इस तखतका आश्रय कर हम ही अपनी परिणतिसे अपने ही पुरुषार्थसे अपने आपमें इस तरह बैठ गए। एक मोटा दृष्टान्त कह रहे। निमित्तका कुछ अंश उपादानमें नहीं गया, फिर भी निमित्तके सन्निधान बिना उपादानमें यह विकार नहीं होता। तो दोनों बातोंका यथार्थ निरखें तो कहलाता है ज्ञानबल और जो पक्षपात रखता हो किसी प्रकारका। दोनोंकी ही बात कह रहे हैं, भाई कहीं निमित्तनैमित्तिकभाव मिट न जाय इसलिए डंकेकी चोटमें बोलो कि वस्तुस्वातंत्र्य कुछ नहीं है, जैसा निमित्त हुआ वैसा काम होता है तो यह है उसके ज्ञानकी कमजोरी। और कोई यों कह बैठे इस डरसे कि वस्तुस्वातंत्र्य कहीं मिट न जाय इसलिए यह कह देते कि निमित्त नैमित्तिक कुछ नहीं होता। यह भी उसके ज्ञानकी कमजोरी है। विशिष्ट ज्ञानबल उसका है जिससे दोनों बातें साफ साफ नजर आयें कि इस जगतके सारे परिणमनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव है और वस्तुस्वातंत्र्य भी अमिट है। तो जो निमित्त नैमित्तिक भावका वर्णन किया यह है विकार परिणमनकी बात।

(१३८) **ज्ञान और ज्ञेयमें मात्र विषयविषयिसम्बन्ध**—अब देखिये ज्ञानपरिणमन, शुद्धपरिणमन जो ज्ञान निरावरण हो गया वह अपनी सहज जाननवृत्तिसे अपना जानन परिणमन कर रहा है, जाननेमें तीन काल तीन लोकवर्ती सर्वपदार्थ आ गए। जैसा था, जैसा है जैसा होगा प्रतिबिम्बित होता है। यह विषय विषयी भाव है। यहाँ यह बात न सोचना कि जैसा जाना सो हो गया, जो होगा सो जाना। यहाँ पर विधान, अर्थात् जो जिस विधिसे होना था, हुआ है, होवेगा वह ज्ञानमें आ गया। ज्ञानमें आया। जब कि वह सत् है। तो यहां ज्ञान और ज्ञेयका मात्र विषय विषयी सम्बन्ध है अतः जो होगा वह ज्ञात हो, यह कह तो सकते मगर यह यौगिक नियम नहीं है। याने कार्य-कारण-विधान बता सकने वाला नहीं है। यह है फलित अर्थ। जो जाना सो होगा। यह फलित अर्थ है, फलित नियम है, यौगिक

नहीं, यह बात एक खास समझनेकी है, जो ज्ञात हो सो होगा, ऐसा फलित होने पर भी यह यौगिक नियम नहीं बन जाता कि बस जैसा जान लिया सो हो गया। वहां तो जिस विधि से प्रतिक्षण निमित्त सन्निधान पाकर होनेकी बात होती जायगी उस होते हुएको जान लिया। क्या जान लिया ? वह तो ज्ञानकी स्वच्छताका फल है। तो जो आत्मार्थी पुरुष है उसको आत्मतत्त्वके आश्रयका पौरुष करना चाहिए, इस विवादमें क्यों पड़ते ? देखो बौद्ध लोगोंने अप्रयोजक बातोंको अव्याकृत कह डाला याने जो अप्रयोजक बातें हैं, उनको बंद करें, अपना काम करें। अपना काम क्या है ? हर सूरतमें आखिर अंतस्तत्त्वका आश्रय करके अपने आप का जो स्वभाव है उसकी दृष्टि करें, तन्मात्र अपना अनुभव करें। सब काम बनेगा। कैसे बनेगा यह काम ? एक बार जमकर रह जावो कि मुझे तो सहज ज्ञानस्वभावमें रहना है, अन्य किसी भी प्रकारका बाहरी विकल्प नहीं करना है।

—०—

(३१)

(१३९) **वस्तुस्वातंत्र्यके परिचयका व निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका आत्मार्थी-पर प्रभाव**—ऊपर वाले निबंधमें यह बताया था कि जीव विकार नैमित्तिक है, तिसपर भी उपादान और निमित्त दोनों पदार्थोंकी स्वतंत्रता है, याने निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तु स्वातंत्र्य इन दोनोंका वस्तुमें अविरोध है। अच्छा तो उनके माननेसे हमको क्या शिक्षा मिलती है तो सुनो, जहाँ यह समझा कि जीव विकार यद्यपि नैमित्तिक है, लेकिन जीव विकार रूप परिणमता तो जीव ही है। निमित्तभूत कर्म जीव विकार रूप नहीं परिणमता। याने वस्तु स्वातंत्र्य परखा जा रहा है, तो ऐसा वस्तु स्वातंत्र्य निरखनेपर जीव विकारसे हटनेकी शूरता प्रकट होती है। मैंने ही तो किया। मैं ही इसे मिटा दूंगा। खुदने किया, खुद ही मिटायगा। जैसे जब बच्चे लोग रेतीली जमीनपर अपने पैरोंमें रेत बिछा देते हैं और उसे थपथपाकर धीरे से पैर निकालकर एक घरबूला बना देते हैं और थोड़ी देरमें अपना दिल भर कर वहीं खुशी खुशीसे मिटाकर अपने अपने घर चले जाते हैं, ठीक ऐसे ही हमने ही तो यह विकार रूप परिणमन किया और खुद विकार परिणमन कर करके हमने अपनेको बरबाद किया। अब हम ही अपने ज्ञानबलसे इन विकारोंको समाप्त कर देंगे, ऐसा एक शौर्य प्रकट होता है। अच्छा, और निमित्त नैमित्तिक भाव माननेसे क्या असर होता है ? जाना कि ये जीव विकार नैमित्तिक हैं, मेरे गाँठकी चीज नहीं है, मेरे स्वरूप नहीं तो बात वही है कि यहाँ फिर कायरता

नहीं ठहरती, शौर्य ही प्रकट होता है, तो ऐसा मान लीजिए कि ये कर्म ही जीव विकारको करते है। मेरा वश क्या रहा। इनकी जब तक दम है तब तक होंगे, मेरे वहाँ क्या कायरता प्रकट हो जाती कि हम किसी लायक नहीं, हम कुछ नहीं कर सकते। तो वस्तु स्वतंत्र है, ऐसा जानकर शूरता प्रकट होती है और निमित्त नैमित्तिक भाव है, ऐसा जानकर विश्वास बनता है कि इस जीव विकारसे मैं हट सकता हूं। इस प्रकार निमित्तनैमित्तिक भाव और वस्तु स्वा॰ तंत्र्य इनको अविरोधरूपसे समझनेमें एक डबल काम बनता है। विकारसे उपेक्षा होना, जब यह समझमें आता कि जीव विकार नैमित्तिक है तो इस निर्णयके प्रसादसे आत्महित चाहने वाले जीव इन विकारोंसे उपेक्षा सुगमतया कर लेते हैं और आत्मस्वभावकी अवस्थामें रहने लगते हैं, ये नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो यह चैतन्यमात्र है। तो विकारको दूर करनेका वह ज्ञान परिणमन करता है ऐसी क्रूरता प्रकट करता है। दोनों बातें सही समझ लेनेमें सन्मार्गका लाभ है। विकारसे हटना है और स्वभावका आश्रय करना है, ये दोनों बातें चाहिए। तो ये दोनों बातें इन दोनोंकी समझसे प्राप्त हो जाती हैं।

—०—

(३२)

(१४०) **पांच विभावतंत्रोंका निर्देश**—विभाव कैसे उत्पन्न होते हैं? क्या हुआ, फिर क्या हुआ कि एक विकट विकारका रूप बन जाता है। इस बातको समझनेके लिए ५ बातें जाननी हैं। इन ५ को समझ लीजिए विभावतंत्र याने विभाव होनेका उपाय। वे ५ बातें कौन हैं? कर्मविपाक याने जो पहले बांधे हुए कर्म हैं उन कर्मोंका विपाक उदय होना, दूसरा है कर्मविपाक प्रतिपादन। जब कर्मविपाक होता है तो इस उपयोगमें उसका प्रतिफलन होता ही है। जो हुआ उसकी झांकी प्रतिफलन। उसके द्वारा ज्ञानस्वभावका तिरस्कार, ये बातें बनती हैं, और जहाँ कर्मविपाकका प्रतिफलन हुआ कि इस उपयोगकी कुछ गहराई बन जाती है। इसीको कहते हैं कर्मविपाक प्रतिफलनसे सम्पर्क होना। यह ही सम्पर्क तो है इस बहिरंग निमित्तमें उपयोग जोड़नेका कारण। यद्यपि यह सम्पर्क बुद्धिपूर्वक नहीं है याने उनका आश्रय करके नहीं है पर जैसे अजीव अजीव निमित्त उपादानमें सम्पर्क होता है, चिपकाव होता है ऐसे ही प्रतिफलनके होते ही यह सम्पर्क बना और जैसे ही वह विपाक प्रतिफलनका सम्पर्क बना तो इन बाहरी पदार्थोंमें जीवका उपयोग जुड़ने लगा। नोकर्ममें जीवका उपयोग जुड़ा तब इसने उपयोगमें विकारको आत्मसात किया। यह मैं हूं और उस विकारके अनुसार यह

जीव चलने लगा तो इन ५ विभावतंत्रोंका यों प्रयोग हुआ।

(१४१) पांच विभावतंत्रोंके प्रक्षयकी रीति—अब उक्त तंत्रोंको लौटा लीजिए। देखो उत्तर उत्तरके नष्ट होनेपर पूर्व पूर्व नष्ट हो ही जाता है। जीव ज्ञानबलसे जैसे विकारको आत्मसात नहीं करता तो जब विकारको अपनाया नहीं, आत्मसात् किया नहीं तो फिर नो कर्म में, बहिरंग निमित्तमें उपयोग जोड़नेकी बात कब तक निभेगी? वह भी दूर होगी। और जैसे ही नोकर्ममें उपयोगका जोड़ना समाप्त हो गया तो कर्मोदयके प्रतिफलनका सम्पर्क नहीं बनेगा। सम्पर्क मिटा कि प्रतिफलन मिटा प्रतिफलन मिटा तो कर्मविपाक मिटा। इस में कुछ बिलम्ब लगा इस तरहके मिटनेमें, पर जहाँ जड़ ही खो दिया वहाँ वृक्ष फिर कैसे हरा भरा रहेगा। जड़ थी मोह ममता। जब मोह ममताको ही मिटा दिया तो फिर उसका अन्यसे सम्बन्ध ही क्या? तो यों जब यह उदय विपाक दूर हो जाता है तो वहाँ एक आत्मा में विकट शौर्य प्रकट होता है। जिस शौर्यका निमित्त पाकर समस्त घातिया व अन्य प्रकृ-तियाँ नष्ट हो जाती हैं। भला होनेका साधन है स्वभावका आश्रय करना। पश्चात् जब ये कर्म प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं तो बाकी बची हुई कर्मप्रकृतियोंमें भी अब अनुभाग न रहा। हीन हो गया। तब यह कहलाता है क्षीणमोह और इस तरह यह कर्मविपाक स्वयं अपने आप समाप्त हो जाता है। चर्चा क्या चल रही है अपनी कि हम दुःख कैसे पाते हैं? कर्म करते हैं खोटे और उसके फलमें दुःख पाते हैं। अगर दुःखसे दूर होना है तो हमें कर्म या खोटे कर्म न करना चाहिए। वे खोटे कर्म क्या हैं? तो उनको ५ विभागोंमें रख लो। मोह मिथ्यात्व एक ही बात और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह न रहे, कषायें न रहें उसको ही तो भगवान कहते हैं। यदि सुख शान्ति चाहिये हो तो कषायोंसे बचो। ममतासे हटो, और न्यायप्रिय बनो। इन कषाय भावोंसे दुःख सबको होता है, सब पर बीतते हैं, दुःखी होते जाते हैं, पर मोह ऐसा साथ लगा है कि जिन बातोंसे दुःखी होते हैं उन ही बातोंकी हठ बनी रहती है। तब फिर ज्ञान कहाँ रहा? ज्ञान केवल बोलनेमें ही रहा। कर्तव्यमें या प्रयोगमें नहीं रह पाता। तो प्रथम कर्तव्य है कि मोह दूर करें। जगतके सभी जीवोंका स्व-रूप अपने स्वरूपके समान मानें। यदि ऐसी दृष्टि बन जायगी तो मोह दूर हो जायगा और मोह दूर हुआ कि कषायोंमें फर्क आ जायगा। कषायोंको प्रबल बनाने वाला है कौन? मोह भाव। तो मोहभाव समाप्त हुआ कि कषाय बल न रहेगा। कषायबल दूर हो गया तो शान्ति बढ़ेगी। इसका मूल उपाय है कि मोह मत करो, ज्ञाता दृष्टा रहो। सबके जाननहार रहो। जो कुछ जहाँ है उसको समझते रहो।

भैया! मोहसे बरबादी है। मोह है क्या? पहला मोह तो पर्यायका है। यह

शरीर मैं नहीं हूं, शरीरमें ममता नही है ऐसा कहना तो झट बन जायगा, किन्तु जब शरीर पर कुछ बात गुजरेगी तब पता पड़ेगा कि इस शरीरसे मोह है कि नहीं। शरीरमें मोह हैं तो सारे दुःख हैं। अपने को मानते हैं कि मेरा सम्मान हो। यह तो अपमान हुआ। शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेसे ये सारे दुःख बढ़ने लगते हैं। जितने भी क्लेश हैं वे सब शरीरके साथ बनते है। दुःखी होते तो विकल्पके क्लेशसे होते हैं। शरीरके क्लेशसे नहीं होते, पर विकल्प रूप क्लेशोंके होनेमें शरीरका सम्पर्क कितना सहयोगी है सो ध्यानमें लाइयेगा। शरीरकी ममता पहले छोड़ो। शरीरकी ममता छूटेगी तो ज्ञानबल बढ़ेगा। शरीर, शरीर है, मैं आत्मा ज्ञानमय हूं, ऐसा जब तक दृढ़ निर्णय न होगा तब तक शरीरकी ममता नहीं छूट सकती। और यह ममता ही सर्व दुःखोंकी जड़ है। तभी मिथ्यात्वके स्वरूपमें यह ही लिखा है कि "देह जीवको एक गिने बहिरामतत्त्व मुधा है।" जो शरीर और जीवको एक मानता है वह मूढ़ है, अज्ञानी है। इससे शरीरमें ममता न रहे, इज्जतकी, प्रतिष्ठाकी, नामवरीकी। तो क्या करना? अपने स्वरूपका अभ्यास करना। स्वरूपका अभ्यास करनेके लिए क्या करना? जो मंगल-तंत्रमें तीन वाक्य बोलते हैं उन्हींका मनन करना। तो सर्व दुःखोंकी जड़ शरीर है। जिसपर लोगोंको गर्व रहा करता है। मेरी बात न बनी, ऐसा आग्रह किसके हैं? जिसके शरीरमें आत्मबुद्धि है। तो देहमें आत्मबुद्धि न करें तो मिथ्यात्व हटे। मिथ्यात्व हटे तो ये कषायें दूर हों। हाँ तो पहला पौरुष क्या करना? विकारोंको मत मानें कि ये मेरे हैं, मैं हूं। मोह आये तो उसे बुरा मानें, रागद्वेष आये तो उसे बुरा समझें, उससे हटें। तो जैसे ही हटे वैसे ही उत्तरोत्तर काम बनकर यह अवस्था हो जायगी कि उसके साथ कर्मविपाक भी न रहेगा। इससे ज्ञानबलसे अपने आत्माकी आराधना करो। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हूं।

(१४२) अपने स्वरूपकी संभालसे सर्व आधि व्याधि उपाधियोंका विनाश—भैया! क्या काम करना कर्मोंका विध्वंस करने के लिए? पहला काम यह है कि यह भेदविज्ञान बनावें कि जो मुझमें विकार आते हैं खोटे परिणाम आते हैं वे मेरी चीज नहीं हैं, वे कर्मकी छाया हैं। मैं इनमें लगाव न रखूँगा। पहला पौरुष यह करना है, इस पुरुषार्थके प्रतापसे क्या होगा कि उत्तरोत्तर जो जो काम होते थे कर्मविध्वंस हो जायेंगे। बुद्धिपूर्वक हम क्या कर सकते? यह ही कि अपने आपको सुरक्षित और निर्मल समझते रहें। जो प्रयोग कर सकता है समझो वह ज्ञानी है और जो केवल बात करता है, प्रयोग नहीं कर सकता उसे अतिशय कहाँसे प्रकट हो? एक लकड़हारा था तो वह ऐसे ही पहुंच गया शास्त्रसभामें, कोई जैन विद्वान शास्त्रप्रवचन कर रहा था। चर्चा आयी ५ पापोंके त्यागकी। तो उस लकड़हारे

के मनमें आया कि मुझे ये पाँचों पाप छोड़ देने चाहियें। तो क्या सोचता है वह कि देखो मैं और कोई हिंसा तो करता नहीं, हाँ कभी कभी ये हरे भरे पेड़ काट डालता हूं तो चलो अब मैं यह हिंसा भी कभी न करूँगा। अब मैं सूखी लकड़ियाँ ही तोड़कर लाऊँगा और उन्हें बेचकर अपना काम चलाऊँगा, और मैं झूठ क्या बोलता कि लाता तो हूं ८ आनेकी लकड़ियाँ और बोल देता हूं १२ आने। तो अब मैं यह झूठ भी न बोलूंगा ८ आनेकी लकड़ियाँ लाऊँगा और ८ आने ही कहूंगा। और, चोरी मैं क्या करता कि रास्तेमें चुंगी पड़ती है तो उसमें मैं टैक्सके २ पैसे बचा लिया करता हूं तो यह चोरी भी मैं अब न करूँगा। और कुशीलके बारेमें सोचा कि मैं कुशील तो कुछ करता नहीं, स्वदार संतोष वृत्तिसे रहता हूं, लेकिन अब मैं यह नियम करता हूं कि अपनी स्त्रीसे भी ब्रह्मचर्य रखूंगा। और परिग्रह परिमाणकी भी बात सोच ली—अब मैं जो कुछ भी कमाई करूंगा उसका एक हिस्सा धर्ममें, एक हिस्सा काम काज अवसरके लिए, दो हिस्सा पालन-पोषणके लिए रखूंगा। अब वह लकड़हारा ८ आनेकी लकड़ियाँ सिरपर लादे चला जा रहा था कि एक बड़े सेठ की ५ खण्डकी हवेलीके नीचेसे गुजरा, वहाँ लकड़ियाँ न थीं चूल्हेके लिए, तो रसोइयेने आकर पुकारा—ऐ लकड़ी वाले, लकड़ी बेचोगे....हाँ हाँ बेचेंगे। ....कितनेमें दोगे ? ....८ आनेमें। ...क्या ५ आने लोगे ? ....नहीं। ...६ आने लोगे ? ...नहीं। फिर कितने लोगे ? ...८ आने ही लेंगे। ....अच्छा ७ आने लोगे ? ...नहीं, यह कहकर चल दिया। ....अच्छा भाई लौट आवो। तो भैया इसका अर्थ यही हुआ ना कि ८ आनेकी ही लेंगे। लेकिन रसोइया फिर बोला—अच्छा साढ़े सात आने लोगे ? तो लकड़हारा झुंझलाकर बोला—अरे तू किस बेईमानका नौकर है ? अब यह बात सुन ली ऊपर खड़े हुए सेठने। सेठने लकड़हारेको बुलाया और पूछा कि तुम इस तरहसे क्यों कहते—तू किस बेईमान का नौकर है ? तो वह लकड़हारा बोला कि देखो जब हम ८ आने ही कह रहे थे, इसने ७ आने लगाया और हम चल दिए, और फिर यह बोला कि अच्छा भाई लौट आवो तो इसका अर्थ यही हुआ ना कि हमें ८ आनेकी मंजूर है, पर यह वहाँ कहता कि क्या साढ़े सात आने लोगे ? और, सुनो सेठ जी—हमने नियम लिया है एक शास्त्रसभामें, जिसमें आप रोज जाते और इस तरहसे ५ पापोंका त्याग किया, तो यह कथा जब सेठने सुनी तो उस लकड़हारेका सेठने बड़ा सत्कार किया और, माफी माँगी, और कहा कि तुम सचमुचमें होनहार हो। इस में अमीरी और गरीबीका कुछ हिसाब नहीं है। स्वयं अपने आपके परिणामोंको सम्हालकर रखे कोई तो उसको संसारमें आपत्ति नहीं, और वह संसारमें रुलेगा भी नहीं। तो सर्वप्रथम पुरुषार्थ क्या करना कि जो विकार होते हैं उनको पहलेसे ही हटा दें। तुम मेरे स्वरूप नहीं हो। ऐसे स्वरूपकी भक्तिके प्रसादसे जन्म-जन्मके बाँधे हुए कर्म दूर हो जाते हैं।

(३३)

(१४३) **स्वपरैकत्वाध्यास, अध्यवसान, आस्रवभाव, कर्म, शरीर व संसरण इनकी उत्तरोत्तर हेतुभूतता**—यह जगत क्या है ? जो कुछ समझमें आ रहा वह क्या है ? जो बीत रही वह क्या है ? यह सब कहलाता है संसरण। संसरणका अर्थ परिभ्रमण और भटकना। यह सब भटकना है चारों गतियोंमें संसरण हो रहा, कषायोंमें संसरण हो रहा। इसका कारण क्या है ? शरीर। यों लगाव, शरीरके माध्यमसे ही तो संसरण चलता है, नहीं तो कषायोंको कौन जाने ? शरीरके साथ सम्पर्क है, शरीरमें आत्मबुद्धि है, तो कषायोंमें भी बुद्धि चल रही है। संसारमें संसरण होता है, इसका हेतु है शरीर। और शरीर मिलता है इसका हेतु है कर्म। कर्ममें चार घातिया हैं, चार अघातिया हैं। घातिया न हों तो अघातिया क्या करें। घातिया करते हैं आत्मगुणोंका घात और अघातिया करते हैं आत्मगुणोंका घात होनेमें सहायक सामग्रीका सहयोग। जैसे एक लड़केको दूसरा लड़का पीट रहा है, अब पिटने वाले का मित्र एक बालक आया तो उसने पीटने वालेका हाथ पकड़ लिया तो बताओ पीटा किसने एकने और दूसरेने उसको पिटानेमें मदद दी। घातिया कर्म तो साक्षात् गुणका घात करते हैं और अघातिया गुणोंके घात होते जायें इसके लिए बाह्य सहायक बातें बनती हैं। घातिया कर्म तो गुणका घात करता है और शरीर निर्माण आदिका हेतु है अघातिया कर्म। लेकिन केवल अघातिया यह कार्य न कर पायेंगे। जहाँ घातियाका सम्बन्ध है वहाँ ही अघातिया अपना बल दिखाते हैं, तो शरीरका कारण हुआ कर्म, और कर्मका कारण है आस्रवभाव। रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक जो विकार हैं वे कहलाते हैं आस्रवभाव। और आस्रव भाव हेतु है कर्मबन्धका और आस्रवभावका कारण क्या है ? अध्यवसान। एक गलत बुद्धि की जो प्रवृत्ति है उसका नाम है अध्यवसान। इसे कषाय कहें, मिथ्यात्व कहें। बुद्धिकी जो प्रवृत्ति है उसका नाम है अध्यवसान, और जो बुद्धि है, कुबुद्धि है, जिसे कहते हैं स्व और परमें एकत्वका अध्यास है, वह कहलाता है स्वपरैकत्वाध्यास। तो आस्रवभावका हेतु हुआ अध्यवसान और अध्यवसानका हेतु है स्व परमें एकत्वका अध्यास। तो देखो यह सिलसिला लगा है—सबका मूल क्या ? स्वपर एकत्वका अध्यास। यह नीचेसे हटे तो बाकी ऊपरके सब धीरे धीरे ढुलक जायेंगे। इसीलिए पुरुषार्थ बताया है स्व और परमें भेदविज्ञान करें, एकत्वका अध्यास मत करें। अब स्वपर एकत्वका अध्यास कैसे मिटेगा ? भेदविज्ञानसे। जैसे अंधकार और प्रकाश एक जगह नहीं ठहर पाते ऐसे ही भेदविज्ञान और स्वपर एकत्वाध्यास ये दोनों भी एक भावमें ठहर नहीं पाते।

(१४४) **स्वपरभेदविज्ञानबलसे स्वपरैकत्वाध्यासके दूर होते ही अध्यवसान, आस्रव**

भाव, कर्म, शरीर व संसरण इनका उत्तरोत्तर प्रक्षय—स्वपर एकत्वका अध्यास मिटता है स्वपर भेदविज्ञानसे। कैसा भेदविज्ञान कि यह जो सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। जहाँ स्व तो है चैतन्यशक्ति मात्र सहज आत्मस्वरूप। जानने वाला क्या है? आत्मा। परभाव याने चैतन्यशक्तिसे अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सब परभाव हैं। उन परभावोंमें और इस सहज आत्मस्वरूपमें जो अन्तर जाना जाता है वह कहलाता है स्वपर भेदविज्ञान। जहाँ यह अन्तर्ज्ञान चल रहा है वहाँ स्वपर एकत्वका अध्यास नहीं चल रहा। तो स्वपरभेदविज्ञानसे मिटता है स्वपरैकत्वाध्यास। उसके मिटनेसे मिटता है अध्यवसान। उसके मिटनेसे मिटता है आस्रवभाव। आस्रवभाव न हो तो कर्म बंधते। कर्म न हों तो शरीर नहीं होता, शरीर न हो तो संसरण नहीं होता। तो मूलकी बात पकड़ो ना। स्व और परमें भेदविज्ञान जगाओ। देखो जिन्दगीमें सारे काम तो कर रहे हैं गृहस्थ जन, करें, आजीविका है, दुकान भी है, सब कुछ है। सब कुछ होते हुए भी बीच-बीचमें बस भेदविज्ञानकी भावना णमोकार मंत्रका स्मरण और जो भी समय पर आया—नम्रता करना, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति रखना यह सब होते रहना चाहिए। श्रावककी शोभा इसमें है। जहाँ निर्ग्रन्थता है, निरारम्भता है, सर्व आकुलताके साधनोंसे हटे हुए हैं, ऐसे योगी संतोंको केवल एक चैतन्यस्वरूपकी उपासनाकी ही बात कही जाती है, और जिसके घर है, दौलत है, परिवार, दुकान, फर्म आदिक सब लगे हुए हैं ऐसे राग वाले जीवको देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, ऐसी सद्वृत्तियों से उसे अपना मार्ग बढ़ाना चाहिए। हाँ तो मूलमें बात क्या आयी कि स्वपर भेदविज्ञान करें तो सारे संकट दूर हो जायेंगे। स्वपर एकत्वका विनाश होता है स्वपर भेदविज्ञानसे। अब यह परखें कि स्वपर भेदविज्ञान हो गया है क्या मुझे, इसका प्रमाण क्या है? तो इसका प्रमाण है शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि। और इस आत्मतत्त्वकी धुन बनना इस ही आत्मस्वरूपकी दृष्टि होना, ये हैं स्वपर भेदविज्ञान हो जानेके चिन्ह। अपने अन्तरात्मासे सारी गवाही ले लो। दूसरेसे पूछनेकी जरूरत नहीं। तो इस प्रकार सिद्धान्त आया कि कल्याणका मूल है, प्रारम्भ बनता है स्वपर भेदविज्ञानसे। देखो ज्ञान सही रहेगा तो संसार से निपटारा बन जायगा और ज्ञान ही बिगड़ कर रहे, वस्तुस्वातंत्र्यके विपरीत विकल्प करते रहें तो उससे आत्महितका मार्ग नहीं मिलता। कहीं न कहीं अटक बन जायगी। किसी न किसी विषयका आग्रह बन जायगा। जो शुद्ध आत्महितका अर्थी है उसे ऐसी बाधायें न होनी चाहिएँ।

—०—

(३४)

(१४५) **अखण्डके आत्मपदार्थमें विडम्बनाके प्रारंभका विवरण**—यह जो संसारकी विडम्बना लग गई सो कैसे लग गई ? जब अन्तरमें अपने स्वरूपको निहारा कि यह तो है एक अखण्ड निर्विकल्प ज्ञानस्वभाव और इसपर इतनी अधिक विडम्बना हो क्यों गई ? इसका आधार क्या ? तो देखो जिसको कहा गया यह आत्मतत्त्व अखण्ड है ज्ञायक स्वभाव, यह सर्व प्रपंचोंसे निराला है सहज स्वभाव । तो उसका काम क्या ? बस ऐसे ही रहा आये । लेकिन क्या कोई ऐसा ही रहा आयगा ? उसमें जानना न हो, कोई परिणतियाँ न उठें, कोई व्यापार न जगे, याने जानना न हो, क्या कोई ज्ञायक भाव ऐसा रहेगा ? न रहेगा । कुछ जानना तो होगा । अब देखो जानना बुराईके लिए नहीं होता, किन्तु यहाँ जानना बुराईके लिए हो गया । बात तो वह एक है जो एक साथ हो रहा है संसारमें, पर उसका विश्लेषण करें–यह मैं आत्मा अखण्ड एक ज्ञानस्वभावी हूं, सो पर्याय बिना तो नहीं रहता और पर्याय है उसका जानन तो जाना इसने, जहाँ जाननेकी बात आयी वहां दो बातें बन गईं कि नहीं—ज्ञाता और ज्ञेय । यद्यपि ज्ञाता ज्ञेय दो बात बननेसे बिगाड़ क्या ? लेकिन यहीं तक रहने वालेके लिए बिगाड़ तो नहीं, किन्तु जो आगे बहुत भटकनायें हैं, रुलना है उनके लिए एक यही ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयका भेद होना ही आफत बन गई । हुआ क्या कि ज्ञाता ज्ञेयका द्वैतभाव यह जानने वाला व यह जाननेमें आया, ये दो बातें जगी । देखिये—मलिनता यहाँसे ही साथ चल रही है, नहीं तो बिगाड़ क्यों चल रहा कि यह ज्ञेय मैं ज्ञात । अब इसके बाद आगेकी आफत देखो—जो ज्ञेय बना था समग्र वस्तु उस ज्ञेयमें अब स्वपरका आभास करने लगा । ज्ञेयमें यह स्व यह पर । स्व आभास, पर आभास, कितने ही आभास लगा लो । किसी न किसी रूपमें यह आभास बने कि यह मैं, यह दूसरा, यह मेरा, यह पराया, ऐसा स्वपर द्वैतका आभास हो और जैसे इन ज्ञेयोंमें स्वपरकी छांट हुई कि इष्ट अनिष्ट बुद्धि आ गई । जिसे माना स्व उसमें इष्ट बुद्धि हुई और जिसे माना पर उसमें हुई अनिष्ट बुद्धि । और यह बुद्धि जगी क्योंकि रागद्वेषका परिग्रह कर लिया । देखो ज्ञेयोंमें स्व और परका समझना ही विडम्बनाका मूल बन गया । निज स्व की बात नहीं कह रहे, ज्ञेय ज्ञेयोंमें यह स्व है, यह पर है इस प्रकारके आभाससे तो हुआ रागद्वेषका परिग्रह और जहां रागद्वेषका परिग्रह हुआ वहां हुआ इष्ट अनिष्टका अभिप्राय ।

(१४६) **ज्ञेयमें इष्टानिष्ट बुद्धि होते ही क्रियाकारक कल्पनासे प्रारंभ होकर संसार भ्रमण तककी विडम्बना**—जहाँ रागद्वेष इष्ट अनिष्ट की बात जगी कि इस जीवकी क्रिया कारककी कल्पना होने लगी । मैं करूँ, मैं कर दूंगा, मैंने किया । अब ये क्रियापर उतरे । अब तक यह भाव आया था । रागद्वेष का परिग्रह हुआ, इष्ट अनिष्ट का आश्रय हुआ, अब

यह मैदानमें उतर आया। मायने क्रिया कारककी कल्पना हो बैठी—मैं करने वाला, मैंने इसे किया, वहाँ क्रियाफल भोगनेका भाव साथ रहता है, नहीं तो करना करना क्यों मचाता उसमें कुछ रस आ रहा। उस क्रियाका फल भोगनेका मौज समझ रहा, तो क्रिया कारककी कल्पना होनेपर होता है क्रियाफल भोगनेका भाव। और जहाँ क्रियाफल भोगनेका भाव रहा वहाँ द्रव्य प्रत्ययमें नवीन कर्मबन्धका हेतुपना आ गया। देखो—प्रसिद्धि तो यह है कि नये कर्म बँधते हैं तो जीवके रागद्वेष भावका निमित्त पाकर बँधते हैं, पर सिद्धान्त असल में यह है कि कर्म जो बँधते हैं वे उदयमें आये हुए कर्मका निमित्त पाकर बँधते हैं, और उदयमें आये हुए कर्मका निमित्त पाकर कर्म और उदयमें आये हुए कर्ममें ऐसा निमित्त बँधे यों उदयागत द्रव्यप्रत्यय रूप कर्ममें ऐसा निमित्तपना आ जाय, उसका निमित्त होता है रागद्वेषभाव। तो बात तो रागद्वेषपर ही डट रही ना, इसलिए ग्रन्थोंमें सीधा बता दिया कि कर्मबन्धका हेतु है रागद्वेष मोहभाव। तो द्रव्यप्रत्ययमें कर्मबन्धका हेतुपना आया और फिर उससे कर्मबन्ध होने लगा। कर्मबन्ध हो तो कर्मविपाक भी होता। पहले बाँधा, अब उदयमें आ रहा। इस समय कितने ही जन्मोंके बांधे हुए कर्म हम आप भोग रहे हैं। क्या एक इस ही भवका? अरे पता नहीं कितने अनगिनते भवोंके बांधे हुए कर्म हम आप आज भोग रहे। तो आज जो हम कर्म बांधते हैं स्वतंत्र स्वच्छन्द होकर, तो वे यों ही न निपटेंगे। आगामी कालमें जब उसका उदय काल होगा उस वक्त इस जीवपर विडम्बना छा जायगी। हां कर्मविपाक होनेपर होता है कर्मविपाकका प्रतिफलन। जैसे इस जीवमें उपयोगमें उसकी छाया प्रतिफलन कुछ बात हुई जिससे कि ज्ञानका तिरस्कार हुआ तो कर्मविपाक प्रतिफलन होनेसे हुआ कर्मविपाकका संपर्क। फलन और सम्पर्कमें कितना अन्तर? जैसे कांचमें प्रतिबिम्ब आया, और दर्पणमें प्रतिबिम्ब आया, जिसमें मसाला नहीं लगा, ऐसा शुद्ध कांच जैसा कि रेलके डिब्बोंकी खिड़कियोंमें होता है, उस पारका खूब दिखता, मगर देखने वालेका चेहरा भी उसमें रहता कि नहीं? वह रहता है और लगे हुए लाल रंगका जहाँ जैसे उसी डिब्बेमें जब संडासको जाते तो पहले मूल कांच लगा हुआ वहाँ हो गया सम्पर्क। तो जब कर्मविपाकके प्रतिफलनका सम्पर्क हुआ कि बस शुद्ध स्वभावसे च्युत हो गया और शुद्ध स्वभावसे च्युत होनेका फल हुआ कि संसारके इन बहिरंग नोकर्म, उपचरित निमित्त इनमें उपयोग जुड़ने लगा। इन बाह्य निमित्तोंमें उपयोग जुड़ानेका फल हुआ कि विकारको हमने अपना डाला, आत्मसात् किया। उससे हुई पर्यायबुद्धि, उससे बना रागद्वेषका विस्तार। अब यह सामने आ गया, और उससे फिर संसार परिभ्रमण चला।

(१४७) बहिर्मुखतामें विडम्बना व अन्तर्मुखतामें विडम्बनाकी समाप्ति—यहाँ तक

बातें बतायी हैं सत्रह। यह सप्तदशयी संसारी जीवके सहज आनन्दका संहार करने वाली हैं। भेदविज्ञानके बलसे जो अन्तस्तत्त्वका लाभ लिया उस अंतस्तत्त्वकी दृष्टि करके जब यह जीव ज्ञानघन निज अंतस्तत्त्वमें मग्न होता है तब फिर ये सत्रह बातें, ये विडम्बनायें, ये विपत्तियाँ फिर कुछ नहीं ठहरतीं। शिक्षा क्या लेनी है? विडम्बनाकी मूल खतम कर दें। विडम्बनाका मूल क्या है? स्वपरमें एकत्वका अध्यास। वह खतम होगा स्वपर भेदविज्ञान से। और अधिकाधिक मनन करें, मैं ज्ञानमात्र हूं– 'एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय।' कोई कहे कि संसार परिभ्रमण हमारा समाप्त हो, इसके लिए एक-एक चीजको हम दिलसे हटायेंगे और बहुत-बहुत प्रयत्न करेंगे, ऐसे क्रिया प्रयत्नों द्वारा यह हित साध्य नहीं है। जब जाना कि मैं चैतन्यशक्ति मात्र हूं, मैं विशुद्ध ज्ञानमात्र हूं, जानन जानन ही मेरा काम है, तो इस प्रकार यह सप्तदशयी जो १७ बातें कहीं ये १७ बातें ही जीवको संसारमें रुलाने वाली चीज है उसे मेटना है तो अपनी तरफ आयें। बाह्य पदार्थोंकी ओर मत झुकें, और एक बस निज तत्त्वके ज्ञाता बनकर रहना यह ही है पुरुषार्थ। काम हो रहे हैं विधिनिषेध अनुसार। यह मैं नहीं, यह मैं हूं, यह मेरा काम नहीं, यह मेरा काम है निषेध और विधि दोनों साथ चलते हैं तो हितमें प्रगति होती है और एकान्त करे कोई तो बस यह बन जाता है विपरीत आशय। जैसे अन्य दर्शनमें कहा विधिनियोग प्रेरणा। अब वह विधि क्या जिसका कोई परिणमन न माना जाय। और देखो वस्तुस्वभाव किसीका गला घोंटनेसे स्वभाव नहीं छूटता। वस्तुका स्वभाव वस्तुमें है। जो उल्टा समझें तो उसकी समझका एक फल मिला, पर समझ लेनेसे वस्तु ऐसी बन जाय सो नहीं। तो वस्तुस्वभावको जानें, अपने इस सामर्थ्य को पहिचानें और अपनेमें तृप्त हों, संतुष्ट हों, ऐसी अपनी प्रकृति बने तो इसमें अपना लाभ है।

—०—

(३५)

(१४८) **तत्त्वविज्ञानकी आठ पद्धतियोंमें प्रथम भूतार्थ व भेदप्रतिपादक अभूतार्थका परिचय**—तत्त्व समझनेकी ८ पद्धतियां होती हैं। कुछ भी बात जानना हो उसकी रीतियाँ ८ हैं। उन आठोंके पहले नाम सुनो, और उनका क्रम भी ध्यानसे सुनो—भूतार्थ, भेदप्रतिपादक अभूतार्थ, गुणप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ, सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायात्मकपरिचायक अभूतार्थ, पर्यायबुद्धि अभूतार्थ और ८वां उपचार। इनका पहले सामान्य-

तया अर्थ समझ लो और उससे यह भान होगा कि कौनसा कथन किस पद्धति पर किया गया है। भूतार्थ मायने सहज स्वभावमय अखण्ड अवक्तव्य तत्त्व। बस भूतार्थ एक ही है जिसका वर्णन भूतार्थ नही कर सकता। वह तो केवल लक्ष्यमें ही ले जानेकी बात है। जितना भी वर्णन है वह सब अभूतार्थसे वर्णन होता है तो इतनेसे पहली बात तो यह जानें कि अभूतार्थ अगर असत्य हो तो सब ग्रन्थ, सब प्रतिपादन, सब वर्णन असत्य हो जायगा। इसलिए सब अभूतार्थ असत्य नही कहलाते। कैसे असत्य है सो बतायेंगे? पहली चीज है भूतार्थ परमार्थ अखण्ड सहज स्वभावमय अनादि अनन्त ध्रुव स्वभाव, वह लक्ष्यमें होता है, वह है भूतार्थ। भूतार्थका शब्दार्थ क्या है? जो स्वयं निरपेक्षतया अपने ही सत्वके कारण होने वाली बात है उसे कहते हैं भूतार्थ। अब उसका वर्णन चलेगा। वर्णनमें है अभूतार्थ। ७ अभूतार्थकी रीति हैं और भूतार्थ एक ही है। प्रतिपादन अभूतार्थसे होता है। अब देखो भूतार्थके बादका नम्बर है भेद प्रतिपादक अभूतार्थ, जैसे भूतार्थमें जाना एक अखण्ड ज्ञायक-स्वभाव आत्मतत्त्व। जाना और समझमें नहीं आया अभी। समझाओ जरा। देखो गुण और गुणी, गुण तो है सहजस्वभाव और वह जिसमें पाया जाय वह है गुणी। भूतार्थमें गुण गुणी का भेद न था, वह तो है एक अखण्ड तत्त्व। अब देखो भेद करके जाना कि यह चैतन्यगुण है और चैतन्य गुणी है तो इतना ही भेद करे उसे कहते हैं भेदप्रतिपादक अभूतार्थ।

(१४६) गुणप्रतिपादक अभूतार्थ, पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ व पर्यायात्मपरिचायक अभूतार्थ पर्यायबुद्ध अभूतार्थ व उपचार—अब इसके बाद और समझना है। इतने से भी हम नहीं समझे, ऐसी समस्या आयी तो आगे चले गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। जो गुणोंका प्रतिपादन करे, आत्मामें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, ऐसे गुणका प्रतिपादन करे उसे कहते हैं गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। यहां तक सारी बातें एक अवक्तव्य जैसी हैं। सामने बात आ नहीं पायी कि क्या बात हमें कहना है, किससे समझाना है तो व्यक्त बात जब जब कहने चलेंगे तो कुछ पद्धति काम देगी। पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थ। जैसे ७ तत्त्व ९ पदार्थ इनका वर्णन है ना जिसका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। और अध्यात्मशास्त्रमें कहा है—भूतार्थसे जाने गए ९ तत्व सम्यक्त्वके कारण हैं तो वे ९ पदार्थ ७ तत्व यह है पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थसे ज्ञात। अब समझलो ७ तत्व ९ पदार्थ किसका विषय है? कितने अभूतार्थ निकल गए? उसके बादका नम्बर है भेदप्रतिपादक अभूतार्थ, गुणप्रतिपादक अभूतार्थ उससे नीचेके क्रमका है पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थ उससे जाना गया विस्तार। और देखो ७ तत्त्व ९ पदार्थ जानकर उनमें रहने वाले एकत्वको जानना सम्यक्त्वका कारण है। ७ तत्त्व ९ पदार्थ आये पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थमें

अब उसका विस्तार बन जाता है। जैसे आस्रव आया तो क्रोध, मान, माया, लोभादिक वे सब हैं पर्यायप्रतिपादक अभूतार्थसे विज्ञात। इसके बाद समझना है सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थ। अभी तक एक-एक धारासे बात चल रही है। अब यहाँ समझना है सम्बन्धका प्रतिपादन करने वाला भूतार्थ। जैसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जाना, कुछ भी सम्बंध समझा उसे समझने वाला जो अभूतार्थ है उसका नाम है सम्बन्धप्रतिपादक अभूतार्थ। इसके बाद नम्बर है पर्यायात्मपरिचायकका। पर्यायमें जीवका परिचय करने वाला अभूतार्थ। जैसे यह स्थावर जीव है, त्रस जीव है, अमुक गतिका है और मार्गणाओंका वर्णन है, और वहां जो जीवका परिचय बनता है वह पद्धति है सब पर्यायात्मपरिचायक अभूतार्थ। अब देखो अब तकके अभूतार्थमें अशुद्धता, गड़बड़ी ये बाह्य बातें नहीं आई अब इसके बाद है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ, यह है एक मिथ्यात्व वाला भाव। पर्यायमें अपने आपका श्रद्धान करना यह मैं हूं, अपने आपके लिए बात है यह। पर्यायमें अहंका अनुभव करना पर्यायबुद्ध अभूतार्थ है। फिर उसके बाद है उपचार। एक द्रव्यको दूसरेका कर्ता कहना, भोक्ता कहना, स्वामी कहना सो उपचार है। उपचार भी मिथ्या है।

(१५०) **पर्यायबुद्ध अभूतार्थके वर्णनका लाभ**— अब समझो उल्टे क्रममें आकर। समझना है भूतार्थको। भूतार्थको कुछ अधिक नहीं समझाना है। वह तो एक लक्ष्यभूत चीज है। उस भूतार्थका ही ज्ञान करनेके लिए सर्व वर्णन हुआ करता है। अब उल्टी रीतिसे देखो—८वाँ क्या कहा था ? उपचार। तो उपचारका वर्णन अब अगले निबंधमें स्वतंत्रतया होगा। अब ७वाँ देखो— पर्यायबुद्ध अभूतार्थ याने पर्यायको यह मैं हूं इस प्रकार माननेकी बात है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ। मिथ्यात्व---इसका वर्णन ग्रन्थमें है, किसलिए कि यह हेय तत्त्व है और संसारका कारण है। हेयको भी तो बताना चाहिए। पर्यायबुद्ध अभूतार्थका परिचय तो सही है, पूज्य है, सिद्धान्तकी चीज है, मगर पर्यायबुद्धता न होनी चाहिए। जैसे एक बार कहा था कि नरकोंका वर्णन है तीसरे अध्यायके पहले सूत्रमें, तो बताओ पहला सूत्र पूज्य है कि नहीं ? उसे अर्घ चढ़ाना चाहिये कि नहीं ? चढ़ाना चाहिए। पूज्य है, तत्त्वार्थ सूत्रका सूत्र है। अर्घ चढ़ाओ तो प्रत्येक सूत्रका चढ़ाओ, अर्घ चढ़ानेमें दोष नहीं है, क्योंकि वह जो वाणी है, वे जो नरकोंका प्रतिपादन करने वाले वचन हैं वे बुरे नहीं हैं, पर नरकोंमें जाना बुरा है। पापके स्वरूपका जो वर्णन है वे वचन गंदे हैं कि अच्छे ? पाप बुरे हैं। अगर पापके स्वरूपका वर्णन न होता ग्रन्थोंमें तो पापोंसे हटाव कैसे होता ? तो पर्यायबुद्ध अभूतार्थमें जो पर्याय बुद्धता है वह तो त्याज्य है, पर पर्यायबुद्ध अभूतार्थ से मिथ्यात्वका ही तो स्वरूप समझा गया है। हाँ पर्यायमें आत्मबुद्धि होना यह है हेय, यह है संसारका कारण।

जैसे पापका वर्णन बुरा नहीं है, पाप बुरे हैं. वर्णन तो जिनवाणी है। एक शास्त्रका कथन है। तो वर्णन घृणाकी चीज नहीं, किन्तु पाप घृणाकी चीज है। ऐसे ही पर्यायबुद्ध अभूतार्थ ने मिथ्यात्वका स्वरूप बताया।

(१५१) **पर्यायात्मप्रतिपादक अभूतार्थ व उसकी उपयोगिता**— अब छठा क्या है? पर्यायात्मकपरिचायक अभूतार्थ। पर्यायमें यह आत्मा है, यह जीव है, ऐसा परिचय कराने वाला वर्णन है। देखो कितना लाभकारी है यह। यह त्रस है, यह स्थावर है, यह कीड़ा है, यह मक्खी है, यह मच्छर है। ऐसा इन पर्यायोंमें जो जीवका ज्ञान किया इससे लाभ क्या? इससे लाभ तब है जब कि दयाकी प्रवृत्ति बने। ग्रन्थोंमें दयाको भी धर्म कहते हैं, रत्नत्रयको भी धर्म कहते हैं। धर्मादिक भावोंको भी धर्म कहते हैं। एकान्त न करना। ये अपने अपने पदके अनुसार चलने वाले वर्णन हैं आचार्योंके। आचार्य संत सारे विश्वपर कृपा करने वाले थे इसलिए उनके सब वचन ऐसे निकले कि जिससे सब जीव सुखी हों, किसी जीवमें विसम्वाद न हो, अशान्ति न हो, ऐसा यह समान वर्णन है। जैसे दयाका वर्णन किया तो दया करने वाला भी सुखी, जिसकी दया की जा रही वह भी सुखी। एकेन्द्रियको भी लाभ मिला भगवानके वचनसे कि एकेन्द्रियका घात नहीं करो ऐसे उपदेशसे भव्य जीवकी दयारूप प्रवृत्ति हुई तो उससे एकेन्द्रिय जीवकी भी रक्षा हो गई। जिनेन्द्रदेवका उपदेश यह सब विश्वके उपकारके लिए है। विवाद नहीं है, सब सुखी हों, शान्त हों, प्रेमसे रहें, वात्सल्यसे रहें। क्या प्रयोजन है? कितना निर्विवाद स्याद्वादका दर्शन जो ऋषभदेवकी परम्परासे चला आया वैसा बतला रहा है यह पर्यायात्मक परिचायक अभूतार्थ— पर्यायमें जीव कहना। अब देखो निश्चय नयसे परमार्थदृष्टिसे तो पर्याय जीव नहीं, पर्यायका तो निषेध है कि पर्याय सब अजीव हैं। जीव तो चैतन्यशक्ति मात्र है। पर ऐसा ही कोई बोले कि बिजलीमें पतिंगे आ रहे तो आने दो, मर रहे तो मरने दो, छिपकलियाँ खा रहीं तो खाने दो। अजीवमें अजीव ही तो पिट रहे। जैसे एक तेरापंथी स्थानकवासी होते हैं उनमें यह कहा है कि बिल्ली अगर चूहाको पकड़ती है तो रोको मत। उन स्थानकवासियोंका कुछ ऐसा ही सिद्धान्त है कि अगर श्रावक जीवदयाका विचार करता है तो वह अपने पदसे गिर जाता है, खाता है तो खाने दो। इस तरहसे अगर सब जगह मान लिया जाय, अव्रतियोंमें भी एक इसी एकान्तकी बात की जाय तो दयाकी बात उठ जायगी। फिर हृदयमें करुणा ही न रहेगी। क्रूरता जग जायगी। तो यह भी बात तो कामकी है, और बात जहाँ जितनी कामकी है वह बात वहाँ उतनी समझनी तो चाहिए। पर्यायमें जीवका परिचय कराने वाला है अभूतार्थ। इससे यह लाभ है। अब आप समझते जायेंगे कि पूर्व पूर्वके अभूतार्थ कैसे-कैसे भीतरी बनते गए और यों प्रगति कर

कैसे भूतार्थ तक पहुंच गए हैं ? तो समझना चाहिए।

(१५२) **आन्तरिक दृष्टि द्वारा भूतार्थकी ओर पहुंचनेका पौरुष**—अब इससे पहले क्या है ? सम्बंध, प्रतिपादक, अभूतार्थ, याने क्रोध प्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जीवमें क्रोध परिणमन हुआ, यह हुआ सम्बंध प्रतिपादक अभूतार्थ । वर्णन असत्य नहीं है पर आगे जैसी अन्तर्दृष्टि मिलती जायगी वैसे ही वैसे यह अभूतार्थ छूटेगा, और अन्तरमें प्रवेश होता जायगा। इससे बहुत आगे हुआ अब पर्यायात्म प्रतिपादक अभूतार्थ । देख लिया ७ तत्त्व ९ पदार्थ, इन का श्रद्धान करना यह कर्तव्य बताया है शास्त्रमें । कई जगह वर्णन आया है, तो करना चाहिए वर्णन मगर आत्मोद्धारकी दृष्टि मिल जाय, इससे अतिरिक्त प्रयोजन नहीं । जैसे—चारित्रमें सीढ़ी है । जैन सिद्धान्तमें पहली प्रतिमा, दूसरी, तीसरी बढ़ते जावो, विशुद्धि बढ़ती जाय और क्षुल्लक ऐलक और फिर मुनि जैसे चारित्रकी सीढ़ी है ऐसे ही तत्त्वके परिचयकी भी सीढ़ी है और उस सीढ़ीको उत्तरकी ओरसे प्रथम प्रथमकी ओर जा जा कर सब बताये जा रहे हैं। यहाँ तक आये इतनी सीढ़ियोंको पार करके पर्यायके समझनेमें । जिसमें तत्त्व पदार्थ सब समझे गए। इससे और अन्तर्दृष्टि बने गुणप्रतिपादन अभूतार्थसे जानें। पुदगलमें रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण हैं । यहाँ तक चर्चामें आये । अब उन उन अभूतार्थोंसे हटकर याने और ऊपर अन्तरमें आकर अब यहाँ आये । गुण देखो, आत्मामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति ये गुण देखे गए । इस से और अन्तरमें जो उतरे तो आया भेद प्रतिपादक अभूतार्थ । यहाँसे शुरू हुआ सब वर्णन । भूतार्थ तो है एक लक्ष्यभूत । अब बतावो तो कुछ । तो गुण गुणीका भेद पहले बताया । तब उसके आधारपर आगे और विस्तार बनता जायगा । और ये सब अभूतार्थ आते जायेंगे । तो यह है भेदप्रतिपादक अभूतार्थ । इससे और अन्तरमें गए तो गुण गुणीका भी भेद समाप्त हो जाय, केवल एक अखण्ड वस्तु चित्तमें हो, सहज स्वरूप हो वह कहलाया भूतार्थ तो कैसा इस अभूतार्थका सदुपयोग करके आगे बढ़ बढ़ करके हम भूतार्थमें पहुंचे हैं । देखो सभी उपयोगी हुए ना हर बातमें । जैसे भगवानकी भक्ति करते, पूजन करते तो सबका निराला-निराला काम है । कहीं फल भी चढाते हैं, कहीं अचित्त द्रव्य सूखे भी चढ़ाते हैं कहीं केवल धूप खेते हैं, कहीं केवल भावसे पूजा करते हैं, और कहीं केवल एक उपासना ध्यानसे ही पूजा जाता है । तो जो लोग जिस श्रेणीके हैं, जिनकी जितनी पात्रता है, जैसी व्यवहार चारित्रकी विविधतायें हैं, जैसे पूजन विधिमें विविधता है, ऐसे ही पदार्थके परिचयमें भी विविधता है । उनको पार करके चलना है भूतार्थ पदार्थ तक । सबके लिये देखो उपयोग है कि जो जितना जहां समझ सके वह वहां समझ ले, और अन्तमें यह आया भूतार्थ तत्त्वपर

(१५३) **तत्त्वपरिचयके प्रसंगमें आठों पद्धतियोंका विलोम वर्णन**—अब पुनः उप-

संहारमें सुनो, उपचारसे वर्णन किया यह तो मिथ्या है। कैसे मिथ्या है और उसमें भी कुछ मर्म है कि नहीं ? यह सब आगेके निबंधमें बतायेंगे। फिर है पर्यायबुद्ध अभूतार्थ। इससे जानें कि पर्यायबुद्ध रहना हेय है। संसारका कारण है। वह मिथ्यात्वभाव भाव जीवके उपकारके लिए नहीं है। फिर समझा पर्यायात्म परिचायक अभूतार्थ। यह त्रस है, स्थावर है, वादर है। यह सब किस लिए बताया कि हिंसादिक पाप न हो। हिंसादिक पापोंको टालनेके लिए यह जीवोंका परिचय है अन्यथा कोई समझे कि जल अजीव हैं, अरे वह तो पर्याय है। इसे तो जीव ही नहीं कहते, छानना खतम। हर जगह सर्व हिंसा हिंसाका ही साम्राज्य बन जायगा यदि इन पर्यायोंमें जीवका परिचय करनेकी बातको असत्य कह दिया जायगा। आगे बढ़ो, पर किसी भी नयकी बातको असत्य नहीं कहा जा सकता। उससे और अन्तरनयमें बढ़ना चाहिए। तो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थका क्यों वर्णन किया जाता ? यह बतानेके लिए कि जितने विभाव, विकार परिणाम हैं वे सब अस्वभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। देखो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थसे भी हमको क्या शिक्षा मिलती है ? ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक मेरे स्वभाव नहीं हैं, क्यों नहीं हैं भाई ? ये निमित्त सन्निधानमें होते हैं कर्मविपाकका सम्बन्ध पाकर होते हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं, मेरे स्वभाव नहीं हैं। तो सम्बन्ध प्रतिपादक अभूतार्थने विकारसे हटा लेनेकी उमंग दिलाया। फिर है पर्याय प्रतिपादक अभूतार्थ। ७ तत्त्व ९ पदार्थ अनेक पर्याय, इनका व्यपदेश करनेके लिए है। फिर है गुणप्रतिपादक अभूतार्थ। वह स्वभावका परिचय करनेके लिए है। क्या गुण प्रतिपादक अभूतार्थ ? जैसे कहा आत्माका स्वभाव चैतन्य है। हम नहीं समझे भाई ? अरे जिसमें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है, चारित्र गुण है ऐसा समझना तो समझमें आता। यह है गुण प्रतिपादक अभूतार्थ और भेद प्रतिपादक अभूतार्थ। एक अखण्ड वस्तुको सबसे पहले समझें जिसके द्वारा बनता वह है भेद प्रतिपादक अभूतार्थ। भूतार्थ लक्ष्य है।

—•—

(३६)

(१५४) **उपचारभाषामें मिथ्यापन व गुप्त तथ्यका दर्शन**— तत्त्वपरिचय करनेकी पद्धतियां ८ कही गई थीं, जिनमें एक तो भूतार्थ और ६ अभूतार्थ और ८ वां है उपचार। ७ का वर्णन हो चुका था, अब आज उपचारका वर्णन किया जा रहा है। उपचारका शब्दार्थ है 'उप समीपे चरणं उपचारः' अर्थात् वास्तविक तथ्यके निकट निकट फिरना सो उपचार है। उपचारका सीधारूपक जो शब्दों द्वारा जाहिर होता है वह है एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता

स्वामी, भोक्ता बताना। एक द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यका निर्माण बताना, अब आप सब घटित कर लीजिए। मेरा घर है, मैं मकानका मालिक हूं, यह घी का घड़ा है आदिक जो जो कुछ भी प्रयोग होता है तो जैसा उन शब्दोंमें कहा वैसा क्या वहां अर्थ है ? घी से बना घड़ा है क्या, मेरा मकान है क्या अर्थात् मुझसे रच पच गया हो ऐसा है क्या ? तो उपचार भाषा जिन शब्दोंमें कहती है उन शब्दोंमें ही तथ्य समझ लेना सो मिथ्या है, लेकिन एक बात यहां यह समझें कि दुनियाके सभी लोग एक ही तरहका उपचार क्यों बोलते हैं भिन्न-भिन्न प्रसंगों में ? घरमें घीका डिब्बा है तो उसे बालक, जवान, बूढ़ा, स्त्री, पुरुष सभी यही कहते हैं कि वह घीका डिब्बा लावो। और और लोग भी यही बात कहते हैं। अरे कोई भी तो कुछ और नहीं बोल रहा। जैसे धूलका डिब्बा, कागजका डिब्बा आदि। तो एक ही तरहसे क्यों उपचार भाषा बोलते हैं ? अटपट क्यों नहीं बोल डालते ? यहां उस तथ्यका अन्वेषण किया जा रहा कि जिसमें उपचारमें भी कोई तथ्यकी बात मिलती है। कुम्हारने घड़ा बनाया। वस्तुस्वरूपसे देखें तो यह बात मिथ्या है। कुम्हारने तो अपना हाथ चलाया, मिट्टीमें क्या किया कुम्हारने ? लेकिन सभी लोग ऐसा क्यों बोलते हैं ? यदि इसमें कोई तथ्य नही है तो फिर दुनियाके सब लोग यों ही बोलते—कुम्हारने घड़ा बनाया, तो उसमें कोई तथ्य है। क्या तथ्य है ? कुम्हारके व्यापारका निमित्त पाकर मिट्टीमें घड़ेकी परिणति बनी। यह घटना तो सत्य है ना ? सम्बंध प्रतिपादक असद्भूतार्थकी बात वहां पड़ी है ना ? उसीको समझानेके लिए उपचार भाषा एक संक्षिप्त शब्द है।

(१५५) **उदाहरणपूर्वक उपचारमें गुप्त तथ्यका दिग्दर्शन**—कुम्हारने घड़ा बनाया। लम्बी रचनासे जो घटना जानी जा सकती थी उसको संक्षिप्त थोड़े शब्दोंमें बतानेका व्यवहार लौकिकी रूढ़िमें हो गया है। अभी सिर दर्द करता हो तो आप यह ही तो कहते कि मेरा सिर दर्द कर रहा, तो यह बात क्या सच है ? मेरा सिर ही नहीं है, सिर पौद्गलिक है। मैं चेतन हूं सो पहले तो यह झूठ रहा कि मेरा सिर। फिर आगेकी बात तो कहें क्या ? तो फिर सत्य क्या है सो तो बताओ। मेरा सिर दर्द कर रहा, यह बात तो झूठ हो गई उपचार हो गई। सिर सिर है मैं मैं हूं, मेरा सिर नहीं और फिर भी बोल रहा तो उपचार बन गया ना। तो उपचार तो बन गया मगर मरे तो जा रहे हैं। तकलीफ हो रही है। वेदना हो रही है तो उस बातको बताओ तो सही कि किन शब्दोंमें कहोगे ? अब उन शब्दों को लावो। मेरा सम्पर्क पाकर आहार वर्गणाओंकी रचना शरीररूप हुई और उस शरीरमें ये नसें तड़क रही हैं, उसका निमित्त पाकर मेरेमें वेदना हो रही है, क्या कोई इतनी बात बोलेगा ? अरे इतनी बात बोलनेका होश किसे हैं ? तो उपचारमें भी तथ्य तो कोई है ना। उन शब्दोंमें ही कोई वैसा ही अर्थ समझ ले तो मूढ़ता है, मगर कोई तथ्य तो है ना ? तो

अटपट व्यवहार अटपट उपचार क्यों नहीं होता उसमें भी तथ्य है। देखो बोली, वाणी, व्यवहार, प्रमाण, तौल, नाप सब कुछ यों ही कह देना कि सर्वथा असत्य है सो बात नहीं। उसमें भेद बनाना, विवेक बनाना कि इस पद्धतिमें यह बात असत्य है और इस दृष्टिमें देखो तो यह सत्य है। अच्छा तो उपचारका वर्णन आगममें किया क्यों जाता? क्यों लिखा जाता उसका यह मतलब है कि उस उपचार कथनमें हम प्रयोजनकी बात पकड़ लें और जिन शब्द मे कहा उन शब्दोंमें मत अटक जावें और प्रयोजनको जान लें तो उससे हमें फिर स्वभाव दर्शनमें मदद मिलेगी। एक पर्यायबुद्ध अभूतार्थको छोड़कर जितने भी शेषके अभूतार्थ हैं उन सबका प्रयोजन है स्वभावदर्शनकी शिक्षा। सभी तो यही बात कह रहे हैं कि जो उपचार कथन होता है उसमें भी कोई तथ्य छिपा हुआ है। उस तथ्यको पकड़ लें और उपचार भाषाकी बात छोड़ दें सो नहीं। तो पहले निबंधमें जो ६ बातें कही थीं उसमें पूर्व पूर्वकी बातें अंतरंग अंतरंग होती जाती हैं और अन्तमें पहुंचना कहाँ? उस भूतार्थपर। मैं अखण्ड एक ज्ञायकभावरूप हूं। जगतके समस्त पदार्थोंसे निराला हूं। मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञान मात्र हूं। मेरा किसीसे कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। शरीरसे भी न्यारा, कषायोंसे भी न्यारा केवल एक ज्ञान ज्योतिमात्र यहाँ जिसकी श्रद्धा बनी कि यह ही मैं सर्वस्व हूं। इसकी वृत्तिको ही मैं करता हूं, इसकी वृत्तिको ही मैं भोगता हूं इसके अतिरिक्त मेरा और कुछ सम्बन्ध नहीं। ऐसा जिसने सत्यका परिचय पाया है और सारे विकल्पोंको छोड़कर इस ज्ञानस्वभावमें ही रहता है उस जीवको शाश्वत आनन्दके लाभका मार्ग मिलता है।

—०—

(३७)

(१५६) **द्रव्यकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता**—इसमें एक समस्याका समाधान दिया कि बोलो द्रव्य उत्पाद व्यय सहित है या उत्पाद-व्यय रहित है। देखो कथन दोनों तरहके मिलते हैं। द्रव्य तो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य वाला है। द्रव्यका लक्षण ही यह है। जो चीज है वह बनती है, बिगड़ती है और बनी रहती है। ऐसी दुनियामें कोई चीज नहीं जो बने और बिगड़े, पर बनी न रहे, या बने और बनी रहे, बिगड़े नहीं, या बिगड़े, बनी रहे और बने नहीं, या बनी रहे, बिगड़े और बने नहीं। कोशिश तो खूब की अन्य दार्शनिकोंने, कोई ब्रह्म है जो बना ही रहता है, बनता, बिगड़ता नहीं। अच्छा तो एक चीज हम और बता दें—हौवा है। (हंसी)। उसमें कुछ भी लगा लो, बना रहता है, उसमें बिगड़ना और बनना

नहीं। तो यह तो एक कल्पनाकी बात है। दुनियामें कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य ये तीनों चीजें न पायी जायें। प्रत्येक सत् बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। अगर एक बात कोई पूछे कि बताओ सिद्ध भगवानमें क्या ये तीनों चीजें पायी जाती हैं? तो उसके उत्तरमें मोटे रूपसे यह जानो कि जब सिद्ध प्रभु बनते हैं तो संसार तो बिगड़ गया और प्रभुता बन गई और आत्मा वहीका वही रहा। अच्छा कोई यह पूछे कि जिसको प्रभु बने अनेक वर्ष हो गए उसमें बताओ क्या बनता, क्या बिगड़ता और क्या बना रहता? अच्छा वहाँ भी देखो सिद्ध भगवान शुद्धज्ञान ज्ञान ही पाते रहते हैं ना? केवलज्ञान, ज्ञान ही ज्ञान सदा चलता रहता है। अशुद्धपर्याय नहीं होती। ज्ञान ज्ञान ही चलता रहता है। तो चलता रहता है ज्ञान ही ज्ञान मगर पहले समयमें जो ज्ञान चल रहा और दूसरे समयमें ज्ञान चल रहा तो है तो एक समान सा मगर वह पर्याय न्यारी-न्यारी है। सो द्वितीय समय का ज्ञान परिणमन बना, पहले समयका ज्ञान परिणमन मिटा और आत्मा वहीका वही रहता है। यही आनन्दकी बात है। जैसे बिजलीका यह लट्टू जल रहा तो एक सा जल रहा और १५–२० मिनटसे जल रहा तो कोई कहे कि यह नया काम क्या कर रहा? जो १५-२० मिनट पहले काम किया था वही काम अब है, परंतु वहाँ वही मात्र काम नहीं है। प्रतिक्षण में नया-नया प्रकाश, नयी नयी शक्ति आती है। उसमें यूनिट भी तो खर्च हो रही ना? नई नई ताकत हर क्षणमें लग रही। कोई एक आदमी २० सेरका बोझ सिर पर रखे खड़ा है आधा घंटासे, अब कोई कहे कि यह तो कोई नया काम नहीं कर रहा, एक ही काम कर रहा तो बताओ क्या सचमुच वह एक ही काम ज्योंका त्यों कर रहा? अरे वह क्षण-क्षणमें नया-नया काम कर रहा। कैसे? अरे भाई २० सेरका बोझ जो आधा घंटा पहले लिया था, पहले मिनटमें लिया था तो दूसरे मिनटमें क्या वह ताकत लगाकर काम नहीं कर रहा अरे ताकत न लगाता तो बोझ गिर जाता। और पहले मिनटमें तो पसीना न आया था और अब पसीनासे लथपथ हो रहा तो नई-नई शक्तियोंसे नया-नया काम कर रहा ना। तो यहाँ यह बात सिद्ध होती। सिद्ध भगवानमें भी यही बात सिद्ध होती। तो बात यह कह रहे हैं कि दुनियामें जो पदार्थ हैं वे बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं। सभी पदार्थोंकी यही पद्धति है। और सब पदार्थ न्यारे हैं। जो बने बिगड़े और बना रहे, ऐसा रहे, वह अपनेमें रहे। मेरा उनसे क्या सम्बन्ध? मेरा तो बस मेरेमें ही मेरा परिणमन है।

(१५७) **तत्त्वविज्ञानार्थीको गुरुचरण सेवा प्रसादका महत्त्व**—हाँ प्रकृतमें बात क्या कह रहे थे? दो समस्यायें हैं—द्रव्य उत्पादव्यय सहित है या उत्पाद-व्यय-रहित है? तो द्रव्य उत्पाद-व्यय वाला है यह तो प्रसिद्ध बात है मगर एक यह भी तो कथन आता है

कि द्रव्यदृष्टिसे द्रव्य शुद्ध है, उसमें बंध मोक्ष नहीं उत्पाद-व्यय नहीं, विकार नहीं, कल्पना नहीं। वह तो एक सहज स्वभावरूप है। ऐसा भी है ना? तो अब उनकी दृष्टियाँ समझिये द्रव्य तो साधारण रूपसे यही है—'सत् द्रव्य लक्षणं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।' द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। अब उस ही एक द्रव्य वस्तुमें दो दृष्टियाँ लगती हैं। देखो जगत में जितने पदार्थ हैं वे पदार्थ अपनेमें कोई नई अवस्था लाते हैं, पुरानी अवस्था मिटाते हैं और चीज बनी रहती है। सभी पदार्थ ऐसे हैं। जीव हो, पुद्गल हो, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जो ऐसा नहीं वह है ही नहीं। अब ऐसा मैं आत्मा भी हूं। सुबह कुछ और दोपहर कुछ और शामको कुछ। भाव बदलते रहते हैं ना, परिणाम नये नये आते रहते हैं ना? तो नई दशा बनती है, पुरानी दशा बिगड़ती है और खुद बना ही रहता है। ऐसे इस आत्मवस्तुको अब जरा दो दृष्टियोंसे परखो ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय व उत्पादव्ययग्राहक पर्यायार्थिक नय। ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय—अभी बहुतसे भाई पढ़ तो लेते हैं बहुत जल्दी, महीना १५ दिन क्लास लगाकर थोड़े दिनोंमें पंडित हो गए। अब जैनागमका कितना रहस्य है, कितना मर्म है? तो बीसों वर्ष गुरुके चरणरजको अपने मस्तकमें रखकर बड़ी भक्तिसे उनकी सेवा करके पाये तो पा सकते हैं, ऐसे अनेक विद्वान हुए। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके टीकाकार अमृत चन्द्र सूरिने खुद लिखा है। जहाँ चौथी गाथामें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा कि मैं समस्त वैभवको लगा-कर आत्मद्रव्यको दिखाऊँगा। 'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं'। इसकी टीकामें बताया है कि चार वैभव कौनसे हैं। पहला तो यह कि वे समस्त आगमके ज्ञाता हैं, दूसरा यह कि बड़ी युक्ति और दर्शन शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान हैं। तीसरा यह कि निर्मल निर्मल ज्ञानघनमें डूबे हुए परगुरु और अपर गुरुकी कितनी सेवाकी। उसके प्रसादसे एक प्रसाद प्राप्त हुआ। और चौथा यह कि निरन्तर झरने वाले अपने आनन्दानुभवसे निर्णय कर लिया। इन चार वैभवोंसे जो युक्त है वह पुरुष सत्य प्रतिपादन करनेमें समर्थ होता है। देखो यहाँके परगुरु और अपरगुरुकी शुद्ध उपासनाका कितना महत्त्व कुन्दकुन्दाचार्यके चित्तमें था। सारी जिन्दगी पढ़ते हैं, सारी जिन्दगी सुनते हैं, सारी जिन्दगी मनन करते हैं तब जाकर आनन्दानुभव करनेकी पात्रता बनती है।

(१५८) तत्त्वविज्ञानके लिये अनुरोध—भैया! अपना ध्यान बदलो—केवल गज नापने का ही उद्देश्य न रखो, केवल काँटा तौलनेका ही उद्देश्य न रखो या जो जो कुछ किया जा रहा हो व्यापार सर्विस वगैरह, यही मात्र जीवनका उद्देश्य नहीं है। ये क्या साथ रहेंगे? ये क्या छूटेंगे नहीं? अरे ये यहीं पड़े रह जायेंगे। इस आत्माको अकेला जाना पड़ेगा। जिसको अकेले जाना पड़ेगा उसकी कुछ जिम्मेदारी तो महसूस करो। इन बाहरी पदार्थोंको ही सर्वस्व

मत समझो, इन्हें न्योछावर करो। जरा अपने आपपर भी तो दया करो। आत्मज्ञान पाये बिना उद्धार न होगा। और उस आत्माका ज्ञान बनाओ। अगर स्याद्वादकी रीतिसे आत्माका ज्ञान बनेगा तो जीवन सफल हो जायगा, नहीं तो एकान्तकी रीतिसे आत्माका ज्ञान करनेसे लाभ कुछ न मिलेगा। पक्ष, आग्रह, अज्ञान, कषाय, भ्रम, इनमें ही जीवन जायगा। हाँ तो वस्तुका ज्ञान दो पद्धतियोंसे होता है— एक है—द्रव्य वस्तुका ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय याने उस द्रव्यमें एक ध्रौव्यस्वरूपको ग्रहण करने वाली दृष्टि। उससे जाना तो यह जाननेमें आ रहा कि मैं आत्मा ध्रुव हूं। मेरेमें उत्पाद व्यय नहीं। एक स्वरूप हूं। यह एक दृष्टिकी बात है। दूसरी दृष्टि है उत्पादव्ययांशग्राहक पर्यायार्थिकनय याने उस वस्तुमें उत्पाद व्ययको ग्रहण करने वाला नय। तीन चीजें हैं—एक दृष्टिसे ध्रौव्य ग्रहण किया, याने चीज सदा रहती यह अंश ग्रहण किया, और एक दृष्टिने अदल बदल ग्रहण किया। तो उत्पादव्ययांशग्राहक पर्यायार्थिक-दृष्टिसे वस्तु उत्पाद व्यय सहित है। उसमें बंध है, मोक्ष है। तो एक पदार्थमें ये दो बातें जुदी जुदी सिद्ध हो गई। देखो कहीं विवाद है क्या ? सच जानें और प्रेमसे रहें। और जितना बन सके धर्मकी उन्नति करें। प्रभावना करें। ज्ञान प्रभावना बनावें। आनन्द ही आनन्द है, और जहाँ स्याद्वादसे गिरे, एकान्त बन गया वहाँ सारा जीवन विषमय हो जाता है। यही हाल तो हुआ अनेक दार्शनिकोंका। अच्छा तो दो दृष्टियोंसे दो बातें बताया ना, उत्पाद व्यय सहित है यह आत्मा और उत्पादव्ययरहित है यह आत्मा।

(१५६) ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनय व उत्पादव्ययांशग्राहक पर्यायार्थिकनयसे प्राप्तव्य शिक्षण—उक्त दोनों दृष्टियोंसे हमें शिक्षा क्या मिली सो सुनो–ध्रौव्यांशग्राहक द्रव्यार्थिकनयसे हमें यह परिचय बनता कि देखो उत्पाद व्यय वाले तत्त्वपर उपयोग लगायेंगे तो उपयोग स्थिर न रहेगा, इसलिए उस दृष्टिको गौण कर ध्रौव्यको देखें। हमारी दृष्टि एक सदा रहने वाले मेरे स्वरूपपर रहेगी तो एक ओरसे तो हम बेफिक्र हो गए, याने उपयोग हमारा चंचल है, मगर उपयोगका विषय जो ध्रौव्य तत्त्व है वह तो स्थिर है। उपयोग भी चंचल और पर्यायको विषय करें तो दोनों ओरसे गए। तो विषय तो स्थिर रहा, अब स्थिर विषयका हम उपयोग करते रहेंगे तो हमारा उपयोग निर्मल होकर सम स्थिर हो जायगा। अच्छा तो उत्पाद व्ययग्राहक पर्यायार्थिकनयसे क्या शिक्षा मिली ? उससे यह शिक्षा मिली कि डरो मत, दुःखी मत हो। आज हम अज्ञानी हैं, आज हम रोगी हैं, आज हम बुरे हैं तो वह तो पर्याय है। ज्ञानबल बनायें तो इस पर्यायको मिटा देंगे और एक अनुकूल पर्यायको पा लेंगे। तो जिन दृष्टियोंसे हमें शिक्षा मिलती है बस वही दृष्टि तो हमारे अलौकिक हितकी चीज है। तो यहाँ हम इस द्रव्य वस्तुको जब ध्रौव्यरूपसे तकते हैं तो हमको शिक्षा मिलती है इस ध्रौव्यका उप-

योग करें तो पार हो जायेंगे। जब उत्पाद व्ययको देखते हैं तो हमको बल मिलता जाता है। पापी हैं, अज्ञानी हैं तो घबड़ावो नहीं, यह पर्याय है, नैमित्तिक है। परभाव हैं, मिट जायेंगे। जैसे जब कभी किसीपर दुःख पड़ता है तो लोग समझाते हैं—अरे आ गया दुःख तो मिट जायगा, धीरज धरो। अशुद्ध पर्याय है तो धीरज धरो, ज्ञान बढ़ाओ, मिट जायगा और शुद्ध परिणाम में पहुंच जायगा। तो आगमके प्रत्येक वाक्यसे हमको कल्याणकी शिक्षा मिलती है। श्रद्धा बनाये रहो, किसी ग्रन्थको असत्य मत कहो, सब ग्रन्थोंसे सार मिलेगा। अगर ग्रन्थ असत्य है तो फिर आचार्यने बनाया ही क्यों? वहाँ तत्त्व निकालनेकी कला पावो और उससे एक आनन्द पावो, कल्याण पावो। तो बात बस संक्षेपमें यह जानो कि जरा अब ज्ञानाभ्यासकी ओर बढ़ो, कुछ स्वाध्यायमें लगो, कुछ मनन करो। अगर संसारके इन बाहरी बाहरी कामोंमें ही रात दिन गुजारते रहे तो फिर अन्तमें पछताना पड़ेगा, इसलिए धर्म, ज्ञान, आत्मप्रतीति करो धन वैभवसे प्रीति मत रखो, इनमें आस्था मत रखो, ये तो परिस्थितिमें आकर करने पड़ रहे हैं, उमंग होनी चाहिए धर्म और आत्मज्ञानकी वृद्धि करनेकी।

—०—

(३८)

(१६०) **आश्रेय अन्तस्तत्त्वका प्रस्तावन**— इस लोकमें ऐसा कौन सा पदार्थ है कि जिसका सहारा लें तो आत्माको शान्ति मिले। बाहरमें ऐसा कुछ भी पदार्थ नहीं कि जिसका सहारा लेनेसे जीवका कल्याण हो, इसे शान्ति मिले। जगतमें सम्पर्कमें आ सकने वाले दो ही तो पदार्थ है—जीव और पुद्गल, सो कोई भी जीवके साथ सम्बंध नहीं बना पाता। कोई भी किसीके साथ सम्बंध बना सकता है तो यहाँ कल्पनामें पुद्गलसे बनायगा बाहरमें देखकर बोलता है, व्यवहार करता है तो पुद्गलको निरखकर करता है। हाँ इतना अवश्य है कि खाली पुद्गलसे कोई वार्तालाप नहीं कर सकता तो वह एक पर्याय है। पर्यायसे ही लोगोंका सम्पर्क चलता है। एक जीव, शुद्ध जीव, चेतनामात्र उससे किसका नाता, किसका रिस्ता, किस का सम्बंध? जिससे भी सम्बंध बन रहा वह बाहरके जीव पुद्गलसे बन रहा अपनी कल्पनामें। तो बतलावो कौनसा ऐसा सार है कि जिसका आश्रय करें तो जीवको कल्याण मिले? सब खोटी कल्पनायें हैं, मेरा बेटा, मेरा मित्र मेरा पिता, मेरी पत्नी, मेरा अमुक, सब एक कल्पनाका जाल है। वास्तवमें इस आत्माका बाहरमें कुछ नहीं है। और यह जीव बाहरी चीजोंमें राग बनाकर अपने आप दुःखी होता रहता है। खूब निर्णय करलो, अनुभव भी बन

गया होगा कि बाहरके किसी पदार्थका आश्रय लेनेसे सुख शान्ति नहीं मिलती। हाँ इतना जरूर हो जाता कि कोई धर्मात्मा पुरुष हो, ज्ञानी हो, साधु हो और उसका सत्संग करे, उसकी वाणी सुने, स्वाध्याय करे तो जो विकल्प जाल चल रहे थे उपयोग बदलनेसे उन विकल्प जालोंका क्लेश नहीं रहता, ऐसे अवसरमें यदि बाहरी ध्यान छोड़कर एक निज स्वरूपमें ध्यान बने तो इसको शान्ति मिलती है। तो बाहरमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसका आश्रय करनेसे शान्ति हो। तब फिर किसका आश्रय ढूंढ़ना चाहिए ? खुदका ही आश्रय ढूंढ़ो, खुदमें क्या ? यह जो मूर्ति मुद्रा बनी है यह भव मूर्ति जो एक पर्याय है, आकार है, इसका सहारा लेनेकी बात नहीं कह रहे। यह तो परद्रव्यमें ही अन्तर्गत है। अपने आत्माके स्वरूपमें जो एक सहजस्वभाव है उसके आश्रयकी बात कही जा रही है, इसका नाम है अंतस्तत्त्व। अन्तस्तत्त्वका आश्रय लेनेसे क्या लाभ मिलता है यह बात इस प्रकरणमें सुनो—

(१६१) **निस्तरंग अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगमें निस्तरंगताकी संभवता**—यहाँ दो बातें खूब समझ लीजिए—अंतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व। बाहरी क्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ सब बहिस्तत्त्व हैं, बाहरी बातें हैं, और यह शरीर, यह बाहरी बात है, कर्म यह भी बाहरी बात है। कर्मके उदयका निमित्त पाकर होने वाला उपयोगमय विकार यह भी बाहरी बात है, विचार तर्क तरंग यह भी बाहरी बात है। और, जो कुछ बाहरी पदार्थ जाननेमें आ रहा है, जो जाना जा रहा है ऐसा यह जानना यह भी है तो पर्याय, ध्रुव नहीं। मिट जाता है, सदा नहीं रहता, इसलिए इससे भी हटकर उस सहज ज्ञानस्वभावरूप अंतस्तत्त्वमें आइये। कैसा है अंतस्तत्त्व ? ज्ञानस्वभाव, निस्तरंग, जिसमें कोई तरंग नहीं, चंचलता नहीं, क्योंकि अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमें अनादि अनन्त अविचल रह रहा है ना ? ऐसा स्वभाव निस्तरंग है। अच्छा तो ऐसे निस्तरंग सहज ज्ञानस्वभावका आश्रय लेनेसे उपयोग निस्तरंग हो जाता है, याने हम किसपर अपना ज्ञान जमाये हुए हैं ? जो ज्ञानका जमाना है, दिल लगाना है, उपयोग लगाना है तो निस्तरंग ज्ञानस्वभावमें उपयोग लगायेंगे तो उपयोग निस्तरंग होगा। एक मोटी ही बात परखलो, दर्पणके सामने जैसा होगा दर्पणमें भी वैसा झलक जायगा। एक ऐसी रीतिके अनुसार देखो जो हमारा ज्ञान, हमारा उपयोग रागद्वेष सुख दुःख तरंगोंसे रहित ज्ञानस्वभावको देखेगा तो उपयोग भी निस्तरंग बन जायगा। देखो तरंग मायने है लहर। अपने आपमें एक लहर उठती है। देखो लहर है या स्थिर तत्त्व है। सुख दुःख रागद्वेष, सोच विचार, तर्क आदिक ये सब लहर हैं, तो इस लहरका ज्ञान करेंगे तो ज्ञानमें भी लहर उछलेगी और इन सुख दुःखादिक तरंगोंसे विविक्त सहज ज्ञायक स्वभावका ज्ञान करेंगे तो ज्ञानमें यह निस्तरंग ज्ञान ही तो आयगा। तो देखो भीतरी चीज अंतस्तत्त्व निस्तरंग है, उसका आश्रय

लेनेसे उपयोग भी निस्तरंग हो जाता है। अच्छा बतलावो। लहरें उठनेमें आप शान्ति पायेंगे क्या? लहर उठती रहे यह आपको पसंद है क्या? मुखसे तो कह ही दोगे कि हाँ पसंद नहीं, मगर भीतरमें लहरें ही पसंद आ रहीं। मंदिरमें आये, स्वाध्यायमें बैठे, प्रवचनमें सुन रहे, अपने ही ज्ञानकी बात सुन रहे, पर चित्त ऊधम मचा रहा—अभी कितनी देर स्वाध्याय चलेगा, चित्त चाह रहा कि घरकी ओर भागना है, दूकान खोलना है या जिससे प्रीति है उससे बात करना है, तरंग ही पसंद हो रही है जीवको और जब तक यह सुख दुःख रागद्वेषकी लहर पसंद होती रहेगी तब तक जीवको कल्याणका मार्ग न मिलेगा। एक बार पक्का निर्णय तो करलो कि जगतके बाहरी पदार्थ न तो ये मेरे हितरूप है और इन पदार्थोंका विचार कर करके जो भीतरी तरंग उठती हैं न वह मेरा हितरूप है। एक निस्तरंग ज्ञानस्वरूप ज्ञान ज्योति उसमें ही अनुभव बने कि यह हूं मैं, बस यह ही जीवको भला कर सकने वाला भाव है। हाँ तो अंतस्तत्त्वके आश्रयकी बात कही जा रही है।

(१६२) अनाकुल अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी अनाकुलता—देखो यह अंतस्तत्त्व सहज भाव है क्योंकि नैमित्तिक नहीं। जो नैमित्तिक होता है उसका सहारा लेनेसे काम न चलेगा। रागद्वेष सुख दुःख आदि भाव नैमित्तिक भाव हैं। होते हैं अपने ही उपादानमें, अपनी ही परिणतिसे मगर निमित्तनैमित्तिकताका बोध न हो तो उसका हटाव करना कठिन है। मेरे में हुए, मेरेसे हुए, मेरी परिणति हैं, इतना ही इतना ध्यान रखा जाय विकार भावके लिए तो इसको हटानेका साहस और झुंझलाहट कहाँसे पैदा करेगा? ये परतत्त्व हैं, परभाव हैं, नैमित्तिक हैं, ऐसा बोध होनेपर उनको हटानेका पौरुष जगता है, तो सहजभावका तो आश्रय करना है, उसके प्रति यह भाव होना चाहिए कि यह मेरा अनादि अनन्त अंतस्तत्त्व स्वरूप है। यह ही मैं हूं। लोग सोचते हैं ना कि मैं क्या हूं, हर एकके मनमें ज्ञानमें अपना अपना निर्णय पड़ा हुआ है। मैं हूं, मैं अमुक कुलका हूं, अमुक नामका हूं, व्यापार करने वाला हूं, सर्विस करने वाला हूं, गृहस्थ हूं, श्रावक, त्यागी हूं, साधु हूं, कुछ न कुछ रहता है ना। तो देखो ऐसी बाहरी बाहरी दशाओंरूप अपनेको मानना यह ही कष्टोंकी जड़ है, जो अपनेको समझना है कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, ऐसी भीतर दृष्टि रह जाय और अपने वास्तविक सत्त्वका परिचय करले तो उस जीवको कष्टका कोई काम नहीं। तो किसका आश्रय लें जो कष्ट मिटे? एक अपने आपके स्वभावका आश्रय लें, स्वरूपका आश्रय लें, तो कष्ट मिटेगा। बाहरमें किसीका भी आश्रय लेते रहे, अदल-बदल करते रहे, उपयोग भ्रमाते रहे तो उसमें सिवाय कष्टके और कुछ भी लाभ नहीं। तो इस ही अंतस्तत्त्वके आश्रयकी बात कही जा रही है। हाँ फिर बाहरसे उपयोग हटाकर भीतर अंतस्तत्त्वकी दृष्टिमें आवो। केवल सुननेसे लाभ नहीं है। जिस तैयारीके लिए बात

कही जा रही है अपने भीतरमें तैयारी बनाते हुए सुनो। सबसे निराला यह भीतरी ज्ञानस्वरूप, इसकी संस्कृति क्या है। यह है अनाकुल केवल ज्ञान ज्योति जहाँ प्रतिभास मात्र स्वरूप है वह है निराकुल। आकुलताका वहाँ काम नहीं है। जैसे दर्पणमें निजी स्वच्छता है वहाँ मलिनताका काम नहीं है। भले ही परउपाधिका सन्निधान पाकर दर्पणमें मलिनता आती है, प्रतिबिम्ब आता है मगर हम तो यहाँ देख रहे हैं दर्पणकी निजी स्वच्छताका गुण, वहाँ मलीमसता नहीं है, ऐसे ही भले ही इस उपयोगमें कर्मप्रकृति विपाकका निमित्त पाकर याने खुद अनुभागसे खिली हुई कर्मदशावोंके प्रतिफलनके निमित्तसे इस जीवमें मलिनता तो आयी, पर उस मलिनताको देखनेकी बात नहीं कही जा रही, उसे मत देखो और देखो अपने आत्माके सहज स्वभावको। यह अंतस्तत्त्व अनाकुल है। यहाँ आकुलताका काम नहीं। तो ऐसे अनाकुल ज्ञानस्वरूपको मानना कि मैं यह हूं, फिर आकुलता क्यों लगेगी ? अनाकुल स्वरूप निज ज्ञानभावको नहीं अनुभव पाते तो बाहरमें दृष्टि गड़ाते और ये कल्पनायें जगतीं और उनको मानता कि यह मैं हूं, बस यह सारी विडम्बनाओंका कारण है।

(१६३) स्थिर आत्मस्वरूपके आश्रयसे उपयोगकी स्थिरता—अच्छा अभी चलते रहो अपने आपमें। देखो उपयोगमें अगर कोई बाहरकी बात याद आ जाय तब इस बात को भली भाँति सुननेकी, विचारनेकी पात्रता न रहेगी, न उसका लाभ ले सकेंगे। छोड़ो ख्याल कि घड़ी में कितने बजे हैं, और यह भी ख्याल न रहे कि कहाँ बैठे हैं, यहाँ तक कि शरीर तकका भी भान न रहे, केवल एक ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें हो और परखिये उस स्वभावको, वह ज्ञान ज्योति वह सहज ज्ञानस्वभाव स्थिर है कि अस्थिर ? अस्थिर तो नैमित्तिक परभाव हुआ करते हैं। निजका स्वभाव तो स्थिर ही होता है। तो अब तक जीवने अस्थिर पदार्थोंपर ही उपयोग लगाया और इस कारण उपयोग अस्थिर बनता ही रहा तो अस्थिरका उपयोग न लेकर अब जरा स्थिर अंतस्तत्त्वका उपयोग कीजिए। स्थिर ज्ञानस्वरूपका उपयोग करनेसे उपयोग स्थिर बन जायगा। उपयोग कह रहे उसका मतलब समझे ना ? ज्ञानका लगाना, उपयोगका जोड़ना, किसी तरफ जानकारीका करना। इसका नाम है उपयोग। उस उपयोगको इन बाहरी अस्थिर पदार्थोंमें मत जोड़ो, किन्तु स्थिर जो निज अंतस्तत्त्व है उसमें उपयोग जोड़ो तो स्थिर अंतस्तत्त्वमें उपयोग लगानेसे उपयोग भी स्थिर हो जायगा, अस्थिर होकर उपयोग जो भटकता रहता है यह ही तो एक क्लेश है। तो अपने अंतस्तत्त्वको देखो स्थिर है। उस स्थिर अंतस्तत्त्वका यदि सहारा लें याने ज्ञानमें ऐसा ही ज्ञान बनाये रहें कि यह स्वरूप है, स्वभाव है, यह मैं हूं ऐसा उपयोग रहेगा तो वह कष्ट न मिलेगा।

(१६४) निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी निर्विकल्पता—अच्छा और

भी अंतस्तत्वकी विशेषतायें देखिये— हमारा जो सहज स्वरूप है, याने पर पदार्थोंका आश्रय किए बिना, सम्बन्ध बनाये बिना अपने आप जो मेरे आत्माका स्वरूप है वह स्वरूप निर्विकल्प है, ज्ञानज्योति में सामान्य प्रतिभासमें चैतन्यस्वरूपमें विकल्प नहीं है। जैसे कि दर्पण में खुदमें किसी प्रकारकी कलुषता नहीं है खण्ड नहीं है, पर बाहरमें कोई चीज रखी हो तो दर्पणमें भी खण्ड हो जाता है। देखो ना। जैसे दर्पणको सामने करें और आपका मुख उसमें दिखेगा तो पूरा दर्पण तो मुखसे नहीं भिड़ गया। थोड़ी जगहमें हो तो मुखका प्रतिबिम्ब दिख रहा और उससे मुखमें दर्पणके बाहरमें टुकड़े बन गए। फोटो बन गई। दर्पण अगर कहीं स्वच्छ है, कहीं नाकका प्रतिबिम्ब है। कहीं कानका, नीचे भी स्वच्छ, अगल बगल भी स्वच्छ, तो जैसे उसके खण्ड हो गए ऐसे ही बाहरी पदार्थ उपयोगमें आते हैं तो हमारे उपयोगके खण्ड बन जाते हैं। अपने आपका जो सहज स्वभाव है, शाश्वत् अन्तः प्रकाशमान है उस स्वच्छ ज्ञान ज्योतिका उपयोग रहे तो उपयोगमें खण्ड नहीं बनता। निर्विकल्प ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेसे उपयोग भी निर्विकल्प बनता है।

(१६५) अविकार ज्ञानस्वभावके आश्रयसे उपयोगकी अविकाररूपता—अभी बहुत सी जगह जो देहातियोंको, अनपढ़ लोगोंको भूत प्रेत व्यन्तर आदि आ जाते हैं। कोई चबूतरे पर उछलने लगे, कुछ बोलते हुए कूदने लगे तो वह क्या विडम्बना हो गई? उस पुरुषने अपनेमें यह ही भावना भरा कि मैं भूत हूं, प्रेत हूं, अमुक हूं, तो जिसकी भावना भरी जाय उस रूप उसकी चेष्टा बन जाती है। तो जैसी भावना तैसी कृति होती है। तो जिसकी भावनामें अविकार विकार रहित स्वच्छ अंतस्तत्त्व बना हुआ हो उसका उपयोग तो अविकार बन जाता है। इसीलिए तो उपदेश है कि भगवानका ध्यान करो, भगवानकी भक्ति करो, क्योंकि भगवान है अविकार स्वरूप। विशुद्ध ज्ञानानन्द व्यक्त हो, वहाँ रागद्वेषकी कालिमा नहीं है। सिद्ध प्रभु केवल आत्मा ही आत्मा हैं, ऐसे अविकार परमात्मप्रभुका ध्यान धरियेगा तो उपयोगमें वह अविकार स्वरूप ही तो आयगा। और चूँकि यह अविकार स्वरूप स्वभाव के अनुरूप है सो व्यक्तिकी भी कल्पना टूट कर एक स्वभावमात्र ज्ञानमें रहेगा। आचार्यसंतों ने जो जो कर्तव्य बताया है वे वे कर्तव्य इस जीवके भलेके लिए हैं। भले कर्तव्यको हम गाली दें तो वह भला कर्तव्य हम कर सकें, यह सम्भव है क्या? भगवानकी पूजा हेय है, बंध करेगी, संसारका कारण है। यह आत्माका पतन करता है, ऐसी तो हम धारणा बनायें और फिर चाहे कि भगवानकी भक्ति हम कर सकें तो नहीं कर सकते। जब तक गुण ही गुण न दिखें तब तक भक्ति नहीं बनती। आप ध्यानमें दीजिए भगवानकी भक्ति हम कर न सकें तो फिर हम और क्या करने चलेंगे? प्रभुकी अवस्था ही उत्कृष्ट अवस्था है और

मेरेको एक यह ही उत्कृष्ट अवस्था पाने योग्य है। अन्य कुछ मुझे न चाहिए। बस जो अरहंतका परिणमन है, सिद्धकी पर्याय है। अवस्था है, बस यह ही अवस्था मेरी बने और मैं कुछ नहीं चाहता। ऐसी मनमें धारणा कब बनेगी? भगवानके गुणोंमें अनुराग बनेगा तो बनेगा। जब हम यहाँ किसी व्यक्तिको गाली दे देकर मित्र नहीं बना सकते तो हम प्रभुताको गाली दे देकर प्रभुकी भक्ति कैसे कर लेंगे? तत्त्वनिर्णय होता है कि तत्त्व निर्णयके लिए है। उस तत्त्व निर्णयमें सभी बातें बसी हुई हैं। जो भगवानका स्वरूप है वही एक बननेमें मेरा भला है। उपादेयता आयी कि नहीं आयी, पर भगवानका जो व्यक्त स्वरूप है, परिणति है उस परिणतिका ही ध्यान रखें और सहज स्वभाव पर उपयोग न जा सके तो वहाँ अटक बनती है लेकिन सही ज्ञानमें यह अटक नहीं रहती। वह मैं विकास अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द विकासरूप ऐसा स्वरूप तकता है कि स्वभावमें उसका मेल बैठ जाता है और फिर पर्याय हटकर एक स्वभाव ही दृष्टिमें रहता है। तो भगवानकी भक्तिमें अपने ही स्वरूपका अपने ही स्वभावका सहारा आ जाता है।

(१६६) **सदामुक्त अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी कष्ट विमुक्तता**—देखो सब जीव चाहते हैं कि मेरी मुक्ति हो। संसारके संकटोंसे हम छूट जायें तो संकट हीन हीन हो गए तो क्या हालत होगी? जैसे प्रभुकी स्थिति। प्रभु केवल एक आत्मा आत्मा है, वहाँ कोई भी विकार नहीं, कर्म नहीं। शरीर नहीं, केवल एक विशुद्ध आत्मविकास है, ऐसा बनता है क्या? हाँ याने उसको छोड़कर बाकी जितनी विडम्बनायें हैं, उन विडम्बनाओंसे छुटकारा उसके ही हो सकता है जो विडम्बनाओंसे छूटा हुआ अपना स्वभाव रखता हो। पुद्गलमें से आप रूपको हटा सकेंगे? नहीं हटा सकते। क्यों नहीं हटा सकते कि पुद्गल रूपसे छूटे हुए स्वभावको रखते ही नहीं। सदा शाश्वत रूप शक्तिमय रहते हैं। अच्छा इस चौकीपर कूड़ा जम गया तो इसे हटा सकते हो क्या? हाँ हटा सकते। कैसे हटा दोगे? हम समझते हैं कि यह कूड़ा करकट बाहरी चीज है, जीवकी निजकी चीज नहीं, यह बात ज्ञानमें है तभी तो आप उसे हटा सकते, ऐसे ही मेरा स्वरूप तो परमैश्वर्यमय है और प्रभुका विकास है। ये विषयकषाय आदिक विकार प्रभुसे अत्यन्त दूर हैं, वे अपने आपमें गुप्त हैं, तो यह कहलाया सदा मुक्त अंतस्तत्त्व। मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव समस्त उपाधियोंसे, परभावोंसे सदा निराला है। तो ऐसे निराले अंतस्तत्त्वकी उपासना करेंगे तो उस रूपसे प्रकट निराले हो जायेंगे। तो सदा मुक्त अन्तस्तत्त्वका आश्रय करनेसे यह उपयोग भी संकटोंसे, उपाधियोंसे मुक्त हो जाता है। तो प्रकरण यह चल रहा है कि बाहरके पदार्थोंका सहारा न लें, खुदमें ही अन्तः प्रकाशमान शाश्वत ज्ञानस्वरूपका सहारा लें। यहाँ ही अनुभव करें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान-

सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूँ।

(१६७) **आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वके आश्रयसे उपयोगकी आनन्दरूपता**—प्राणियोंकी आदत है कि वे किसीका सहारा लें, सहारा समझें और उसके प्रति ही अपनेको समर्पितसा कर दें, जिसको जिसके प्रति विश्वास है वह उसे ही अपना समर्पण करता है। सभी जीवोंमें यह आदत देखियेगा, चाहे वे पशु-पक्षी हों अथवा मनुष्य हों, सभीमें यह आदत है कि किसी न किसीकासहारा मानना। कोई बूढ़ा पुत्रका ही सहारा मानता है, पति पत्नीका सहारा मानता, पत्नी पतिका सहारा मानती। सहारा लेनेकी सबमें आदत है। तो अब जरा यहाँ यह ही विचार करें कि यह आदत तो है ना कि किसीका सहारा लें, पर किसका सहारा लें जो आत्मा का कल्याण हो, संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा हो? वह सहारा बाहर न मिलेगा। वह सहारा है अपने आपके आत्माके अंदर। जिसे कहते हैं अंतस्तत्त्व, आत्माका सहज स्वरूप। तो इसका सहारा लेनेसे कैसे कल्याण होता, इस विषयमें बहुत कुछ कहा है। अब यहाँ यह समझिये कि कल्याण है सबका आनन्दमें। इस जीवसे कहो कि तुम आनन्दकी बात तो मत करो, आनंदका ध्येय न बनाओ, आनन्दका निहाल क्यों कर रहे और होने दो सारे गुणोंके विकास। अनन्त ज्ञान हो जाने दो, केवल ज्ञान, बस एक आनन्दको मना कर दो, हमें न चहिए आनन्द या आनन्द न मिलेगा, इतनी भर बात मना कर दो और फिर तुम्हें देंगे केवल ज्ञान, अनन्त ज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति पर अनन्तमें हाथ मत लगाओ, तो ऐसा बनना किसीको मंजूर होगा क्या? सर्व दशाओंमें इस जीवको आनन्द ही प्रिय है। जो कुछ भी जीव काम करता है वह आनन्दके लिए ही करता है, तो आनन्द है इस जीवके लिए एक खास लक्ष्य तो आनन्द कैसे प्राप्त हो? तो यहाँ दो बातें समझना है, जिसका सहारा लें, और कैसे आनन्द मिलता? आनन्द नाम है उस भावका जिस भावमें यह आत्मा सर्व ओरसे समृद्धिशाली बन जाता है, सांसारिक सुखोंका नाम आनन्द नहीं। सुख तो दुःख है। दुःखसे भी बुरा है। जो सुखमें रहता है वही दुःखको कभी कभी बड़ा बना लेता है। जो दुखमें रहता है वह उसका आदी है, वह घबड़ाता नही। नारकियोंपर कितना संकट है, उन्हें घबड़ाहट क्या होगी? वहाँ तो सब काम यही है, और देखो कैसा पापका उदय है कि उनके शरीरके तिल-तिल बराबर भी खण्ड हो जायें तो भी वे सब खण्ड परस्परमें ऐसा जुड़ जाते कि जैसे रस हो जाता। वह मरना चाहता पर मरता नहीं, ऐसा पापका उदय है। तो देखो आनन्दका मार्ग न पाये कोई तो संसारमें ऐसा ही रुलना पड़ता है। आनन्द क्या? बस किसी प्रकारकी आकुलता न रहना। अपने आप में अपनेको समृद्धिमें रहना यह ही है आनन्द स्वभावी अंतस्तत्त्वका आश्रय किया जाय। ज्ञानामृत सहज ज्योति यह ही मैं हूं, ऐसी दृढतासे अपनी ओर ही प्रकाश रहता है, तो उसने पाया

आनन्द तो अपना जो आनन्द स्वभाव है, भीतर जो अन्तः प्रभु है उसका आश्रय करनेसे यह उपयोग भी आनन्दमय हो जाता है।

(१६८) **कल्याणार्थी जीवको अन्तस्तत्त्व के आश्रयका महत्त्व**—देखो भीतरका लें सहारा तो सब काम सिद्ध हो गया। बाहरका सहारा लें तो आकुलता ही हाथ लगेगी। दो टूक निर्णय तो है। अन्तस्तत्त्वका आश्रय लें तो आनन्द मिलेगा। बहिस्तत्त्वका आश्रय लें तो कष्ट मिलेगा। तब देखो जगतमें मेरा सेठ कौन ? अपनी-अपनी बात सोच लो। मेरा सेठ है मेरा स्वरूप, मेरा स्वभाव, जिसका आश्रय करनेमें नियमसे संकट दूर होते हैं और शान्तिका लाभ होता है। यह है अंतस्तत्त्व एक सहज निधि, उसका जो आश्रय करेगा वह भी सम्पन्न होगा। तो सेठपना क्या है ? बस अपने सहज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि रहे यही है सेठपना। ऐसी अमीरी चाहते हो तो देहसे भी निराला ज्ञानमात्र अपने अंत: स्वरूपको देखो, अपने भीतर बसे हुए भगवान परमात्मतत्त्वके आश्रयसे ही हम शान्ति पा सकते हैं। सब जगह देखे, सब जगह ढूंढ़ा, सब जगह घूमा, सबका सहारा लिया, बहुतोंका शरण लिया, लेकिन अपने आपके अंतस्तत्त्वका सहारा न लिया जाय। तो फिर संसारमें भटकते हैं, बाहरी पदार्थोंमें रमते हैं। दुःख भी पाते और रमते। जैसे कोई शराबी किसी शराबीकी दूकानपर गया और दूकानदार से बोला—अजी बढ़िया शराब देना। तो दूकानदार बोला—भाई हमारे यहाँ बढ़िया विदेशी शराब ही है, रद्दी नहीं।.... अजी बहुत ही बढ़िया होनी चाहिए।.... हाँ हाँ बहुत ही बढ़िया है। यदि आपको विश्वास न हो तो ये जो दूकानके पीछे तुम्हारे चाचा, मौसा आदि नालियोंमें पड़े हैं, जिनके मुखपर कुत्ते मूत रहे हैं उन्हें ही देखकर अन्दाज कर लो कि हमारी शराब बढ़िया है कि नहीं ?...अच्छा बढ़िया शराब है तो लावो। बस यही हालत है जगतके जीवोंकी। राग मिलना चाहिए, मोह होना चाहिए। उसीसे पीड़ा हो रही और उसीकी ओर बह रहे। तो इसमें न मिलेगा आनन्द। आनन्द प्राप्त होगा तो आनन्दस्वरूप अंतस्तत्त्वके आश्रयसे ही आनन्द प्राप्त हो सकेगा। इसके विपरीत कुछ भी प्रयास करें, उसमें शान्ति नहीं मिल सकती। खूब खिलावो बच्चेको या और और किसी भी तरहसे मोह राग बढ़ाओ तो उससे कुछ भी भला नहीं होनेका। तब अकिञ्चन, मेरा कहीं कुछ नहीं, मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, सहज ज्ञानज्योति स्वरूप हूं, बस एक इस ही ज्ञानज्योतिका अनुभव बनाये रहें, मैं यह ही हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, स्वयं आनन्द मिलेगा। आनन्द भीख माँगनेसे नहीं मिलता। स्वयंके पुरुषार्थसे स्वयंके स्वरूपका आश्रय बनायें तो आनन्द मिलेगा। आनन्द भी क्या है ? एक शुद्ध ज्ञानका भोगना। ज्ञान बन रहा है, जानना शुद्ध जानना, जिसके साथ रागद्वेष नहीं, कष्ट आकुलता नही, उस ज्ञानभावका ज्ञानमें ज्ञान

होना यह ही भोगना होता है और बाकीके भोगनेकी बात तो अज्ञानवश होती है ।

•••○•••

(३६)

(१६६) **जीवविकारका निमित्तके साथ व उपादानके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें हितान्वेषणकी जिज्ञासा**—जीवमें जो रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार होते हैं वे विकार होते तो जोवमें हैं, जीवके परिणमन हैं, किन्तु प्रकृतिका, कर्मविपाकका निमित्त हुए बिना जीवके रागद्वेषादिक होने लगें तो ये स्वभाव बन जायेंगे । और सदाके लिए जीवमें हावो होने लगेंगे । और यदि जीवके परिणमन नहीं हैं ये कर्मके ही परिणमन हैं, रागद्वेषादिक जोवकी बात नहीं हैं, तब फिर जीव बेचारा क्या करेगा ? कर्म जब राग करे तो राग होगा, न करे तो न होगा। सो यहाँ दोनों बातोंपर दृष्टि देना है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवके उपयोगके विकार परिणमनरूप ये रागभाव हुए हैं । तो अब ऐसी स्थितिमें एक यह प्रश्न होता है कि हम उस विकारका सम्बंध जीव के साथ सोचें तो हमको लाभ मिलेगा या कर्मनिमित्तके साथ सोचें तो हमें लाभ मिलेगा । ये दो बातें एक प्रश्नमें रखी गई हैं, क्योंकि बात तो दोनों ही हैं । कर्मोदयका निमित्त हुए बिना विकार नहीं होता । ऐसा सभी कहते हैं, ग्रन्थ कहते हैं । इसमें किसीको विवाद भी नहीं है. और यह भी बात है कि जो रागद्वेष परिणाम है, जो उपयोग रूप है वह जीव उपादानका परिणमन है । तो जब ये दोनों बातें हैं तो अब हमको अपने आत्महितके लिए कैसा सोचना चाहिए याने इस विकारका सम्बंध हम जीवके साथ देखें, बनायें, मानें तो हमको अधिक लाभ होगा । ऐसे ये दो प्रश्न सामने रखे हैं । यह प्रश्न खड़ा क्यों हुआ ? इसमें चूंकि दोनों बातें मिलीं, अतः प्रश्न खड़ा हुआ । क्या वे दोनों बाते है ? कि जीव विकार विकारके कालमें जीवका ही परिणमन है । ऐसा होनेपर भी वह जीवविकार नैमित्तिक हैं याने जो वास्तविक निमित्त कर्मोदय अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है, उस कर्मोदयके होनेपर ही ये विकार हुए तब यहाँ ये दो बातें अब प्रश्नमें आयीं । उत्तर तो सामान्यतया यही है कि दोनोंमें प्रत्येकके साथ सम्बन्ध सोचनेमें लाभ होता है, सो देखिये ।

(१७०) **जीवविकारका जीव उपादानके साथ सम्बन्ध सोचनेमें लाभका कथन**—जब हम उस विकारका जीवके साथ सम्बंध सोचते हैं कि यह जीवका परिणमन है, जीवके गुणका विपरिणमन है तो उसमें हम अत्यंत विवश और कायर नहीं हो पाते । जब हम यह जानते हैं कि विकार मेरा परिणमन है तो अब हम अत्यन्त विवश न बनेंगे, कायर भी न बनेंगे । यह साहस जगायेंगे कि यह तो मेरा विपरिणमन है, मेरी गल्तीसे मैंने ही किया, मैं

ही अपने ज्ञानबलसे इसे हटा सकता हूं, किन्तु यदि एकान्ततः ऐसा मान लिया जाय कि इस रागविकारको कर्मने किया, कर्मकी परिणति है, कर्मकी सारी करतूत है। जीवसे कुछ सम्बंध नहीं। यह कर्म ही ऐसा तैयार होकर अपनी सारी परिणति जीवपर लाद रहे हैं। यदि ऐसा एकान्त मान लिया जाय तो यह जीव अत्यन्त विवश हो जायगा। अब मैं क्या करूं ? कर्म लद गए, कर्मकी सारी बात है, कर्मकी परिणति है, कर्मका पूरा साम्राज्य है, ऐश्वर्य है। सर्व कुछ कर्मका है। तो अब मैं क्या करूं, विवश बन जाऊँगा। और कायर हो जाऊँगा, सो जीवविकारका जीवके साथ सम्बंध सोचनेमें यह लाभ है कि आत्माकी अत्यन्त विवशता दूर हो और कायरता दूर हो, इसके लिए जीवविकारका जीवके साथ सम्बंध सोचनेमें लाभ है। वहाँ यह उमंग जगेगी कि यह खोटा परिणमन, यह विकार मैंने किया। मैं ही इसे मेटकर स्वच्छ हो जाऊँगा। तो देखो यह लाभ तो है जीवविकारका जीवके साथ सम्बंध सोचनेमें।

(१७१) जीवविकारका निमित्तके साथ सम्बन्ध सोचनेमें लाभका वर्णन—अब दूसरी बात देखिये कि जीव विकारका निमित्तके साथ सम्बंध सोचनेमें कितना लाभ है। जहाँ यह समझा कि जीव तो एक स्वच्छ ज्ञान स्वरूप है, उसमें जो यह विकार झलका, आया, सो वह कर्मोदयका निमित्त पाकर आया। कर्ममें स्वयंमें उस प्रकारका अनुभाग खिला, वहाँ वहाँ क्षोभकी करतूत हुई और यहाँ जीवमें यह छाया आयी, तो यह जीवविकार नैमित्तिक है। मेरा स्वरूप नहीं है ऐसी एक अपनेमें स्वच्छताके प्रति रुचि और बल प्राप्त होता है। जहाँ यह समझा कि ये जीवविकार तो परनिमित्त पाकर हुए, सो परभाव हैं, ये निमित्तके अनुरूप प्रतिफलन हैं, निमित्त होनेपर ही होते हैं। निमित्त हटनेपर हट जाते हैं। निमित्तसे मेल है विकारका। निमित्तके होनेपर हुआ, न होनेपर न हुआ, और मेरेसे बेमेल है। मेरेमें तो एक चैतन्यस्वरूप है, उसका मेल तो शुद्धज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनंद, शुद्ध शक्तिके साथ बनेगा। रागादिक विकारके साथ, मलिन परिणामके साथ मेरा मेल नहीं है। मैं तो सहज एक ज्ञायक भावस्वरूप हूं ऐसा चिन्तन बनेगा, तब जब विकारका निमित्तके साथ सम्बन्ध सोचेंगे। तो ऐसा सोचनेसे कि जब ये रागादिक विकार निमित्त पाकर हुए, इसलिए निमित्त के खातेमें जावें ही मेरे खातेमें, मेरे स्वरूपमें यह नहीं है। मैं तो सहज एक ज्ञायक स्वभाव मात्र हूँ ऐसा चिन्तन जब होता है तो इसे अन्तस्तत्त्वका आश्रय मिलता है। जो मैं सहजस्वरूप हूँ उसका हमको सहारा, आश्रय मिलता है, इसमें मेरा उपयोग जाता है। तो ऐसे चिन्तन से, ऐसा अन्तस्तत्त्वका आश्रय पानेसे महान लाभ प्राप्त होता है।

(१७२) दो जिज्ञासाओंका समाधान—अब पुनः समझो—जीवविकारको घटना यह है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर उपयोगमें जो प्रतिफलन हुआ उसका जो उपयोगमें

प्रभाव रहा उससे विपरीत होकर अपने ज्ञानस्वरूपसे च्युत होकर विकाररूप परिणमन यह जीव करने लगा। तो चूंकि जीव विकारका उपादान जीव है, निमित्त कर्मोदय है। तो अब यहाँ यह बात खोजी गई कि जीवविकारका सम्बंध निमित्तके साथ मानें तो इस तरहसे अंतःस्तत्त्वका आश्रय होता है और उस विकारका उपादानके साथ सम्बन्ध माने तो विवशता और कायरताके भाव दूर हो जाते हैं। अतः सही-सही समझना, एकान्तमें लाभ नहीं है। यथार्थ घटना जान-जानकर सभी तरहकी दृष्टियोंसे, चिन्तनसे अपने आत्मस्वरूपके आश्रयका लाभ उठाना चाहिए।

००००O००००

(४०)

(१७३) आनन्दधाम ज्ञानचेतनाका आदर—आनन्दका स्थान क्या है? आनन्दका आश्रय क्या है? आनन्दका धाम क्या है? इस विषयका विवरण इस प्रकरणमे है। इससे पहले आनन्दका मतलब समझें कि आनन्द कहते किसे हैं? आनन्द आत्मामें चारों ओरसे विकास विकास ही, समृद्धि समृद्धि ही होना इसका नाम है आनन्द। कल्पित सुखका नाम आनन्द नहीं, दुःखका नाम आनन्द नहीं। कल्पित सुख तो कष्ट ही है, उनमें आनन्दका स्वरूप नहीं पाया जाता। कोई चीज इष्ट मिल गई। कल्पित सुख मान लिया, अब उस इष्ट चीजका वियोग होता है तो यह महान् कष्ट मानता है। तो बतलाओ कल्पित सुख जब माने तब भी यह आत्मा अपने स्वरूपकी ओर दृष्टि न कर सका था, क्योंकि उस कल्पित सुखमें ही, उस बाहरी परभावमें ही इस जीवका उपयोग फंसा रहा, इसने अनादि अनन्त सहज चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि न कर पायी थी। और आज इष्ट पदार्थका वियोग हुआ तो उसके संयोगकी चिन्ता चिन्तामें यह जीव अपने स्वभावकी दृष्टि न बने उन उन स्थितियोंमें इस जीवका अकल्याण ही है, लाभकी बात कुछ नहीं है। संसारकी चीजें मिलें या न मिलें, उससे आनन्द और आकुलताका निर्णय नहीं, किन्तु अपने विकल्पमें, अपने परिणाममें परपदार्थका विकल्प आये, लगाव आये, उससे अपना हित मानें, उससे अपना बड़प्पन मानें तो इसमें आत्माका हित है। तो पहले यह ही निर्णय कर लो कि आनन्दधाम कौन है? आनन्दधाम यह आत्मा है, सो आत्मा तो त्रिकाल है, क्यों नहीं इस जीवके त्रिकाल आनन्द पाया जा रहा? संसार अवस्थामें यह व्यांकुल रहता है। कहां आनन्द पाता है? तो अब दूसरा उत्तर लो। आत्मा की वह परिणति बतलावो जहाँ आनन्द ही आनन्द पाया जाय। वह है ज्ञानचेतना। अब आनन्दविकासमें भी कुछ विभिन्नतायें पायी जाती हैं। कहीं कम आनंद, कहीं विशेष आनंद,

कहीं और कम आनन्द। करणानुयोग प्रक्रियासे भी जानें तो देखो अविरत सम्यग्दृष्टिके भी सम्यक्त्व होनेके कारण आनन्द प्रकट होता, मगर उससे अधिक व्रती पुरुषके आनन्द चल रहा। उससे अधिक श्रेणीमें रहने वाले योगियोंके आनन्द बरस रहा है। उनसे अधिक वीतराग क्षीणमोह योगियोंके आनन्द बरस रहा। उससे अधिक आनन्द है अरहंत प्रभुके, और अन्तमें उनके मलिनता भी नहीं रहती है। वहाँ तो स्पष्ट आनन्द ही आनन्द है। तो जब आनन्दके स्थान ये अनेक हैं और आनन्दका मूल है ज्ञान चेतना, ज्ञान चेतनाके उपाय बिना आनन्द मिल नहीं सकता, तब हमें उस ज्ञानचेतनाकी पदवियाँ भी भिन्न-भिन्न सोचनी होंगी।

(१७४) **अविरत सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना**—देखो सबसे पहले ज्ञानचेतनाकी स्थिति क्या है? वहाँ यह निर्णय है, ऐसा ज्ञानका परिणमन है कि जहाँ यह स्थिति है कि ज्ञानस्वरूप में ही यह मैं हूँ, ऐसे श्रद्धान स्वभावसे ज्ञान परिणमन कर रहा, यह आनन्दकी एक पहली सीढ़ी है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा श्रद्धान रहता है ज्ञानस्वरूपको निरखकर, उस ज्ञानस्वरूपमें ही यह मैं हूँ, ऐसे श्रद्धानरूपसे ज्ञान परिणमता रहता है। यह व्रतका, संयमका विशेष ध्यानका पौरुष तो नहीं जग रहा, किन्तु श्रद्धान अकाट्य है। मैं ज्ञानस्वरूपमें ही यह मैं हूं ऐसा श्रद्धान बन रहा, ऐसे श्रद्धान रूपसे ज्ञान परिणम रहा, यह ज्ञानचेतना होती है अविरत सम्यग्दृष्टि जीवका। और इसके अनुरूप वहाँ आनन्द भी बरसता है।

(१७५) **स्वानुभूतिरत अविरत सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना**—अब देखिये इस ही सम्यग्दृष्टि जीवके जब कोई स्वानुभूतिका समय होता है उस समय उसकी ज्ञान चेतनामें विशेषता जग जाती है, इस समय क्या स्थिति बनती है? ज्ञानमें ज्ञानस्वरूपका ही जानना रहता है, यही कहलाता है ज्ञानानुभव। ज्ञानमें अन्य पदार्थ जाननेमे न आयें, केवल एक ज्ञान ही जाननेमें आये– ज्ञानस्वरूप। ज्ञानका काम है प्रतिभास चेतना, वह सामान्य संचेतन जब ज्ञान में आ रहा है और उसके द्वारसे सहज ज्ञान स्वभाव ज्ञानमें आ रहा उस समय कहलाता है ज्ञानानुभूति। स्वानुभूतिमे ज्ञानानुभूतिके समय ज्ञानचेतनाका विशेष विकास चल रहा है, यह है आनंदलाभकी दूसरी सीढ़ी, यहाँपर अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायोंका उदय चलता रहता है। उस ज्ञानी जीवके स्वानुभवमें, और किसी भी बाहरी पदार्थका विकल्प भी नहीं है, किंतु जो अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायोंका उदय चल रहा है तो उस उदयके प्रतिफलनमें इसके कर्मका आश्रय व बंध भी चल रहा है। तो देखो है तो स्वानुभूति अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके मगर अबुद्धि पूर्वक कषाय विकार हो रहा है और अबुद्धि पूर्वक कषाय विकारका निमित्त पाकर जितने अंशमें जो आश्रव बंध होना चाहिए वह भी चल रहा है। तो इस बाहरी दृष्टिसे ये ज्ञानानुभूतिके समयकी ज्ञान चेतना भी एक दूसरे नम्बरकी सीढ़ी ही कहला सकती है।

(१७६) **व्रती सम्यग्दृष्टि आत्माओंकी ज्ञानचेतना**—अब उससे अधिक विकसित ज्ञान चेतना है व्रती पुरुषोंके। इन व्रती पुरुषोंके अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं जग रही इस कारण अब उनके स्थूल रागादिक विभाव नहीं आ रहे। जैसे कि अव्रती जीव के स्थूल रागादिक आते हैं अब वे स्थूल रागादिक इस ज्ञानी जीवके नहीं आ रहें तो ये स्थूल रागादिक विभाव दूर हो गए तो अब वहाँ पर ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानकी धुन विशेष स्थिर हो जाती है और जहाँ ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानकी धुन स्थिर बन गई वहाँ आस्रव बंध आदिक अत्यन्त कम रहते हैं, ऐसी यह ज्ञानचेतना आनन्द पानेकी तीसरी सीढ़ी है। चढ़ते जा रहे हैं ऊपर तो उससे एक यह बात समझ लें कि अविरत सम्यग्दृष्टि स्वानुभूति भी कर रहा है फिर भी उससे अधिक निर्मलता है व्रती मुनि साधु पुरुषके जो कि उपदेश भी करता हो, दीक्षा शिक्षा भी देता हो, फिर भी उसकी निर्मलता स्वानुभव करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टिसे अधिक है कारण कि स्वानुभवके समयमें अविरत सम्यग्दृष्टिके इस बातमें तो श्रेष्ठता है कि बाहरी पदार्थ का ख्याल नहीं है और केवल आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका ही ज्ञान चल रहा है। लेकिन अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायसहित होनेसे वहाँ आस्रव बंध चलता ही रहता है। और जहाँ स्थूल रागादिक नहीं हैं, अप्रत्याख्यानावरण कषायका विपाक नहीं है वहाँ ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान बननेकी धुन बराबर अविचल चल रही है नहीं भी है ज्ञानानुभव फिर भी उन कर्मोंका उदय न रहनेसे इस जीवमें विशेष स्थूल रागादिक सम्भव नहीं हो रहे।

(१७७) **श्रेणिप्रविष्ट योगियोंकी ज्ञानचेतना**—अब और अधिक उत्कृष्ट ज्ञानचेतना कहाँ है, जहाँ सूक्ष्म रागादिक भी दूर हो जाते हैं और ज्ञानस्वरूपके जाननेकी स्थिरता बन जाती है जैसे कि श्रेणीमें रहने वाले योगियोंके, वहाँ कोई रागद्वेष नहीं चल रहा, जो चल रहा है वह अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म विकार है वह तो है, परंतु बुद्धि पूर्वक सूक्ष्म रागादिक विभाव भी नहीं हैं, ये भी जहाँ दूर हो गए वहाँ ज्ञानस्वरूपके जाननेकी स्थिरता चल रही है। ऐसी ज्ञान चेतना है श्रेणीमें रहने वाले उत्कृष्ट योगी जनोंकी। वहाँ आनन्दका विकास अधिक है और उससे अधिक आनन्दका विकास है क्षीणमोह गुणस्थानमें जहाँ रागादिक विभावका बिल्कुल अभाव हो गया। अब विशुद्ध जाननकी परिणति चल रही है ऐसे निर्मोह वीतराग योगियोंके जो ज्ञानका परिणमन चलता है वह ज्ञान चेतना बिशेष है। वहाँ आनन्द विशेष प्रकट है क्षीणमोह हो गया। रागद्वेष जरा भी नहीं रहे। ज्ञान ज्ञानरूप ही विकसित हो रहा। वहाँ अज्ञानका काम न रहा, ऐसी दशामें आनन्द विशेष है।

(१७८) **परमात्म प्रभुकी ज्ञानचेतना**—छद्मस्थ जनोंसे अधिक विशुद्ध ज्ञानचेतना है अरहंत सिद्ध भगवानके। अरहंत प्रभुके ज्ञानका उत्कृष्ट वैभव प्रकट हुआ है, केवलज्ञान प्रकट

हुआ है, अनन्त ज्ञान प्रकट हुआ है, उसके साथ विशुद्ध ज्ञानवृत्तिका विलास चल रहा है। केवल ज्ञानचेतना जहाँ प्रकट हुई है वह अरहंत भगवान, वह परमात्मप्रभु अनन्त आनन्दके धाम है। तो देखो आनन्दका विकास उत्तरोत्तर कैसा बढ़ता चला जा रहा है कि किसके सहारे बढ़ रहा ? ज्ञानचेतनाके सहारे। तो उससे शिक्षा यह लेना है कि हम अपनेको समझें कि मैं ज्ञान-ज्ञान स्वरूप हूं, ज्ञान ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानके सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं, ऐसी ज्ञानकी विशुद्ध वृत्ति जहाँ प्रकट हुई है वह है विकसित आनन्दधाम। तो ऐसे सत्य सहज आनन्दके लाभका उपाय है ज्ञानचेतना।

(१७९) **ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतनाका विश्लेषण**—अब इसके एक साधारण रूप पर कुछ विचार करें—ज्ञानचेतना व अज्ञानचेतना कहते किसे हैं ? जहाँ ज्ञानचेतना नहीं है उसे कहते हैं अज्ञानचेतना। तो अज्ञानचेतना तो यह है कि ज्ञानको छोड़कर अन्य भावमें मैं इसको करता हूँ, मैं इसको भोगता हूं, यह मेरा स्वरूप है, ऐसा भाव बने तो अज्ञानचेतना है। जैसे मैं अमुक पुरुष हूं, व्यापारी हूँ, घर बाल-बच्चों वाला हूँ अथवा मैं इतना पढ़ा-लिखा हूँ, इतना धर्म करता हूँ, ऐसी वृत्ति करता हूँ आदिक किन्हीं परभावोंरूप अपनेको मानना कि यह मैं हूँ अज्ञानचेतना है और इसमें यह समझे कि मैं इस भावका ही करने वाला हूं, अज्ञान चेतना हो गई और इस भावका भोगने वाला हूं सो अज्ञानचेतना हुई, अज्ञानचेतना जहाँ नहीं है वहाँ ऐसा निर्णय रहता है कि मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानके सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं, ज्ञान को ही करता हूं। ज्ञानके सिवाय मैं अन्य कुछ करता नहीं हूं। ज्ञानको ही भोगता हूं, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं भोगता हूं, ऐसा ज्ञानमें ज्ञान समाया रहे, ज्ञानसे ही हमारा विशेष सम्बंध रहे, ज्ञानमें ही हमारा उपयोग जुड़ा रहे तो यह कहलाती है ज्ञानचेतना, और ज्ञानचेतना ही सत्य सहज आनन्दके लाभका परम तंत्र है, उपाय है। यह आनन्द किसी अन्य उपायसे नहीं आ सकता। मनुष्योंका सारा जीवन क्यों कष्टमय गुजरता है ? यों गुजरना है कि अज्ञानचेतना लादे फिर रहे हैं, सारा जीवन कष्टमें जा रहा। बाहरी बातें, बाह्य पदार्थ, विकारभाव, कषायभाव इनमें ही अनुभव कर रहे, यह ही मैं हूं, ये मिटे तो मैं मिट गया, जिनकी ऐसी अज्ञानबुद्धि है। उनको आनन्दका लाभ कहाँसे हो ? जिनको इस ही रूपसे अपनेको मानकर यश कीर्तिका भाव जग रहा हो उनको आनन्दका लाभ कहाँसे हो ? तो आनन्द न पा सकनेका कारण है अज्ञानचेतना। अपने आपको अज्ञानरूपमें यह जीव मान रहा है। बस यही सर्व दुःखोंका मूल है। यदि सर्व संकटोंसे छूटना चाहते हैं तो ज्ञानचेतना बलसे अज्ञानचेतना मिटायें और फिर भी इस विशुद्ध तत्त्वके आश्रयके प्रतापसे अपने आपमें ज्ञानानुभवका एक विशेष लाभ पायेंगे। तो यहाँ बताया है कि सभी जीव चाहते तो आनन्द हैं,

पर ग्रानन्द पानेकी नियतसे ये बाहरी पदार्थोंमें उपयोग जुड़ाये फिरते हैं जो कि ग्रानन्दके उपायसे विपरीत उपाय है। इन बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न जुड़े तो इस जीवको कभी कष्ट नहीं हो सकता। तो जिसे ग्रानन्द चाहिए वह बाहरी ग्रसार भिन्न चीजमें उपयोगको न ग्रटकायें ग्रौर ग्रपने ग्रापमें ग्राराधना करें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप ज्ञान ही ज्ञान हूं, ज्ञानज्योतिसिवाय मैं कुछ नहीं हूं। शरीरसे ग्रत्यन्त निराला हूं, ऐसा ग्रपने ग्रापके ज्ञानका जुड़ायें ग्रौर यह जुड़ने वाला ज्ञान ज्ञानमें जब एक रस होकर ग्रनुभव रूप बन जाता है बस उस समय भव-भवके बांधे हुए कर्म संकट दूर होते हैं ग्रौर ग्रपने ग्रापमें ग्रतिशय ग्रानन्द प्रकट होता है।

(१८०) **ज्ञानमय आत्मामें निरंतर ज्ञानव्यापार**—जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब ग्रपनेमें ग्रपना होना रखते। पदार्थमें ग्रौर व्यापार ही क्या है ? वह है ग्रौर प्रति समय होता रहता है। नई-नई ग्रवस्थाग्रोंरूप होते रहना बस यही है पदार्थोंका व्यापार। तो ग्रात्मा भी है ना कुछ। सभी समझते हैं ग्रपने ग्रापमें कि मैं हूं, सबको ग्रहं प्रत्ययका भान है, चाहे वे उल्टे रूपसे ज्ञान करें तो वहाँ भी यह भान है कि मैं भले ही करता हूं, भोगता हूं ग्रादिक रूपसे ग्रहंकार हो, लेकिन उस सबके साथ लगा है ग्रौर जो ग्रहकारमें नहीं है वे भी इस मैं का ग्रनुभव तो करते ही हैं, सहज स्वरूपके रूपमें। तो मैं यह ग्रात्मा हूं ग्रौर ग्रपने ग्रापके परिणमनमें होता चलता जाता हूं। तो ग्रात्मा क्या ? स्वके भवन मात्र याने जो कुछ है उसमें वह होता रहे। मैं हूं ज्ञानमय तो इसमें ज्ञान सदा होता रहे ज्ञानस्वरूप है ग्रौर ज्ञान होता रहे, इतना ही इस ग्रात्माका तथ्य है। तो यह ग्रात्मा जो कि स्वके भवनमात्र है वह करता क्या है ? जानता है, ग्रात्मा है ग्रौर उसमें जाननेको वृत्ति जग रही है। यह जाननेका व्यापार किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे नहीं हुग्रा, किंतु यह तो जाननेका स्वभाव रखता ग्रौर जानने के विषय बनते हैं, इस लोकके पदार्थ। कोई भी पदार्थ तो विषय मात्र बनता है इस कारण व्यवहार किया जाता है कि ग्रात्मा ग्रमुक पदार्थको जानता है। बात यह भी सही है याने ग्रात्मा के ज्ञानमें परपदार्थ विषय हुग्रा है ग्रौर उसका जैसा जैसा स्वरूप है, रूप है, मुद्रा है, जो कुछ भी झलका है यहाँ उसीका ही वर्णन है। तो ग्रात्मा वहाँ केवल जानता है ग्रौर उस जाननेमें विषय बन रहे हैं बाह्य पदार्थ। पर बाह्य पदार्थ इनके जाननेकी परिणति नही कर रहे हैं। देखो वस्तुस्वातंत्र्य प्रत्येक पदार्थ ग्रपने ग्रापमें ग्रपना ही काम करता चला जाता है। ग्रब जाननेके प्रसंगमें परपदार्थ होता है विषयमात्र ग्रौर उत्पत्तिके प्रसंगमें कोई भी ग्रवस्था बने उसके प्रसंगमें पर पदार्थ होता है निमित्त मात्र, किन्तु यह जानना कि कार्यमें ये बाहरी पदार्थ विषय मात्र रहते हैं, तो ग्रात्मा क्या करता है ? जानता है। किसको जानता है ? परमार्थतः ग्रपने

आपको जानता है, क्योंकि आत्मामें जाननेका काम हुआ, प्रतिभास करनेका काम हुआ, तो यह जानना कहीं आत्माके प्रदेशोंको छोड़कर बाहर नहीं गया। जान रहा है। जाननेका काम, जानने की वृत्ति यहाँ ही उमड़ रही है। तो वस्तुतः हमने अपने आपको ही जाना। अब अपने को कैसा जानता, यह आत्माकी एक कला है कि जैसा बाहरमें पदार्थ है वैसा यह जान लेता है। तो जाना अपनेको मगर विषयभूत हुआ बाह्य पदार्थ, तो ऐसा इस जीवने जाना।

(१८१) **आत्मामें आत्मवृत्तिकी षट्कारकता**—आत्माने अपनेको जाना तो किसके द्वारा जाना? अपने द्वारा जाना। देखो यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामें हम अपने आपके जो जानन परिणमन है वह मन और इन्द्रियकी सहायतासे बनता है याने उत्पत्तिमें मन और इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना गया, किन्तु ज्ञानकी परिणतिके द्वारा जाना गया, क्योंकि निश्चयसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणम नहीं सकता। फायदा किसने उठाया? प्रयोजन किसने लिया? चाहे वह दुःखरूप फायदा हो, चाहे सुख रूप हो, चाहे आनन्दरूप हो, आखिर वह होता किसके लिए? तो मैं ही प्रयोजन हूं, मेरेमें ही परिणमन होता। जो कुछ जाना जाता है वह दूसरेके लिए नहीं जाना जाता। उसका प्रभाव अपने आपपर ही होता है। तो अपने लिए इस जीवने अपनेको अपने द्वारा जाना। हाँ जाना सही। तो जानना एक काम हुआ, जानना एक परिणति हुई। तो यह परिणति किससे निकली? इस आत्मासे निकली। यह आत्मा ही अपादान होता। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरा तो जो गिरा वह है अनित्य और जिससे गिरा वह है स्थायी। दृष्टान्तमें जितना समझना चाहिए उतना समझ लेना ऐसे ही परिणति किससे निकली? किससे गिरी? आखिर परिणति हुई तो वह मिटती ही तो है। तो आत्मामें परिणति हुई और आत्मासे गिर गई तो किसमें उत्पन्न हुई? इस आत्मासे उत्पन्न हुई। तो आत्माने जो क्रिया वह अपनेसे किया। यह परिणमन दृष्टिसे अथवा निश्चयदृष्टिसे देखते जाइये। हाँ तो जाना हमने अपनेको, अपने द्वारा, अपने लिए और जाना कहाँपर? परमें जाना। अविकार अधिकरण अनाधार यह स्वयं है। तो ऐसा एक ज्ञानस्वरूप आत्मा अपनेमें जाननरूप वर्तना करता रहता है। अब उस स्थितिमें भला बतलाओ अपने आपको किस ढंग से जाना? यह तो बताना होगा। तो जाननेमें विकल्प है, याने परग्रहण है अर्थात् अर्थग्रहण है। कुछ समझा ना, उसकी कोई मुद्रा बनती है। तो क्या जाना? बस जिस रूप जाना वह तो जो विषय हुआ बस उसको जाना ऐसा व्यवहारसे बोलते हैं। देखो चर्चा अपनी चल रही है, आत्मा क्या करता है? इसका विवरण चल रहा है। आत्मा किसी परपदार्थको नहीं करता, आत्मा किसी परकी परिणति नहीं करता, खुद है, खुदको जानता रहता है। प्रत्येक पदार्थ खुद अपने आपका काम करता रहता है। बस अन्तर इतना है कि जो शुद्ध परिणमन

है उसमें तो कोई परपदार्थ निमित्त नहीं होता। स्वप्राप्यक है, अपने आपके आश्रय मात्रसे है, किन्तु जो विभाव है, विपाक है, सुख दुःख है, रागद्वेष है, पुद्गलमें भी है जो विकार है सो परिणमता तो है पदार्थ खुद ही उस रूप, लेकिन परपदार्थका निमित्त पाकर ही परिणमता है। निमित्तके अभावमें विकाररूप कोई परिणाम ही नहीं सकता। खैर यहाँ इतना अंश ग्रहण करें कि प्रत्येक जीव प्रत्येक पदार्थ खुद अपनेमें अपने द्वारा अपनेसे परिणमता है।

(१८२) परमार्थदृष्टिसे आत्मामें षट्कारकताकी अप्रसिद्धि—हाँ तो परमार्थदृष्टिसे तो इतना भी नहीं बोला जा सकता है कि आत्मा आत्माको जानता, आत्माके द्वारा जानता, सत्ता कारककी योजना परमार्थदृष्टिमें। परमार्थदृष्टिसे तो बस एक सहज भाव ही आता, परमार्थ निश्चय दृष्टिसे बढ़कर दृष्टि है। निश्चयदृष्टिमें तो भेद है, कितने भेद हैं ? तीन भेद हैं—(१) परमशुद्ध निश्चयनय, (२) शुद्ध निश्चयनय, (३) अशुद्ध निश्चयनय, और एक और भी समझ सकते हैं विवक्षित शुद्ध निश्चय। मगर परमार्थके भेद नहीं होते। परमार्थदृष्टिका कथन वह है जो परमशुद्ध निश्चयनयका विषय है। एक अखण्ड, शाश्वत सहजभाव अथवा एक अखण्ड पदार्थ। तो परमार्थदृष्टिसे तो आत्मामें ६ कारककी योजना भी नहीं है। यदि ६ कारककी योजना व्यवहारसे है अथवा कहो शुद्ध निश्चयसे है, अशुद्ध निश्चयसे है। तो यहाँ एक अध्यात्मदृष्टिसे अपने आपके एकत्वको, अद्वैतको परखते हैं। आत्मा तो जाननमात्र है। उसमें ६ कारक नहीं बनते, आत्माके निजस्वभावका अभ्युदय है। यह तो सारे पदार्थ इस जाननेमें आ जाते। देखो बात संक्षेपमें थोड़ी इतनीसी है कि आत्मा है और वह जानता रहता है। तो किस रूप जानता है। जाननेमें कुछ पदार्थ तो आया, कुछ तो बताना होगा, किस ढंगसे जाना, तो जिस ढंगसे जाना उसको बतानेके लिए व्यवहार कथन चलता है कि इन पदार्थोंको जाना। देखो जैसे दर्पणमें सामने रहने वाली चीजका सामने आयी हुई चीजका प्रत्यभिज्ञान हुआ वहाँ, और निश्चयसे यह कहा जायगा कि दर्पणमें स्वच्छताका ऐसा विकार हुआ, अब कहेंगे कि स्वच्छताका कैसे विकार हुआ दर्पणमें ? तो उसका उत्तर आयगा—परवस्तुका निमित्त लेकर जिसके अनुरूप प्रतिबिम्ब पड़ा है ऐसे ही आत्मामें घटित करो। आत्मा जानता है, क्या जानता है ? अपनेको जानता है। कैसे अपनेको जानता है ? जैसे यहां बाह्य पदार्थका एक छायाकार ग्रहण हुआ उस तरह जानता है। तो यह बात समझानेके लिए बाह्य पदार्थका नाम लेकर ही समझाया जा सकता है। तो आत्माने जाना, अपनेको जाना आदिक कारक एक शुद्ध व्यवहारसे है, और परमार्थसे ६ कारककी योजना भी नहीं है। यह तो अपने स्वरूपका एक अभ्युदय है कि जो भी पदार्थ है वह सब यहाँ झलकता है।

(१८३) आत्माकी विविक्तता व एकता निहार कर निर्विकल्प होनेका संदेश—

यह एक वास्तविकता है कि आत्माका अन्य कुछ नहीं है, तब अन्य द्रव्योंका लगाव समझ कर अपने आनन्दधाम आत्मतत्त्वसे हट जाना आकुलित होना यह महा मूढ़ता है। देखो आत्माका सिवाय ज्ञानके और कुछ नहीं है। जिस जगह हम आप उत्पन्न हुए हैं या रहते हैं इस जगहसे कोई सम्बन्ध नही है। जगह-जगहमें है मेरेमें नहीं है। मैं मेरेमें हूं और यहाँ का जो समागम है वह कितने दिनोंका है? अनादिकालसे काल चला आया है अनन्त काल तक चलेगा उस ही में जब जो पर्याय होती उस रूप यह अवस्था बनती है। तो यहां शिक्षा क्या मिली? भेदविज्ञानकी। भेदविज्ञानको उत्कृष्ट समझानेकी बात चली है कि यह आत्मा परका करेगा क्या? परसे सम्बन्ध क्या? यह तो अपनेमें अपने आपकी परिणति करता रहता है यहाँ इतनी बात समझ लेना कि जो विभाव परिणमन है उसमें निमित्त तो कर्मविपाक है और जो व्यक्त विकार है उसमें विषयभूत परपदार्थका आश्रय है। यों बनता है विकार। हम दुःखी कैसे होते हैं? यह बात समझना आवश्यक है कि नहीं? हम दुःखी किस ढंगसे होते हैं यह बात जिसकी समझमें नहीं है वह दुःखको कैसे मेट सकेगा? जैसे दुःखी होते हैं उस तरहसे न चलें तो दुःख मिट जायें। दुःख कैसे होते हैं? तो भाई उनका वास्तविक निमित्त तो है कर्मोदय उसे तो कोई जानता हो नही और जब जिसकी स्थिति पूरी होती है वे कर्म उदयमें आते हैं, उसे कोई समझता नहीं, मगर उस ही निमित्तके सन्निधानमें यह जीव जगतके इन बाहरी पदार्थोंका आश्रय करके अपनेमें रागद्वेष विकार उत्पन्न करता रहता है। तो आपका पौरुष क्या है? अगर विकार न चाहिए, सुख दुःख न चाहिए तो बाहरी पदार्थोंका आश्रय छोड़ दो, अपने आपके स्वरूपका आश्रय ग्रहण करो दुःख सब मिट जायेंगे। संकट सब दूर हो जायेंगे।

(४२)

(१८४) **जीवको अपने अपराधसे ही दुःखका प्रसंग**—अब यह तो सामान्य कथन था जो ऊपरके निबंधमें बताया। अब यह बतलाते हैं कि यहाँ जीव जो भी—दुःखी होता है वह अपने अपराधसे दुःखी होता है। कोई जीव किसी दूसरेके अपराधसे दुःखी नहीं होता। भले ही उसमें कुछ थोड़ा भेद है। कोई जीव अन्याय करता है और अन्याय नहीं देखा जा सकता है तो विकल्प जगते हैं, दुःखी होते हैं। उस अन्यायको दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न भी करना है सो ठीक है करो प्रयत्न, कर्तव्य है। अगर यही एक कर्तव्य होता तो बड़े योगी-जन चाहे कोई दूसरा कितना ही अन्याय करे पर वे तो अपने ध्यानमें रत रहते हैं। स्या-

लनी ने भखा, सिंहनी ने भखा, इतनी बड़ी बात होने पर भी वे अपने ध्यानसे चिगे नहीं तो चाहे किसी परिस्थितिमें विकल्प बनते हों, जब कभी कोई जीव दु:खी होता है तो अपने अपराधसे दु:खी होता है। दूसरेके अपराधसे दु:खी नहीं होता। इसी तरह कोई जीव अपराध करता है तो अपना करता है। दूसरेका अपराध नहीं करता। कहते तो हैं व्यवहारमें में ऐसा जरूर कि मैंने आपका अपराध किया, आपने मेरा अपराध किया, पर अपराध कोई किसी दूसरेका कर ही नहीं सकता। क्योंकि अपराध मायने क्या ? अप मायने अपगत दूर हो जाना और राध मायने राधा सिद्धि। सिद्धि जिस भावमें नहीं है उस भावमे लगे रहनेका नाम अपराध है, जहाँ निज सहज ज्ञान स्वभाव दृष्टिमें नहीं रहता है वहाँ यह जीव बाह्य पदार्थ विषयक विकल्प बनाता बस वही अपराध है। जो भी दु:खी होता है वह अपने अपराधसे दु:खी होता है, दूसरेके अपराधसे कोई दु:खी नहीं होता। हो ही नहीं सकता।

(१८५) किसीके द्वारा अन्यकी परिणतिकी अशक्यता—वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु अपनेमें अपनी परिणति करता है, भले ही उनमें यह बात है कि कोई परिणति परनिमित्त पाकर होती, कोई परिणति अपने आपसे अपने सहज भावसे होती है। तो कोई जीव किसी दूसरेका अपराध करता नहीं, खुद अपने आपका अपराध कर सकता है। तो जैसे अपराध नहीं करता वैसे ही कोई भी नही करता। सीताका जीव आर्या बनकर सोलवें स्वर्गमें इन्द्र प्रतीन्द्र हो गया था और उसने अवधिज्ञानसे जब सोचा कि मेरे पूर्वभवके पति श्री राम जी ऐसे बड़े तपश्चरणमें लग रहे हैं कि ये अभी निर्वाण चले जायेंगे, तो सीताका जीव सोचता है कि तो फिर दुनियामें हम अकेले ही रह जायेंगे। यह तो चले जायेंगे मोक्षमें, फिरी तो कोई आशा नहीं। जैसे यहाँके लोग कोई मर जाय तो उसकी आशा नही रखते, यह तो मर ही गया, उससे भी ज्यादह दो टूक बात यह है कि कोई जीव मुक्त हो जाय तो वह कभी मिलता नहीं। तो यह सोचकर सीताके जीवने श्री राम चन्द्र जी की तपस्यामें विघ्न डाला जाय और यह अपनी तपस्यासे चलित हो जायें तो यह अभी मोक्ष न जा सकेंगे, फिर हम और यह एक साथ मोक्ष चले जायेंगे। देखो यह भी कोई अपने घरकी बात है क्या ? खैर बुद्धि ऐसी जगी और आ करके पहले रागभावके काम किया, नृत्य किया, गायन किया, उससे भी जब न चिगे श्री राम भगवान मुनि महाराज तो और एक दृश्य दिखाया कि विक्रियाकी ऋद्धि तो होती है देवोंमें, रावण सीताके झोंटा (केश) पकड़कर खींच रहा है, यह सब दृश्य दिखाया उस सीताके जीव प्रतीन्द्रने। कुछ रोने सी लगी, हाय-हाय करने लगी सीता बनकर और श्री रामको चिल्लाने लगी, ऐसा दृश्य देखकर भी राम चन्द्र जी अपने ध्यानसे चलित नहीं हुए। और देखो कि यहाँ तो दूसरा मन बहलावा था सीताके जीव प्रतीन्द्रका और मान लो श्री राम

उस समय विचलित हो जाते तो क्या उस समय कोई सीताके हाथकी बात है कि वह समृद्धि शाली रहकर ही मोक्ष जायें ? तो कोई कुछ कर डाले मगर कोई किसी दूसरेका न गुण कर सकता है, न अपराध कर सकता है। जो अपराध करेगा सो खुदका और जो गुण उत्पन्न करेगा सो वह खुदका। यह वास्तविकता दिखाई जा रही है, लोक पद्धतिमें, व्यवहारमे तो जैसे जो काम होता है लोग करते हैं, गम नहीं खाते, मगर वस्तु स्वरूप यही है कि किसी भी पदार्थ का कोई दूसरा पदार्थ कुछ कर नहीं सकता। तब देखो क्यों घरमें कोई विषाद उत्पन्न हो, ईर्ष्या जगे इसने काम कम क्यों किया ? काम इसके जिम्मे छोड़ रखा, यह तो बागोंमें बड़ी सुन्दर-सुन्दर हवा खानेके लिए है इत्यादि विकल्प व्यर्थ है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका परिणाम करता है, कोई किसी दूसरे का नहीं करता।

(१८६) **अभिन्नकारकत्वके परिचयसे प्राप्त शिक्षा**—अभिन्नकारकत्वके परिचयसे शिक्षा क्या लेना कि हम विकल्प करते, अपराध करते और दुःखमें रहते, दुःखी होते। जो यह जान जाय कि बाह्य मेरा कुछ नहीं, कषाय मेरी कुछ नहीं। तो अपने आपमें गुप्त जो एक सहज परमात्मतत्त्व है उसका विकास होगा, प्रकाश होगा, स्मरण होगा। तो यह जीव अपना ही अपराध करता है और अपना ही अपराध करके चारों गतियोंमें भ्रमण करता और विकल्प कर करके क्लेश भोगता। मान लो किसीको इष्टवियोग हो गया, पति या पत्नी कोई गुजर गया तो उस समय उसे इतना अधिक विषाद होता कि पड़ोसी लोग, नाते रिस्तेदार लोग या जो बड़े हितैषी लोग हैं वे समझाते हैं, पर उनको समझानेसे समझ थोड़े ही बनती है, उसे धुन है, वही दिखता है, उसकी कल्पना बनती है। और यह जीव खुद विकल्प करके इस चतुर्गतिरूप संसारमें भटकता रहता है। सो कल्पनायें करता और कल्पनाका क्लेश भोगता। तो अब जरा यह तो विचारो कि इस बड़े अपराधकी जड़ क्या है ? जो तरंग उठती है मन यह जीव है, उपयोग कहीं घूमता है, ऐसी तरंग और क्षोभ उत्पन्न होनेका इसमें मूल है क्या ? तो वह अपराध है क्या ? अपनी ही कल्पनासे विश्वकी तोड़-फोड़ करता, तोड़-फोड़ कोई कर नहीं सकता, मगर कल्पनामें सोच लिया यह ही बड़ा अपराध है। किसी पदार्थसे मिलता, किसीसे द्वेष यह ही तोड़ फोड़ है। तो यह जीव अपनी कल्पनामें सारे विश्व को तोड़ मरोड़ रहा है। तो जो इतना बड़ा अपराध करे, सारे विश्वको तोड़ फोड़ करे तो उसको कितना फल भोगना चाहिए ? वह पायगा चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण। हाँ तो दुःखी हुए तो क्यों हुए कि परपदार्थोंमें लगाव लगाया, उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि की, परद्रव्यको ग्रहण किया, ये सब देख लो, इसको चोरी कहोगे कि डकैती ? हम बाहरी पदार्थोंमें जा-जाकर खुश होकर लगन रखकर उसका ही ध्यान रखते हैं और उसकी चिन्ता पौरुष प्रयत्न करते हैं तो

यह बतलाओ—यह चोरी है कि डकैती ? चोरी भी है डकैती भी, क्योंकि उसने अपनी कल्पनामें परपदार्थकी सीमाकी भीतको तोड़ दिया। टूटती नहीं है, मगर इसने तो मान लिया कि मैं इन पदार्थोंको कर दूंगा। तो जगतके समस्त पदार्थोंकी सीमा वृत्तिको तोड़ देना और उसमें करनेका विकल्प करना यह एक ऐसा अपराध है कि जिसके फलमें इस जीवको इस चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा तो उसमें भी क्या किया ? हमने अपनेमें अपनी कल्पना की, यह है एक महान अपराध। इस अपराधकी आलोचना करें, इस अपराधकी आलोचना करें, इस अपराधका प्रायश्चित करें, उस अपराधका परित्याग करें, ऐसा किए बिना आनन्दका धाम जो निज स्वरूप है उस स्वरूपमें प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिए आत्महित चाहिए तो क्या कर्तव्य है कि अपने आपके इस सहज शुद्ध सर्वविशुद्ध अपने आपकी ओर से केवल प्रतिभासमात्र अपने स्वरूपको दृष्टिमें लें, अनुभव करें, मैं तो स्वच्छ ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव बढ़े तो यह ही कहलाती है परमात्मतत्त्वकी सहज उपासना। सारांश यह है कि बाह्यपदार्थोंकी ममता छोड़ें, रागद्वेष छोड़ें और अपने आपमें अपने सहजस्वरूपका विलास लें, विकास लें यह है करनेका कर्तव्य इस मनुष्यभवमें आकर, सो यह तो करे नहीं और ममता रागद्वेष इनमें ही अपनेको लिपटाये रहें तो इसमें तो अपने इस अमूल्य जीवनकी बरबादी है।

—o—

(४३)

(१८७) प्रत्येक पदार्थका निज निजमें परिणमन—

जगतमें जो भी कार्य होते हैं उन कार्योंकी विधियाँ समझ लेना। कैसे होते हैं, कहाँ होते हैं, इन सब विधियोंको समझ लेना एक बहुत बड़ा ज्ञानप्रकाश है, जिसके बलपर यह जीव खोटी करनीसे हटकर अच्छी करनीमें पहुंचता है। यह जानना है तो इसके लिए प्रथम दो बातें समझियेगा—उपादान और निमित्त। उपादान भी एक स्वतंत्र पदार्थ है और निमित्तभूत भी एक स्वतंत्र पदार्थ है। किसीका किसीके साथ सम्बंध नहीं है। सब अपने-अपने स्वरूपमें अपना-अपना परिणमन रखते हैं, पर उपादानमें कला ही स्वयं ऐसी पड़ी है कि वह यदि अशुद्ध है, अयोग्य उपादान है, अशुद्धताके योग्य उपादान है तो वह अनुकूल परपदार्थका निमित्त पाकर अपनेमें विकार परिणमन कर लेता है। तो ऐसे विकार परिणमनकी बात भी वस्तुमें स्वतंत्र पड़ी है, पर विधि यह है कि परसंगका निमित्त पाकर उपादान अपनेमें परिणमन करता है। यह सब मेल, यह सब पद्धति अनादिसे चली आयी है, अनन्त काल

तक रहेगी। तो इस समय यहां यह जानें कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब पदार्थ केवल अपना ही काम करते हैं, दूसरेका काम नहीं करते। कैसा ही उपादान निमित्त सम्बंध हो, निमित्त नैमित्तिक भाव हो, होती रहे किसीको ही कैसी परिणतियाँ, निसपर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आपके परिणमनको ही करता है, कोई दूसरेके परिणमनको नहीं करता। अच्छा कोई किसी दूसरेके परिणमनको करता है ऐसा माननेपर दो बातें मानी जा सकेंगी। एक तो यह मानें कि द्रव्य अपना परिणमन कुछ नहीं करता किन्तु कोई दूसरा इसकी परिणतिको कर देता है। दूसरा यह मानें कि पदार्थ अपनी भी परिणति करता और दूसरे पदार्थकी भी परिणति करता, ऐसी ये दोनों बातें सही नहीं हैं। यदि ऐसा माना जाय कि कोई भी पदार्थ अपनी परिणति नहीं करता, मेरी परिणतिको दूसरा पदार्थ ही कोई करता। तब तो यहाँ अव्यवस्था बन जायगी। और परिणति भी क्या कहलायगी गुणकी? दूसरे पदार्थने स्वतंत्र होकर जो किया वह परिणति मेरी कहलायगी या दूसरेकी? ऐसा कहीं होता नहीं। सत्का लक्षण यह है कि जो स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त हो तो यह बात तो बनेगी नहीं कि पदार्थ अपना परिणमन न करे, दूसरा ही कोई परिणमन करने लगे, और दूसरी बात भी सही नहीं रहती कि कोई पदार्थ अपनी भी परिणति करे और दूसरीकी भी परिणति करे, एक पदार्थ दो परिणतियोंको नही कर सकता। केवल अपनी-अपनी ही परिणतिको पदार्थ किया करता है और इसी प्रकार दो द्रव्य मिलकर एक परिणतिको नहीं करते, पर दो पदार्थ हुए, और उनकी कोई एक ही परिणति रहे ऐसा भी नहीं। जितने सत् हैं उतने ही उनमें कार्य हैं। सभी पदार्थ अपना अपना परिणमन करते हैं, यह बात एक तथ्यकी कही।

(१८८) **विकारपरिणमनमें परसंगका ही निमित्तत्व**—दूसरी बात सुनो—कोई भी पदार्थ विकाररूप परिणमे तो उसके विकाररूप परिणमनमें निमित्त वही खुद नहीं हो सकता। विकाररूप परिणमने वाले पदार्थ खुदके विकार परिणमनमें निमित्त बने एक तो उसका स्वभाव पर्याय कहलायगा, फिर उसके हटानेका कोई पौरुष भी न जगेगा। क्योंकि वह स्वप्रत्ययक काम बन गया, खुद ही उपादान खुद ही निमित्त। जिस पर्यायका बने वह पर्याय तो स्वतंत्र शुद्ध स्वभावरूप कहलायगी। उसमें निमित्त परसंग ही होता है। कोई पदार्थ विकार रूप परिणमे तो उस परिणमनमें परपदार्थका संग निमित्त होता है, ये दो बातें तथ्यकी सामने रखी गई हैं। पुन: स्मरण कर लो। पहली बात यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही परिणमन कर सकता है दूसरेका परिणमन नहीं। दूसरी बात यह है कि कोई पदार्थ विकाररूप परिणमे तो उसमें निमित्त पर-उपाधिका संग होता है। खुद निमित्त नहीं हो सकता। अब इन दो तथ्योंके आधारपर अब क्या समझ बनावें? जैसे जीवमें रागादिक विकार हुए हैं तो उसमें उपादान तो यह जीव ही है जो रागादिक रूप परिणम रहा है। और निमित्त है राग परि-

णतिका उदय।

(१८६) विकारके स्वामित्वकी समीक्षा—अब यहां यह सोचना है कि जो राग विकार जगा है तो यह राग विकार है किसका ? जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसा उत्तर मिलेगा। रागादिक विकार चूंकि जीवका परिणमन है, वह विकार परिणमन उपादानकी परिणति है इस कारण यह कहा कि विकार उपादानका है जो जिस रूप परिणमा है वह परिणमन उसका विकार है। तो इस दृष्टिमें एक द्रव्यको देखा उसकी परिणति है, इस कारणसे यह निर्णय किया कि विकार परिणमन उपादानका है। अब दूसरे तथ्यकी दृष्टि कीजिए उपादानमें यह विकार परिणमन किया। अपने आपके स्वभावसे ही हो गया। नहीं, उसमें परसंग निमित्त है और यह दृढ़ताके साथ कह सकते हैं कि परसंग बिना विकार नहीं हुआ करते। होता है खुदमें उपादान, लेकिन परसंग बिना विकार हो ही नहीं सकता। जैसे रोज-रोज देखते हैं दर्पणमें बाहरी पदार्थका प्रतिबिम्ब आया, वह प्रतिबिम्ब रूप परिणमन दर्पणका है। लेकिन प्रत्यक्षरूप परिणमन बाहरी पदार्थका सन्निधान पाये बिना तो नही होता। एक भी उदाहरण न दे सकेंगे कि बाहरी पदार्थका सन्निधान न हो और यह उस अनुरूप प्रतिबिम्ब बना। एक भी बात नहीं दिखा सकते। सो दूसरा तथ्य भी मानकर कुछ बात बताना होगा। निमित्त सन्निधान बिना विकार नहीं होता। इस दृष्टिमे जब देखते हैं तो चूंकि निमित्त बिना नहीं हुआ, अतएव वह विकारपरिणमन निमित्तका है। दोनों प्रयोग सही है, और दोनों प्रयोगोंसे दोनों प्रकारकी शिक्षा मिलती है। निमित्तका है यह विकार। इस विकारको निमित्तके खाते में पहुंचावो। मैं तो विकारसे रहित शुद्ध चैतन्य हूं ऐसी दृष्टि जगती है। अच्छा अब तीसरी दृष्टि देखिये—निमित्त बिना विकार नहीं हुआ और उपादान बिना परिणति नहीं हुई, तब यह निर्णय बनेगा कि दोनोंकी वजहसे यह विकार बना। विकार उपादानके ढंगसे बनता और निमित्त सन्निधान बिना बन हो नहीं सकता है। तो यह विकार दोनोंका है। तीन बातें समझें। जैसे कोई बालकके बारेमें बात कहे कि यह बच्चा किसका ? तो गर्भमें आये बिना तो बच्चा वनता नहीं इसलिए माताका है और पुरुषसंग बिना बच्चा बनता नहीं इलिए पुरुषका है तो कह देना कि दोनोंकी वजहसे होता तो दोनोंका है। प्रतिबिम्बमें लगाओ। दर्पणमें लाल कपड़ेका प्रतिबिम्ब आया. प्रतिबिम्ब परिणमन दर्पणका है इसलिए प्रतिबिम्ब दर्पणका है। यह प्रतिबिम्ब निमित्त सन्निधान बिना हो नहीं सकता इसलिए कपड़ेका है, और दोनों ही बातें बन रही हैं इसलिए दोनोंका, इसलिए विकारके सम्बंधमें ये तीन उत्तर आये। ये विधिरूप तीन बातें बतायीं, अब जरा निषेध रूपसे निर्णय बनायें। विकार परिणमन उपादानका स्वभाव नहीं। जैसे दर्पणमें नाना प्रतिबिम्ब होना दर्पणका स्वभाव नहीं। तो यों

प्रतिबिम्ब दर्पणका नहीं, ऐसे ही रागादिक विकार जीवके स्वभाव नहीं, अतएव विकार जीव के नहीं। अच्छा अब दूसरे निषेधकी ओर चलो। विकार निमित्त पाकर तो हुए पर निमित्त की परिणति तो नहीं। निमित्त तो अलग अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें बना हुआ है। तो निमित्तका परिणति न होनेसे वह निमित्तका भी नहीं। अब तीसरी बात भी देखिये—दोनों का एक परिणमन हो नहीं सकता। दो द्रव्य एक परिणतिको कर नहीं सकते, इस कारण विकार दोनोंका नहीं।

(१६०) **शुद्धनयकी दृष्टिमें विकारका अभाव**—अच्छा अब जरा एक दृष्टिसे भिन्न ही निराली बात समझिये। शुद्धनयकी दृष्टिमें विकार ही नहीं। झगड़ा किस बातका बनता शुद्धनय देखता है वस्तुको सहज स्वभावमय वह भेदकी दृष्टि नहीं करता है। तो शुद्धनयकी दृष्टिमें विकार ही नहीं। देखो इन सब दृष्टियोंसे विचारने पर सब वस्तु तथ्य विदित हो जाता है। ऐसा सब जानकर इन सब वर्णनोंसे क्या शिक्षा लेनी चाहिए? सभी को यह शिक्षा मिलती है कि अपने आपका जो निरञ्जन विविक्त आनन्दधाम जो अंतस्तत्त्व है उसकी आराधना करें। यह बात निरन्तर अपनेमें बनावें और इस जगतके संकटोंसे पार हो जावें। कर्मोदयवश परिस्थिति है। परिस्थिति भी सही और उसके साथ-साथ अपने अन्दरमें अविकार ज्ञानस्वरूपकी आराधना बनावें, जीवन निष्फल न गमायें, आत्मस्वरूपकी आराधनाके बिना जीवन निष्फल जाता है। तो देखो जब यह समझा कि विकार उपादानका नहीं है तब दृष्टिमें क्या आया? आत्मस्वभाव। यह है उपादानकी शाश्वत चोज। जब यह जाना कि विकार निमित्तका नहीं, तो लो उपादानका भी नहीं, निमित्तका नहीं, ऐसा फाल्तू हो गया यह विकार। जैसे किसी सड़क पर कोई लड़का बार बार यहाँ वहाँ फिरता है तो रिक्शा तांगा वाले उसे देखकर कह बैठते हैं ना क्या तू फाल्तू लड़का है? बस ऐसे ही ये विकार फाल्तू हैं। वह सब हैरानी मचानेके लिए है। इसमें किसका लाभ? उपादानका या निमित्तका? अरे किसीका न बताओ जमकर रहे उसका बताओ। विकार उपादानमें जमकर रहते नहीं। ये निमित्तमें पाये जाते नहीं और निमित्तमें जो निमित्तका विकार जगता है वह भी निमित्त हो जायगा मगर रहता नहीं। तो जो जमकर न रहे, जो विद्युतवत् चंचल है, जिससे मेरेको कुछ लाभ नहीं उसके आग्रहमें यह मानव जीवन क्यों खोया जाय? दोनोंका विकार नहीं और शुद्धनयकी दृष्टिमें विकार है ही नहीं, ऐसा निरञ्जन विविक्त आनन्दधाम अखण्ड चित्प्रतिभासको निरखना है।

(४४)

(१९१) **वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भावमें एकत्र अविरोध**—अब तकके कुछ कथनोंमें दोनों बातोंपर बहुत प्रकाश आया है कि वस्तुस्वातंत्र्य भी है और निमित्त नैमित्तिक भाव भी है। अब इन दोनोंको जब समझा तो किसीको भी यदि यह शंका हो कि दोनोंका विषय कुछ जुदा जुदासा है, वस्तु स्वातंत्र्यमें वस्तुकी स्वतंत्रता है, निमित्तनैमित्तिक भावमें एक दूसरेका सम्बन्ध है, ऐसी दो बातें एक जगह कह रहे हैं जिस किसी भी भाईको शंका हो वह विवेकसे विचार कर समाधान कर ले। यह प्रसंग है विकारका, स्वभाव पर्यायमें तो निमित्तनैमित्तिक की चर्चा ही नहीं है। है एक कालद्रव्य निमित्त और सर्वसाधारण कहीं निमित्त पड़ा कहीं न पड़ा, ऐसी निमित्तकी ही चर्चा की जाती है। और जो साधारण निमित्त है सर्वत्र कालद्रव्य है ही निमित्त परिणमनमें, जब वहाँ व्यतिरेककी गुंजाइश नहीं तो उसको निमित्त मानकर वर्णन करनेकी पद्धति गौण हो जाती है। यह चल रहा है विकार भावका प्रसंग। विकार भाव हो तो वहां विकार रूप परिणमने वाला पदार्थ खुद परिणमता है। यह तो है वस्तुस्वातंत्र्य, और परसंग बिना, निमित्त सन्निधान बिना फल परिणमता नहीं है। यह है निमित्तनैमित्तिक योग। तो ये दोनों बातें एक घटनामें अविरोध रूपसे चल रही हैं। जीव विकारके प्रसंगमें उपादान और निमित्त क्या याने जिसमें काम हो सो उपादान और जिसके सन्निधान बिना काम न हो सो निमित्त तो हम आपके जो सुख दुःख रागद्वेषादिक उत्पन्न होते रहते हैं उसमें निमित्त है पुद्गलकर्म याने पुद्गलकर्म में जो कर्मत्वपरिणमन हुआ, कर्मका विपाक हुआ, तो यह कर्मविपाक है विकारका निमित्त।

(१९२) **कर्मकी अवस्थाओंका कर्ममें व्याप्यव्यापकभाव**—देखो कर्मविपाक किसका परिणमन है? कर्मका। कर्मोदयका उपादान कर्म है और ऐसी कर्मकी जो दशा बनी बंध उदय उपशम आदिक वे सब दशायें पुद्गल कर्मकी हैं। तो कर्मकी दशाओंका व्याप्य व्यापक भाव कर्ममें है। जैसे अंगुलीकी किसी भी चीजका व्याप्य व्यापक अंगुलीमें है, अंगुली अगर टेढ़ी सीधी हुई तो अंगुलीमें ही तो हुई, अंगुलीमें कोई रूप रस आदि बदल बने तो अंगुलीमें ही बनती। तो प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायका व्याप्य व्यापक सम्बंध उसी द्रव्यमें है। तो कर्मकी भी जितनी दशायें होती हैं उनका व्याप्य व्यापक सम्बंध कर्ममें है। तो अब कर्मविपाकमें उस विकारका निमित्त है और कर्मविपाककी विशेषतायें प्रथम तो चार हैं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। और इनका विस्तार करें तो तेरह हैं। मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर सयोग केवली गुणस्थान तक। देखो जब विकारकी बात, कर्मविपाककी बात चल रही है तब उस समयमें विकासकी ओर दृष्टि न देना, किन्तु जहाँ जो कमी रह गई उस कमीको बताना वह वह है नैमित्तिक।

जैसे अरहंत अवस्था है वहाँ अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दका विकास है, सो तो भला है, प्रभुता है और यह ही आराधनाके योग्य है। पर यह आत्मा निर्लेप क्यों नहीं है ? अभी शरीरके बन्धनमें है और इसमें अव्याबाध अवगाहना आदिक गुण अभी प्रकट नहीं हुए। इतनी कुछ कमी है ना ? तो उस कमीका कारण है कर्मविपाक, घातिया कर्म का उदय वहाँ भी है देखो तत्त्व निर्णयकी बात। भगवानकी भक्तिके समयमें यह बात नहीं कही जाती कि हे भगवान तुम्हारे अघातिया कर्मोंका उदय है, तुम शरीरके बन्धनमें अभी पड़े हो, ऐसा तो कोई नहीं कहता। यह तो एक निर्णयकी बात कह रहे हैं, प्रभुकी भक्तिमें यह कुछ न देखना चाहिए। वहाँ तो घातिया कर्मोंके विनाशसे होने वाला विकास बस यह ही इस धुनमें समाया रहता है। हाँ तो कर्मविपाकके विशेष हुए तेरह गुणस्थान मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इन सबका व्याप्य व्यापक भाव है, पुद्गल द्रव्यकर्मके साथ। कर्मकी बात समझ ली।

(१९३) **जीवकी अवस्थाओंका जीवमें व्याप्यव्यापक भाव**—अब जीवकी बात समझिये। जीव द्रव्यकी जितनी भी अवस्थायें होती है वे जीवमें होंगी कि अजीवमें ? आपका जो सुख दुःख होगा वह आपमें ही व्यापकर रहेगा कि मेरेमें उचट कर आयगा। भले ही हम आप के प्रति अनुराग रखते हैं तो आपके दुःखको देखकर हम भी दुःखी हो जायें फिर भी हम जो दुःखी हुए हैं तो हम अपने अलग दुःखमें व्यापकर हुए, और आप जहाँ दुःखी हो रहे है तो आप अपने ही दुःखमें व्यापकर दुःखी हो रहे हैं सब जीवोंकी यही बात है, तो अब देखिये कि जीवका जो स्वाभाविक विकास है वह तो जीवमें व्यापता है, इसमें कोई दो राय नहीं रख सकता। अब चलो विकारभावमें कर्मविपाक और कर्मविपाकका भेद बनाकर बताये गए चार प्रत्यय—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग; और उनके ही भेद बनाकर बताये गए तेरह विशेष प्रत्यय याने प्रथम तेरह गुणस्थान। इसको अभी कर्म की दशा रूप देखना। जीवकी बात नहीं कह रहे, याने जिस कर्मविपाकका निमित्त पाकर ये तेरह दशायें बनीं उस कर्मविपाककी ओर दृष्टि दिला रहे हैं। यह तो कहलाता है सब निमित्त और इस निमित्तका सन्निधान होनेपर इसके अनुरूप होने वाले जो जीवमें आभास है, जीवमें परिणमन है, ज्ञान विकल्प है, इस विकल्पका व्याप्य व्यापक भाव जीवके साथ है।

(१९४) **जीवदशा व कर्मदशाका स्वयं स्वयंमें व्याप्यव्यापक भाव होनेपर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावका दिग्दर्शन**—बात सीधी यों कही गई कि कर्मकी जितनी पर्यायें होती हैं उनका व्याप्यव्यापक भाव है कर्मके साथ और जीवकी जितनी परिणतियाँ होती हैं उनका व्याप्यव्यापक भाव है जीवके साथ। अब हुए ना दोनों, इतनेपर भी इन सबमें परस्पर

निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्मस्वरूप विकार कर्ममें होता तो जीवभावका निमित्त पाकर होता, विकार जीवमें होता तो कर्मविपाकका निमित्त पाकर होता, कर्म संवृत व निर्जीर्ण होता तो जीवभावका निमित्त पाकर, जीव शुद्ध होता तो कर्म क्षयका निमित्त पाकर। इतने पर भी वस्तुस्वातंत्र्य कैसा अनूठा है कि कोई सम्पर्कमें भी प्रत्येक पदार्थका व्याप्यव्यापक भाव उस ही पदार्थकी परिणतिके साथ है, अन्यके साथ नहीं है। इस प्रकार देखेंगे कि विकारकी घटनामें वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव दोनों अविरुद्ध रूपसे रह रहे हैं, इनमें से एकका अपलाप करें तो विकारकी निष्पत्ति नहीं बन सकती। जैसे कोई कहे कि वस्तुस्वातंत्र्य है ही नहीं। वस्तु क्या करे, निमित्त परिणति करता है, निमित्त उसपर हावी होता है, तो वस्तुस्वातंत्र्य नहीं माना तब फिर बात ही क्या रही ? उपादान ही नहीं तो फिर बात कहां जायगी ? किसको दुःखी होना, किसको मुक्तिका उपाय चाहिए। कुछ बात ही नहीं जम सकती, कुछ चर्चा ही अब नहीं चल सकती। और कोई कहे कि निमित्तनैमित्तिक भाव नहीं, जीव ही स्वयं अपनी योग्यतासे उस उस पर्यायरूप परिणमता रहता है, इस निमित्तसन्निधान की कोई बात ही नहीं है। तो देखो निमित्तसन्निधान बिना ये विकार होने लगें तब तो जीव के साथ विकारका पुछल्ला ही लग गया। अब उसकी निवृत्तिका क्या अवसर ? अब तो होता चला जायगा। कोई कहे कि योग्यता नहीं है तो यह सब बात कैसे बनती ? कभी यह योग्यता विकारकी रहती है और कभी नहीं रहती। योग्यता पर्याययोग्यताका नाम है, शक्तिका नाम नहीं। शक्ति द्रव्यमें होती, योग्यता पर्यायमें रहती। तो देखो वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव दोनोंका सही-सही परिचय बनावें तो उससे लाभ क्या होगा कि अपने निर्लेप निरञ्जन सहज शुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शन करनेकी उमंग जगेगी।

(४५)

(१९५) **व्यवहारचारित्रकी हेयता व उपादेयता विषयक चार प्रश्न**—यहां चार बातोंपर प्रकाश डाला गया है। व्यवहारचारित्र हेय है या उपादेय है या कब हेय है और कब उपादेय है ? व्यवहार चारित्रका अर्थ है जो निश्चय चारित्रके प्रयोजनसे चारित्रके अनुरूप मन, वचन, कायकी चेष्टायें होती हैं उनका नाम है व्यवहार चारित्र, और आत्मा आत्मस्वरूप में लीन हो जाय उसका नाम है निश्चय चारित्र। तो संसारमें परिस्थितियां जीवोंकी ऐसी हैं कि यह जीव अपने स्वरूपको प्रथम तो जानता ही नहीं। जान जाय तो उसकी धुन बनती नहीं। धुन भी बने तो उसमें लीन होते बनता नहीं। जब आत्मस्वरूपमें लीन हो सके तो

इसकी इष्ट सिद्धि कहलायगी, सर्वसिद्धि कहलायगी। अब लीन हो सकते नहीं, धुन बन पाती नहीं, ऐसी स्थितिमें यह जीव क्या करता है ? परिणति तो कुछ होगी ही। अगर व्यवहार चारित्रकी परिणति है, संयमरूप प्रवर्तन है तो यह पापसे बचेगा, कुगतियोंसे बचेगा और यह परिणति भी न रहे तो पापमें लगेगा, असंयममें बर्तेगा। तो जहां आत्मस्वरूपमें मग्नता नहीं वहां यह जीव क्या करे ? जो करना पड़ता है उस ही का नाम व्यवहार चारित्र है। तो व्यवहार चारित्र जैसे ५ महाव्रत, ५ समिति, तीन गुप्तिका पालन करना, श्रावकोंके बारह व्रतोंका पालन करना यह सब व्यवहारचारित्र कहलाता है। सो देखो व्यवहार चारित्र यद्यपि प्राक् पदवीमें है, किन्तु उसके प्रति थोड़ी बहुत आस्था हो तब तो वह पा लेगा। मगर व्यवहार चारित्रके प्रति बिल्कुल आस्था ही नहीं हो और उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखें तो वह व्यवहार चारित्रको कैसे कर पायगा ? और आप जानते हैं कि व्यवहार चारित्रमें गुजरे बिना प्रभुताकी प्राप्ति नही होती। व्यवहार चारित्र छूटने पर प्रभुता मिली, पर साथ ही यह भी बात है कि व्यवहार चारित्रमें गुजरे बिना वह छूट न हो सकी जिसके छूटनेसे प्रभुता मिलती है। इसको संक्षेपमें कहो तो इन शब्दोंमें कह लो कि व्यवहारचारित्र प्राप्त हुए बिना मुक्ति नहीं और व्यवहारचारित्र छोड़े बिना मुक्ति नहीं। तो इस व्यवहारचारित्रकी बात कही जा रही है कि यह हेय है अथवा उपादेय ? इस प्रश्नके साथ ही दो प्रश्न और जुड़े हैं—हेय है तो कब हेय है, उपादेय है तो कब उपादेय है।

(१९६) **व्यवहारचारित्रकी तीन भूमिकायें**— बात पूछी जा रही है किसकी ? व्यवहारचारित्रकी। व्यवहारचारित्रका अर्थ है—शुभ प्रवृत्ति, अशुभसे निवृत्त होना, शुभमें प्रवृत्त होना इसे कहते हैं चारित्र। तो इस प्रश्नका उत्तर समझनेके लिए पहले यह बात समझें कि व्यवहारचारित्रकी भूमिकायें तीन प्रकारकी है जिन प्रकारोंमें गत व्यवहारचारित्रको नजरमें रखकर इस समस्याका समाधान किया जा सकता। वे तीन भूमिकायें क्या हैं ? पहला—व्यवहारचारित्र, तो यह जो सम्यक्त्वसे पहले होता है। सम्यक्त्वसे पहले होने वाली शुभ प्रवृत्तिका नाम भी व्यवहारचारित्र है। उनका स्वरूप निराला है, उनका प्रभाव निराला है, ये सब बातें आगे आयेंगी और दूसरे व्यवहारचारित्रकी बात है सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहारचारित्र। इस जीवके सम्यक्त्व है और उसके शुभ प्रवृत्ति होती है तो वह हैं सम्यक्त्व के साथ होने वाला व्यवहारचारित्र। और तीसरा है—सम्यक्त्व मिटने पर होने वाला व्यवहारचारित्र। देखो मुनि महाराज होते ना उनमें गुणस्थानोंका परिवर्तन कैसे जल्दी जल्दी होता कि कहो आधा-आधा मिनटमें, अभी सम्यक्त्व है, अब सम्यक्त्व न रहा, क्षयोपशम सम्यक्त्व है। छूट गया तो क्या आधा ही आधा मिनटमें उन योगियोंकी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति

क्या नादान जैसी हो जाती है ? उनका संस्कार है, उनका विवेक है, बुद्धि है, भीतर भले ही सम्यक्त्व, मिथ्यात्व परिवर्तित हो रहे हैं, लेकिन बाहरमें जो प्रवृत्ति है वह एकदम विरुद्ध नहीं बन पाती । जैसे मन, वचन, कायकी चेष्टायें सम्यक्त्वमें भी वैसी ही सम्यक्त्व न रहने पर भी है और थोड़ी देर बाद फिर सम्यक्त्व हो जायगा । परिणामोंकी भीतरी गति विचित्र होती है तो इतनी ही जल्दी कहीं अज्ञानी जनों जैसी व्यसनी और पापी जनों जैसी प्रवृत्ति तो नहीं बन जाती । तो तीन प्रकारसे व्यवहारचारित्रके विषयमें जानकारी करनी है । ये तीन पद्धतियाँ क्या क्या ? सम्यक्त्वसे पहले होने वाला व्यवहार, दूसरा—सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार, तीसरा—जो सम्यक्त्व नष्ट हो सकता है उसके नष्ट होनेपर होने वाला व्यवहार । ये तीन प्रकारकी व्यवहारकी बातें यहाँ समझना है ।

(१८७) सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारका दिग्दर्शन—पहला व्यवहार चारित्र मिथ्यादृष्टि के हैं, जिसके सम्यक्त्व नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि है, लेकिन वह विवेकी है, सम्यक्त्वके लिए उत्साहित है, उद्यमी है, ऐसी योग्य स्थितिमें उसके मंद कषाय होती है । तो है तो वह एक शुभ प्रवृत्तिकी बात मगर सम्यक्त्व न होनेसे वह मिथ्यादृष्टिका व्यवहार चारित्र कहलाता है । अब यहीं देख लो जो कोई व्रत संयम पालन करता है उस पुरुषमें कुछ यह परीक्षा करे, यह ज्यादह दिग्दर्शन करें कि इसके सम्यक्त्व है कि नहीं, अगर सम्यक्त्व हो तो हम इनके आगे बैठें; नम्र बनें, नमस्कार करें और सम्यक्त्व न हो तो इनसे क्या मतलब ? पीठ फेरकर चलना, ऐसी निगाह नहीं होती व्यवहारमें । व्यवहारमें है एक बाह्यभेष, बाह्य बात, बाह्य प्रवृत्ति ही निरखने में आती है । यदि ऐसी भीतरी दृष्टि बनायी जाय तो तीर्थप्रवृत्ति नहीं चल सकती, फिर तो स्वच्छन्दता बनेगी । कोई एक लैन न रहेगी, कोई परम्परा नहीं रहती तो बाहरी द्रव्यलिङ्गकी प्रवृत्ति ही निरखी जाती है एक व्यवहार बनानेमें भीतरमें इसका भावलिङ्ग है या नहीं, सम्यक्त्व है या नहीं है, इस बातकी मुख्यता नहीं होती और कभी आचार्य संतोंने कहा कि भुक्तिमात्र प्रदानेतु, केवल एक आहारदान करनेमें या व्यवहार करने में उसकी भीतरकी सम्यक्त्वकी क्या परीक्षा करना वहाँ ऐसा निर्णय नहीं करना है । यही बात मोक्षमार्ग प्रकाशकमें भी पं० टोडर मल जी ने लिखा है और जहाँ तत्त्वनिर्णयकी बात है वहाँ तत्त्व निर्णयकी बात करें, व्यवहारमें व्यवहारकी बात करें तो उस व्यवहार चारित्र की बात कह रहे हैं कि जिसके सम्यक्त्व तो नहीं है, पर प्रवृत्ति निर्बाध है, मंद कषायरूप है । व्रत तप उपवासमें लगता है वह सब भी व्यवहार चारित्र है ।

(१८८) सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारकी उपयोगिता—एक बार ऐसी चर्चा हुई कि परलोक है कि नहीं है । याने मरकर इसके आगे कोई दुनिया है या नहीं ? तो एकने कहा

कि है परलोक और एकने कहा कि नहीं है, आखिरमें एक बात आयी कि यह तो बतलावो कि इस भवमें कोई जीव कुछ सुख सातासे रहता तो कैसे रहता क्रोध, मान, माया, लोभ न करें, दूसरोंमें आस्था करें, जो उत्तम प्रवृत्तियाँ हैं करें, पापसे दूर रहे, व्यसनोंमें न फंसे ऐसी प्रवृत्ति कोई रखेगा वही तो इस जीवनमें सुखी हो सकता है। तो करते ही हैं लोग, और करना चाहिए, और ऐसा करते हुएमें यदि परलोक ही होता हो तो उसको फायदा है कि नहीं। परलोकमें भी अच्छा संस्कार लेकर जायगा। तो ऐसे ही यह समझिये कि पापसे दूर होना, व्यसनोंसे दूर होना यह ही तो है व्यवहार चारित्र। अच्छे आचरणमें रहना, कषायें मंद रखना यह ही तो है व्यवहारचारित्र। अच्छे आचरणमें रहना, कषायें मंद रखना, यह ही तो है व्यवहारचारित्र। अगर सम्यक्त्व न हो और यह बात हेरते रहें कि सम्यक्त्व हो तो हम अपनी कषायें मंद करें नहीं तो फायदा क्या? सम्यक्त्व हो तब हम भगवानकी भक्ति करें नहीं तो फायदा क्या, क्योंकि सम्यक्त्व बिना भक्ति करें या व्रत करें, तपश्चरण करें तो वह बेकार चीज है, ऐसी बात हरें और ऐसा मनमें सोचें तो क्या यह स्वच्छताका भाव है, यह धर्मपरिपाटीका भाव नहीं। व्यवहारचारित्र सम्यक्त्व आदिके लाभके प्रयोजनसे किया जाता है। तो देखो जैसे लोक परलोकका एक दृष्टान्त दिया इसी तरह व्यवहारचारित्रकी भी बात समझलो। नहीं है सम्यक्त्व, मिथ्यात्व है और मंद कषाय करें, कोई पापसे अलग हटे कोई व्यसनोंसे दूर रहे तो इस लोकमें भी अशुभसे बचा और परलोक मिलेगा सो उत्तम तो मिलेगा, सुगति तो होगी, जो कमी रह गई सम्यक्त्वके धर्मके प्रसंगमें उसकी वहाँ सम्भावना तो है और कोई तीव्र राग रखे, पापमें लीन रहे, आर्त रौद्रध्यान बनाये रहे, मोह करे और हो गए पेड पौधे, रहे मिथ्यात्वमें और सम्यक्त्व न हुआ तो फिर बताओ वहाँ क्या करोगे? इसलिए सम्यक्त्वके लिए उद्यम करें, वह तो है एक उत्सर्ग मार्ग। तत्त्वज्ञान बनावें, आत्मध्यान बनावें। सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनावें, इससे पीछे न हटें। इसके बिना मोक्षमार्ग न मिलेगा। निश्चय सम्यक्त्व, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र बिना मुक्ति नही मिलती, लेकिन इस ही की बात सोचते रहें कि ऐसा भाव हो तब ही सदाचार करेंगे तो उसकी स्थिति क्या होगी, इसलिए व्यवहारचारित्र जिनके होता है उनके सम्यक्त्व भी नही हो तो भी पापकी उपेक्षासे तो फायदेकी ही बात है इसलिए उससे हटना नहीं, उसमें रहकर उद्यम करें आत्मदर्शनका, आत्मज्ञानका, आत्मानुभवका। यह और बनाओ उद्यम, तो ऐसी ही स्थितिमें वह पहली बात बतायी जायगी कि मिथ्यादृष्टिके व्यवहारचारित्र होता है तो उसके सम्बंधमें ये चार समस्यायें आयेंगी। उत्तर होगा कि क्या वह हेय है, क्या वह उपादेय है, वह कब तक हेय है, कब तक उपादेय है? इसका वर्णन अगले निबंधमें आयगा। अभी तो उन तीन प्रकार

की बातोंकी एक प्रस्तावना समझायी । तो जो सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारचारित्र हैं वे बाह्य प्रवृत्तियोंकी समानता होनेसे उपचरित है । वह यथार्थ चारित्र तो नहीं है । जो अज्ञानीके व्यवहारचारित्र हैं वे यथार्थ न होनेपर भी उपचरित हैं और उससे भी किसी अंशमें लाभ है तो ऐसा उपचरित व्यवहारचारित्र है प्रथम भूमिकाका ।

(१९९) **सम्यक्त्वसहभावी व सम्यक्त्वविलपजात व्यवहारचारित्रकी भूमिका**—दूसरा व्यवहारचारित्र बतलाया था क्या ? सम्यक्त्व सहभावी, सम्यक्त्वके साथ होने वाला व्यवहार चारित्र । सम्यक्त्वका अर्थ है समीचीनता, स्वच्छता याने आत्मामें विपरीत अभिप्राय न रहे और एक स्वच्छ आशय बन जाय उसे कहते हैं समीचीनता । तो जो व्यवहार चारित्र जो सम्यक्त्वके साथ रहता है उसके सम्बंधमें चार प्रश्नोंका समाधान होगा कि वह हेय है या उपादेय है, या कब तक हेय है, कब तक उपादेय है । तीसरा व्यवहार चारित्र बताया गया जो सम्यक्त्व नष्ट होनेपर होता । यह अधिक विलम्बके बादकी बात नहीं कह रहे कि सम्यक्त्व नष्ट हुआ हो दस हजार वर्ष पहले और बादकी बात कह रहे हों । क्षायिक सम्यक्त्व तो सदा रहता है, शेष सम्यक्त्वका और मिथ्यात्वका तो कुछ पता नहीं क्षण-क्षणमें परिवर्तन होता है मगर उस योगीकी मुद्रा प्रवृत्ति वचन सब योग्य बनती है, सही बनती है, ऐसा नहीं है कि व्याख्यान दे रहा कोई योगी और आधा मिनटमें ही सम्यक्त्व न रहे तो वह कोई व्यसनी पापी जीवों जैसा बोलने लगे, ऐसा तो नहीं हो सकता है । तो सम्यक्त्वके नष्ट होते ही शीघ्र ही तुरत बाद ही जो चारित्र चल रहा है उस व्यवहारचारित्रके सम्बंधमें भी चार प्रश्न उठेंगे कि वह हेय है या उपादेय है या कब-कब हेय है, कब कब उपादेय है, तो ऐसा जो यह तृतीय व्यवहार चारित्र है यह है संस्कार रूप । वह तो आता ही है । जो आता ही है । जो अपनी बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रामें अपना तपश्चरण कर रहा, कभी सम्यक्त्व है, कभी नहीं है । ऐसा होनेपर भी जिस काल सम्यक्त्व नहीं है उस कालमें भी जो उसकी प्रवृत्ति है शुभ प्रवृत्ति है वह व्यवहारचारित्र है । संस्कारवश आपतित है, होता ही है इस तरह तीन प्रकारके व्यवहार चारित्रके सम्बंधमें प्रश्न होंगे । उनके उत्तर भिन्न-भिन्न आयेंगे ।

•••o○o•••

(४६)

(२००) **सम्यक्त्वप्राग्जातव्यवहारकी उपयोगिताका दिग्दर्शन**—सम्यक्त्वसे पहले होने वाले व्यवहारचारित्रके बारेमें उत्तर लीजिए, वह हेय है या उपादेय ? या कब हेय है व कब उपादेय ? तो पहले यह समझिये कि ऐसे व्यवहारचारित्रका मालिक कौन ? मिथ्यादृष्टि

जीव । तो ऐसे व्यवहारचारित्रका आरम्भ करने वाले मिथ्यादृष्टि जीवको आवश्यकता क्या थी जो ऐसा शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र पाल रहा है । आवश्यकता तो है । कमसे कम इतनी बात तो मिले कि अशुभोपयोगसे बच जाय, पापोंसे, व्यसनोंसे, क्रूरतावोंसे बच जाय । इसके लिए भगवानकी भक्ति, भगवानकी पूजा ये सब करता है । कौन ? यह बोल रहे हैं मिथ्यादृष्टिकी बात । जिसके विवेक जगा है, कुछ उमंग जगी है, कुछ सुन्दर भाव रहते हैं और नहीं है सम्यक्त्व, ऐसा जीव जो प्रभुभक्ति करे, तपश्चरण आदिक करे वह व्यवहारचारित्र कहलाता है । तो इस चारित्रमें रहकर इतना लाभ तो स्पष्ट नजर आता है कि वह पापसे बचा, व्यसनोंमें बचा । तो अशुभोपयोगसे बचनेके लिए और पापके क्षोभसे बचनेके लिए तीव्र कषायके संतापसे बचनेके लिए यह व्यवहार चारित्र होना सो उनको यह व्यवहारचारित्र उपादेय है । कितना उपादेय [illegible] कि पापसे बचें, अशुभोपयोगसे बचें, इस दृष्टिमें यह व्यवहारचारित्र उपादेय है. जिसका फल यह मिलना है कि नरक आदिक दुर्गतियोंके कारणभूत पापसे बच जाता है महापाप इसके नही बँधता, नरक आदि खोटी गतिमें जन्म लेनेकी नौबत इसके नहीं आती और उससे लाभ क्या है कि तीव्र संक्लेशसे असातासे यह दूर हो जाता है । तो सब लोग देखते ही हैं, जो प्रभुभक्तिमें लगे, जो पुरुष तप संयममें लगे उसके अनेक संताप बच सकते हैं, दूर हो जाते हैं । और उस समय एक बहुत सुन्दर वातावरणमें रहनेका मौका मिलता है । साधु संतोंका समागम मिलता है । प्रभुदर्शन प्राप्त होता है सच्चा उपदेशका अवसर भी मिलता है । एक जैसे मोटी बात भी समझ लो कि जो कभी मन्दिर भी नहीं आते, उनको अधिक त्यागी व्रती संतोंका संग नहीं मिलता तो उनको अवसर मिलना कितना कठिन है, और जिनको संत समागम मिलता रहता है उनको अपने आत्मोद्धारका अवसर पाना सुगम है । और उस समय सम्यक्त्वका लाभ पा सकते हैं । और फिर सम्यक्त्वका लाभ मिलनेपर व्यवहारचारित्र जो बनेगा उसका यथार्थ चरित्र बन जायगा । तो देखो किन्हीं अंशोंमें लाभ है ना व्यवहार संयम रखने से । यह पहली बात है ।

(२०१) **सम्यक्त्वप्राग्जात व्यवहारचारित्रकी उपादेयताकी अवधि**—अब दूसरी बात समझो कि यह व्यवहारचारित्र उपादेय है याने जो प्राप्त करने योग्य है सो कब तक पालने योग्य है ? क्या सदाके लिए ? इसका समाधान तो साधारण शब्दोंमें समझो, जहाँ पुजारी भगवानकी पूजा कर चुकता है और अन्तमें जब विदाई लेता है तो वह स्तवन करता है—"तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वयलीनं । तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ॥" याने हे प्रभो ! जब तक मेरेको निर्वाणकी प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदयमें रहें, मेरा हृदय आपके चरणोंमें रहे । आप सोचेंगे कि भगवानकी भक्तिमें, और ऐसी

अवधि बता दी तो इसके मायने है खुदगर्जी। जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक हे भगवान मेरा हृदय आपके चरणोंमें रहे और आपके चरण मेरे हृदयमें रहे। कब तक? जब तक मोक्ष न मिले। और मोक्ष मिले फिर? तो जैसे लोग कहते हैं—अंगूठा दिखा दिया, कोई समझे कि यह इस ढंगसे प्रभुसे बोल रहा है, लेकिन इसमें भी भक्ति है याने प्रभुके स्वरूपको निरख रहे हैं कि कैसा आनन्दमय निरपेक्ष शुद्ध स्वच्छ स्वरूप है उसकी ही तो भक्ति कर रहे हैं और उसकी भक्ति करनेमें यह ही कहे कि अनन्तकाल तक प्रभुके चरणोंमें मेरा हृदय रहे। तो इसके मायने है कि प्रभुका स्वरूप ही नहीं समझ पाया। तो वह तो प्रभुस्वरूपकी समझका ही समर्थन है। उससे ही आप समझ लीजिए कि जहाँ भक्तिको यह बताया कि यहाँ तक उपादेय है तो ऐसे ही इस व्यवहार चारित्रकी तो बात ही क्या कहें? यह तो अज्ञान अवस्थामें होने वाला है। तो यह कब हेय है और कब उपादेय है? तो देखो उपादेय तो तब तक है जब तक सम्यक्त्वका लाभ न हो, यथार्थ पंथ न मिले, विशुद्ध चारित्र न जगे तब तक यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। अन्यथा सम्यक्त्व तो जगे नहीं और व्यवहारचारित्र करे नहीं, तो क्या स्थिति होगी इस जीवकी। इससे यह व्यवहारचारित्र तब तक उपादेय है जब तक इस जीवकी गैल ठीक नहीं लगती, सम्यक्त्व नहीं जगता, यथार्थ चारित्र नहीं बनता और ऐसी ही तीर्थकी प्रवृत्ति चलती है। तो यह व्यवहारचारित्र सम्यक्त्वसे पहले है ना? तो मोक्षमार्गका साधक नहीं है। अज्ञान अवस्थामें होता है यह व्यवहारचारित्र। इससे मुक्तिका मार्ग नहीं मिलता, फिर भी यह सम्यक्त्वप्राप्तिका एक बाह्य साधन तो है ही। अच्छे संयमसे रहें, मंद कषायसे रहें और उमंग बनायें मोक्षकी तो ऐसी बात वहाँ जगती है तो सम्यक्त्व लाभकी पात्रता तो है वहाँ। जो व्यवहार संयममें रह रहा यह जरा अंतः और पुरुषार्थ बनाये। भेदविज्ञानका, अपने सहज शुद्ध अंतस्तत्त्वके ध्यानका और उस ही परिस्थितिमें रहकर इसे सम्यक्त्व जग गया तो यह टोटेमें रहा क्या? कहीं व्यवहार चारित्र होनेसे सम्यक्त्वका विरोध नहीं होता कि यह तो तपश्चरणमें, भक्तिमें लग गया, अब सम्यक्त्व कैसे हो? वह तो एक अन्तः पौरुष द्वारा साध्य बात है। तो सम्यक्त्वकी पात्रता बनानेका वह साधन है। तब? जब तक आत्मदर्शन नहीं है तब तक तो यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। देखो सभीने ऐसा ही कुछ व्यवहार किया। जो बड़े ज्ञानी बन गए, जो बड़े परम शुद्धनयकी बात करें उन्होंने भी ऐसा ही किया था। व्यवहारचारित्रमें भक्ति वगैरह सब कुछ करते थे, सत्संग मिला, समाधान मिला, ज्ञान जगा, सम्यक्त्व हुआ। इन सभीको ऐसी ही बात समझना चाहिये। तो यह व्यवहारचारित्र सम्यक्त्व न जगने तक, आत्मदर्शन न होने तक इस जीवके चलना चाहिए। तो तब तक यह उपयोगी है और सम्यक्त्व होनेपर यह चारित्र स्वयं

हेय हो जाता है। फिर अज्ञानपूर्वक जैसा कुछ चारित्र चलता था वह नहीं रहता, फिर तो सम्यक्त्व सहभावी व्यवहारचारित्र चलेगा। देखो अपनेको मिलना चाहिए कल्याणमार्ग। वह जैसे मिले वैसा करें, उसीके लिए यह उद्यम है कि व्यवहारसंयम व्यवहारचारित्र पाकर और भीतरमें आत्मज्ञान, आत्ममग्न होनेकी कोशिश करें, इस प्रकार सम्यक्त्व हुए बाद यह व्यवहारचारित्र हेय हो जाता है और फिर यथार्थ व्यवहारचारित्र कथंचित् उपादेय बन जाता है।

—o—

(४७)

(२०२) **सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्रकी उपयोगिता**—यहाँ यह बतला रहे हैं कि सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्र हेय है या उपादेय ? हेय है तो कब हेय है तो कब उपादेय है। इस समस्याका समाधान पानेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि सम्यक्त्वसहभावी व्यवहार चारित्रका मूल प्रयोजन है क्या ? इस चारित्रका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वमें जिस स्वरूपका अनुभव किया है उस स्वरूपका अनुभव स्थायी हो जावे। सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ज्ञानानुभूतिपूर्वक। सम्यक्त्वसे ज्ञानानुभूतिका सही बोध बना, राग स्वरूपका अनुभव ही तो किया, और शान्ति साता भी इस जीवको तभी है जब यह अपनेमें ज्ञानस्वरूपका सही अनुभव बना लें। यद्यपि कुछ अच्छी परिस्थितियोमें लगता भी है कि मैंने बड़ी दुर्लभतासे यह मानव जीवन पाया है, धर्माराधनामें शान्ति मिलती जाती, मेरेको आत्माका अनुभव बनता है, किन्तु बहुत सी जगह मात्र कल्पना है, जब तक जोवके चित्तमें मूलमें मोह बसा है, किसी भी परद्रव्यके प्रति आस्थाका भाव है, इस परवस्तुके निर्णयकी, इस इष्टकी सिद्धि होनेसे मेरा बड़प्पन है, ऐसा जब तक चित्तमें मूलमें मोह बसा हुआ है तब तक भले ही ऐसा लगे कि मैं धर्मकी आराधना सही कर रहा हूँ, लेकिन निर्विकल्प सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव नहीं होता। तो सम्यक्त्वमें जिस स्वरूपका अनुभव किया उस स्वरूपका अनुभव स्थायी बने यह है प्रयोजन व्यवहार चारित्र पालन करनेका। तब इससे यह सिद्ध हुआ कि जब तक उस स्वरूपका अनुभव स्थायी न हो जाय, जब तक समाधि भावका विकास न हो जाय तब तक यह व्यवहारचारित्र उपादेय है। प्रवचनसारमें भी अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट किया है कि 'हे त्रयोदश विध चारित्र तुम्हारी परिस्थिति हममें तब तक रहे जब तक कि मैं तुम्हारे प्रसादसे इस सहज स्वभावमें मग्न न हो जाऊँ। तब तक मैं तुम्हारा आदर करता हूं'। व्यवहारचारित्रका प्रयोजन है ज्ञानानुभवकी स्थिरता बने। सोजब तक इस प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होती है तब यह चारित्र उपादेय है और जब इस प्रयोजनकी पूर्ति हो जाती है याने समाधिभाव हो जाता है तब यह

व्यवहारचारित्र स्वयं हेय हो जाता है । व्यवहारचारित्र हेय है ऐसी बुद्धि बनाकर कोई व्यवहारचारित्र पाले तो कैसे पाल सकता है ? हाँ प्रयोजन जरूर समझे । व्यवहारचारित्रका प्रयोजन यह है कि आधि व्याधि उपाधि रहित जो आत्माका समाधिभाव है उसकी प्राप्ति हो जाय उसके लिए ही यह प्रवृत्ति चल रही है । तो वहाँ स्वयं ही यह बात आ जाती है कि यह व्यवहारचारित्र तब तक ही उपादेय है जब तक कि व्यवहार चारित्रसे विविक्त सहज समाधिभाव प्राप्त नहीं हो जाता । समाधिभाव होने पर यह व्यवहार चारित्र स्वयं हेय हो जाता है यह जीव व्यवहारचारित्रका पालन करता हुआ भी चूंकि इसके सम्यग्ज्ञानका अभ्युदय हुआ है सो ऐसा ज्ञायकभाव रूपतामय अपनी प्रतीति रखता है कि जो व्यवहारचारित्रके विकल्पसे विविक्त है । सहज स्वभावकी श्रद्धा है, व्यवहार चारित्रके विकल्पसे विविक्त सहज ज्ञायक स्वभावकी प्राप्तिकी धुनमें उसकी प्रवृत्ति ऐसी शुभ हुई कि वृत्ति पापोंसे छूट गई । व्यसनोंसे छूट गई और सदाचारमें लग गई । यह ज्ञानी जीव है इसने अपनेमें सम्यक्त्वका अभ्युदय पाया है । तो यह अब धुन रख रहा है कि यह मैं इस सहज चैतन्यस्वभावमें मग्न होऊँ । यह उपयोग अपने स्वभावको छोड़कर अन्य किसी बाह्य पदार्थमें लगता है तो यह बड़ा कष्ट पाता है । और कष्ट पानेकी बात प्राकृतिक है कि अपने स्वरूपको, अपने स्वभावको तो छोड़ दिया अर्थात् निज सहज स्वरूपमें तो आत्मस्वरूपका परिचय नहीं बनाया और यहांसे हटकर बाहरी पदार्थोंमें ही उपयोग लगे तो इसे कष्ट होना स्वाभाविक ही है । तो अज्ञानी जीव ही बाहरी पदार्थोंकी ओर निरखते हैं ।

(२०३) सम्यक्त्वसहभावी व्यवहारचारित्रविषयक समस्याओंके समाधानका निष्कर्ष— जो ज्ञानी जीव हैं सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे तो अपने आपके स्वरूपमें ही धुन रखते है, ऐसी धुनमें रहने वाला यह ज्ञानी जीव चूंकि मन, वचन, कायकी चेष्टासे तो अलग हुआ नहीं, ऐसी योग्यता है, ऐसी कमजोरी है कि मन, वचन, कायकी चेष्टा होली चले तब दो स्थितियाँ सामने हैं, निज ज्ञानस्वभावमें मग्न होनेकी धुन है और मन, वचन, कायकी चेष्टा हो रही है तो ऐसी दो स्थितियोंमें अंतरंग स्थिति है आत्ममग्न होनेकी धुन, बाह्य परिस्थिति है मन, वचन, कायकी चेष्टा, ऐसी स्थितिमें इस ज्ञानी जीवकी क्या चेष्टा होती है कि वह व्यवहारचारित्रका पालन करने लगता है । पाप तो बन नहीं सकता । असदाचार, दुराचार तो उससे हो नहीं सकता, क्योंकि निज ज्ञानस्वभावमें मग्न होनेकी इसकी धुन बन गई । और चेष्टायें होती अवश्य हैं । तो वहाँ मन इस प्रकार प्रवृत्ति करता है, जहाँ प्रभुके स्वरूपकी भक्ति रहे, सर्व जीवोंमें मैत्रीभाव रहे गुणी जनोंको देखकर हर्षभावका अभ्युदय हो, दुःखी संसारी जीवोंको देखकर उनमें प्रमोद भाव जगे और विपरीत बुद्धि वालेको देखकर माध्यस्थ भाव रहे । ऐसी परिस्थितिमें यही तो

व्यवहारचारित्र है और वृद्धिगत होता है। पापसे विरक्त हो गए, व्रत तप संयममें प्रगति हो गई, यह सब हो रहा है इस धुनमें कि इस निज ज्ञानस्वभावमें मग्न होवें। देखिये प्रयोजन जिसका सच्चा है उसकी प्रवृत्ति उस अनुरूप होती है, और कदाचित् कुछ थोड़ा लाईनसे भी बाहर हो जाय तो भी प्रयोजन सच्चा होनेसे वह सब सही बात बन जाती है। जो कुछ वहां त्रुटि है वह दूर हो जाती है और अपने आपके सही मार्गकी वृत्ति जग जाती है। लोकव्यवहारमें यह भी तो बात देखी जाती है कि जिसका अभिप्राय मित्रताका है, दूसरे मित्रके प्रति हितका परिणाम है और उस हितकी चेष्टामें कोई चेष्टायें ऐसी हो जायें कि उसमें हितसे अलग लाईन बन जाय तो भी वह मित्र उसको क्षमा करता है। उससे द्वेष नहीं रखता है। जानता है कि आशय तो एक ही प्रकारका है तो मोक्षमार्गका जिसका आशय बन गया है वह पुरुष मोक्षमार्गकी धुनमें ही व्यवहार-चारित्रका पालन करता है और मेरी तो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार आदि सभीके प्रति यही भावना है कि हे दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, तुम्हारे प्रसादसे मैं तुम्हारे विकल्पसे रहित सहजस्वभावमें मग्न हो जाऊँ इसके लिए मैं तुम्हारी तब तक उपासना करता हूं जब तक कि मैं निर्विकल्प न हो जाऊँ। समझ गए अब कि व्यवहार चारित्र निर्विकल्प अवस्था न प्राप्त होने तक उपादेय है और जब व्यवहारचारित्रके प्रसादसे विविक्त निष्क्रिय चैतन्यस्वभावमें मग्नता होती है तो यह व्यवहार चारित्र भी स्वयं हेय हो जाता है। इस प्रकार इन चार प्रश्नोंका यह उत्तर आया कि सम्यक्त्व सहभावी चारित्र चूंकि एक विकल्परूप है इस कारण हेय है और समाधिभावकी धुनमें हुआ है इसका प्रयोजन समाधिभाव है, इस कारण यह उपादेय है। जब तक समाधिभाव न हो जाय, निर्विकल्पदशा न हो जाय तब तक यह उपादेय है और जब निर्विकल्प दशा हो जाती है तब यह व्यवहार चारित्र स्वयं हेय हो जाता है।

(२०४) **सम्यक्त्वपाश्चाज्जात व्यवहारचारित्रका निर्देश**—जब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक सम्यक्त्व नहीं होता तब तक सम्यक्त्वकी स्थिति निष्कम्प नहीं होती। सम्यक्त्व तीन प्रकारके होते हैं——१– उपशमसम्यक्त्व, २– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ३– क्षायिक सम्यक्त्व। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इन ७ प्रकृतियोंके उपशमसे होने वाले सम्यक्त्वको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं, जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है व सम्यक्त्व पाकर हटकर जो सम्यक्त्वप्रकृतिकी व मिश्रप्रकृतिकी उद्वेलन कर चुके जीव है तो उनके ५ प्रकृतियोंका उपशम होता है। उपशम सम्यक्त्वके दो भेद हैं– (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व और (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। मिथ्यात्वके बाद जो उपशम सम्यक्त्व है वह प्रथमोपशम सम्यक्त्व है और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिके उपशम सम्यक्त्व हो तो

उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्व अनन्तानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ७ प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय हो और उनका भावी का उपशम हो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इसमें भी दो विधियाँ हैं, इसका दूसरा नाम वेदकसम्यक्त्व है, तो वेदकसम्यक्त्व तो बहुत काल तक चलता है और अन्तमें जब क्षायिकसम्यक्त्व होनेको हो तो अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें चूंकि सम्यक्प्रकृतिका उदय नही रहता, क्षयके लिए ही बात चलती है, उस समय इसका शुद्ध नाम है क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। तो ये दोनों सम्यक्त्व अस्थिर हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी मिट जाता है। अब किसी योगीके सम्यक्त्व हुआ और व्यवहारचारित्रमें भी चल रहा है, व्रत, समिति, गुप्ति का पालन कर रहे तब सम्यक्त्व है, क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है और क्षण भरमें क्षयोपशम सम्यक्त्व न रहा, मिथ्यात्वका उदय आ गया तो ऐसे भीतरी परिणामके बदलनेसे अभी उसकी बाहरी बाह्य क्रियावोंमें अंतर नहीं आ पाया। भले ही अव्यक्त आशय कुछ है लेकिन जो तपश्चरण व्रत पालन समितिका पालन आदिक जो कुछ भी चल रहा था उसका बराबर संस्कार है और वह संस्कारवश वैसा ही व्यवहार क्रियाकाण्ड कर भी रहा है। तो अब मूल दृष्टिसे देखें तो सम्यक्त्वके साथ रहने वाला व्यवहारचारित्र वह सम्यक्त्व सहभावी यथार्थ है और सम्यक्त्व न रहनेपर हुआ जो व्यवहार चारित्र है वह जैसा आत्मामें आशय है इस प्रकार नहीं है फिर भी याने मिथ्यात्वका उदय होनेपर सम्यक्त्व नष्ट हो भी गया तिसपर भी संस्कारवश प्रवृत्ति पूर्वक व्यवहार चारित्र चलता रहता है।

(२०५) **सम्यक्त्वपाश्चाज्जात व्यवहारचारित्रकी उपयोगिताका दिग्दर्शन**—हाँ तो यह जो व्यवहारचारित्र हुआ, सम्यक्त्वका विलय होने पर जो व्यवहारचारित्र चल रहा है इसमें भी लाभ है कि नहीं, यह भी विचारें। यह तो परिणामोंकी बात है। नहीं रहा सम्यक्त्व और है योगीनिर्ग्रन्थ साधु, अपने आवश्यक कार्योंका पालन कर रहा है तो उसकी प्रवृत्ति क्या पापमय हो जायगी ? क्या दुराचाररूप हो जायगी ? नहीं। वही व्यवहारचारित्र करता है और उस व्यवहारचारित्रके प्रसादसे उसमें ऐसी योग्यता पात्रता रहती है कि पुनः सम्यक्त्व पैदा कर ले, मोक्षके मार्गमें फिर लगे, ऐसा अवसर मिलता है। और जो उल्टा ही क्रियाकाण्ड कर बैठे तो यह मोक्षमार्गसे बिल्कुल उल्टा ही हो जायगा। तो सम्यक्त्व न रहा तिसपर भी कोई व्रत, समिति, गुप्तिका पालन करे तो वह उसके लिए लाभके लिए ही है, हानि उसे नही है, जो टूटा भीतरमें सम्यक्त्व वह फिर बनेगा, मोक्षमार्गमें लगेगा और प्रगति कर लेगा इस कारणसे सम्यक्त्व पाश्चाज्जात व्यवहारचारित्र भी होता ही है, होना ही चाहिए, क्योंकि उसके प्रसादसे फिर वह अपने भावकी संभाल करने लगेगा। उस

व्यवहार चारित्रमें मंदकषाय रहती है । देखो व्यवहारमें भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें न जगें तो इस जीवको कल्याण है और क्रोध मान माया लोभ आदि कषायें जगती हैं, तो चूंकि कषाय एक ऐसा आन्तरिक दुराचार है कि कषायमें कषाय बढ़नेका ही उत्साह मिलता है । कषायसे निवृत्त होनेकी बात कषायमें नहीं आ पाती है इसलिए कषायका अंश भी जगे तो भी जीवके अहितके लिए है । सो व्यवहार चारित्र जो यह बन रहा है साधुजनों के वहाँ सम्यक्त्व नहीं है तब भी लाभके लिए ही है । सम्यक्त्व हो तो मोक्षमार्गके लाभके लिए है । सम्यक्त्व न होने पर व्यवहार चारित्र हो तो विशुद्ध वातावरणके लाभके लिए है । तो यह व्यवहार चारित्र हेय है या उपादेय है जो सम्यक्त्वके विलय होने पर व्यवहार चारित्र किया जा रहा है वह भी कदाचित् उपादेय है किन्तु उसे न करें और अशुभरूप प्रवृत्ति बने तब तो जीवका अकल्याण ही है । ऐसी स्थितिमें व्यवहार चारित्र उसके ऐसे वातावरणको बनाता है कि जिसमें सम्यक्त्वका लाभ हो और मोक्षमार्गमें गति हो. इसलिए यह व्यवहारचारित्र पुनः सम्यक्त्वलाभ होने तक उपादेय है । फिर तो सम्यक्त्व जगे तब इसके सम्यक्त्व सहभावी व्यवहार चारित्र हो जायगा । सो वह भी समाधिभाव न हो तब तक इसको उपादेय है । अर्थात् जो सम्यक्त्व उत्पन्न होनेपर चारित्र जगा वह तो यों उपादेय है कब तक ? समाधिभाव न प्राप्त होने तक कि उस व्यवहार चारित्रके प्रसादसे यह जीव व्यवहार चारित्रके विकल्पसे रहित सहज ज्ञानस्वभाव समाधिमें लग जायगा और सम्यक्त्वका विनाश होने पर होने वाला व्यवहार चारित्र उपादेय है, कब तक. जब तक कि सम्यक्त्व नहीं जगता क्योंकि उस व्यवहार चारित्रसे वातावरण विशुद्ध बनता है, धार्मिक प्रसंग प्राप्त होता है और तत्त्वज्ञानस्वाध्याय आवश्यक आदिक क्रियावोंमें लगता है, तो उस उपयोगमें रहकर यह जीव पुनः मोक्षमार्गमें आ सकता है । ऐसी वहाँ विशेष भावना है, इसी कारणसे सम्यक्त्व विलयजात व्यवहार चारित्र भी मोक्षमार्ग न पाने तक उपादेय है ।

(२०६) **धर्मपालनका प्रयोजन सकलसंकटोंसे मुक्ति**—यहाँ संक्षेपमें यह समझना कि जीवका हित पापसे हटनेमें है मोहसे हटनेमें है, कषायसे दूर होनेमें है । इस जीवने अनादिकालसे अब तक मोह कषाय विषय पाप इनमें ही प्रवृत्तिकी है और इस प्रवृत्तिके कारण यह जीव विकट कर्मबंध करता रहा और उनके उदयकालमें उनकी वैसी ही बुद्धि जगती रही और यह जीव अपना अनर्थ करता रहा । अब इस जीवको कल्याण चाहिए तो अपनी पुरानी कुटेवोंसे अलग होना पड़ेगा । सर्वप्रथम बात यह है कि अपने आत्मस्वरूपका ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे निराला धन सम्पदासे भी निराला, शरीरसे भी निराला केवल चैतन्य स्वरूपमात्र हूं । अरे भव छूटनेपर जो जीव अकेला जाता है उसका ही निर्णय बना लें

कि जो चीज जीवके साथ नहीं जाती वह चीज इस जीवकी कुछ नहीं है और फिर अधिक अन्तर्दृष्टि करके निहारो कि जीवके साथ जो उपाधि या और कषाय संस्कार चल रहे हैं वे भी मुझ जीवके नहीं हैं। मेरा तो वह स्वरूप है जो मेरे साथ सदा रह सकता है। वह है ज्ञान और दर्शन उपयोग यह ही मेरा स्वरूप है। तो इस रूप हम आपको अनुभव बने तो प्रवृत्ति इसके अनुसार बनेगी। और इस रूप अपनेको न अनुभव करे, संसारकी अनेक दशाओंरूप अपने को माने तो उसमें उल्टी प्रवृत्ति चलेगी। इससे भाई एक अपने आपको ऐसा अनुभव करे कि मैं अमुक गांवका नहीं, अमुक नहीं, किसी का दादा बाबा नही, किसीका मैं कुछ नहीं शरीर भी मेरा नहीं। सबसे निराला एकस्वरूप मात्र, चैतन्यस्वरूपमात्र, परमार्थ सत् आत्मपदार्थ हूँ। उस आत्मपदार्थकी भावना बनायें और ऐसी ही दृष्टि रखकर सर्वसंकटोंके दूर होनेका पौरुष कीजिए। धर्मपालनका प्रयोजन यह ही संकट हीन दशा है। मगर संकट दूर नहीं हो सकते जिस पौरुषसे वह पौरुष करना व्यर्थ है, और उसका धर्म नाम नहीं हो सकता। धर्म तो कहते ही उसे हैं जो संसारी जीवोंको दुःख से छुड़ाकर उत्तम आनन्दमें पहुंचा दे उसका नाम है धर्म। कौन पहुंचा दे ? तो धर्मका स्वरूप ही बताता है। धर्म कहते हैं उसे जो जिसका स्वभाव हो। पदार्थ अपने आपके जिस स्वभावको धारण करता है वह उसका धर्म है। मैं आत्मा चैतन्यस्वभावमय हूं। मेरा धर्म चैतन्यस्वरूप है और चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि बनाना, उस रूप अपनेको अनुभवना यही धर्म पालन है। ऐसा धर्मपालन जो जीव करता है उसको नियमसे सकल संकटोंसे मुक्ति प्राप्त होती है।

•••○○•••

(४९)

(२०७) **देह, कर्म व विकारसे छुटकारा पानेके उद्यममें प्रथममें पौरुष मलत्रयविविक्त अविकार अन्तस्तत्वका अवलोकन**—इस जीवकी भलाई है मोक्ष पानेमें जहां शरीर कर्म, विकार इन तीनोंसे छुटकारा हो जाता है और केवल ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही रह जाता है, वहां वास्तविक कल्याण है, अब उनको कोई संकट नहीं। तो आत्माकी भलाई है मोक्षमें और मोक्षमें ही अनाकुलताका उत्तम सुख है। और अनाकुलता किसको व कैसे मिले वह मुक्ति भी किसको व कैसे मिले इसके लिए क्या आवश्यक है आत्म द्रव्यमें सो एक युक्तिसे विचारें। जैसे चौकी पर कूड़ा बीट सब कुछ पड़ा हुआ है तो उसे देखकर मनमें इच्छा हुई कि इसको साफ किया जाय ? तो कौन साफ करेगा ? जिसको यह श्रद्धा होगी

कि चौकीका स्वरूप तो चौकीमें है, यह बीट कूड़ा जो पड़ा है यह बाहरकी चीज है। यह चौकीकी निजकी चीज नहीं है, और जब यह चौकीकी निजकी चीज नहीं है बीट कूड़ा वगैरह तो थोड़े उद्यमसे ही इसे हटाया जा सकता है। जिसको यह श्रद्धा है वही तो चौकी को धोता है। तो ऐसे ही समझिये कि जिन तीन मलोंका अभाव हुआ है सिद्ध भगवानमें कौनसे तीन मल ? शरीर, कर्म और विकार और ये ही हम आपके तीनों चल रहे हैं, शरीर भी लदा है, कर्म भी बँधे हैं, विकार भी चल रहा है, तो इन तीनोंकी सफाई हुए बिना, इन तीनोंसे छुटकारा पाये बिना जीव मुक्त नहीं होता। तो किसे मुक्त होना चाहिए ? कौन होगा ? जिसको यह श्रद्धा बनी हो कि मैं जो आत्मा हूं सो मैं आत्मा स्वरूपतः इन तीन बातोंसे जुदा हूं। मेरे स्वरूपमें देह नहीं, मेरे स्वरूपमें कर्म नहीं। मेरे स्वरूपमें विकार नहीं, ये तीनों ही बाह्य चीजें हैं, पर और परभाव हैं, ऐसी जो श्रद्धा रखता हो वही इन तीनोंको साफ कर सकता है। तो देखो यहाँके कूड़ा बीटको साफ किया गया पानीसे और साफ किया किसी पुरुषने, पर यहांका जो एक कूड़ा करकट है शरीर कर्म विकार इनको साफ किस चीजसे किया जायगा ? किसी औजारसे नहीं। किसी बाह्य प्रवृत्तिसे नहीं, किन्तु अपने ज्ञान बलसे ज्ञान हुआ कि ये तीनों पर हैं, परभाव हैं, इनसे निराला मैं ज्ञानस्वभाव हूं, तो ज्ञानस्वभावमें यह मैं हूं इस प्रकारका जो अनुभव है यही अनुभव इन तीनोंकी सफाई का कारण है। तो क्या बात चाहिए ? हमको स्वभावका दर्शन चाहिए। मैं सहजस्वभाव क्या हूं, यह परिचय चाहिए।

(२०८) **आत्महितके लिये विभावनिवृत्ति व स्वभाववृत्तिके प्रयोगको आवश्यकता**—देखो अपने सहज स्वरूपके परिचयके लिए दो नयोंका उपयोग बताया है—निश्चयनय, व्यवहारनय। या कहो शुद्धनय, अशुद्धनय। निश्चयनय और उनमें भी लीजिए परमशुद्ध निश्चयनय। उससे तो स्वभावका दर्शन हुआ, परिचय बना, मैं ऐसा निरपेक्ष चैतन्यस्वभावमात्र हूं और व्यवहारनयसे यह परिचय मिला कि ये रागद्वेषादिक विकल्प परभाव हैं, इनसे हटना चाहिए, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। देखो जरूरत दोनोंकी है, विकारसे हटना, स्वभावमें लगना। विकारसे हटनेमें प्रमुख सहयोगी है व्यवहारनय और स्वभावमें लगनेमें प्रमुख सहयोग है परमशुद्ध निश्चयनयका। विकारसे कैसे हटें ? कौन सा ज्ञान किया ? वह ज्ञान यही हुआ कि मेरे उपयोगमें जो विकार चल रहा है यह विकार मेरे स्वभावका नहीं किन्तु पौद्गलिक कर्मके विपाकके सन्निधानका निमित्त पाकर हुआ है। देखो व्यवहारनय एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं कहता, किन्तु वह घटना बताता है कि अमुक उपादान अमुक निमित्तको पाकर अमुक परिणतिसे यों परिणम गया। व्यवहारनयका सही विषय है घटना बताना, और, जो यह कहा

जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता है यह व्यवहार नयसे कहा है। तो यहाँ उपचारके एवजमें व्यवहारका नाम लिया गया है। कुछ जानकार पुरुषोंमें अलग-अलग शब्द नहीं बताये जाते कि यह उपचार वाला व्यवहार है, या प्रमाणके अंश वाला व्यवहार है। व्यवहार दो जगह प्रयुक्त होता है। एक तो प्रमाणके दो अंश हैं—निश्चय और व्यवहार। ७ नयोंमें जितने भी नय हैं सब सत्य हैं, तो व्यवहार एक तो प्रमाणका अंशरूप है और एक उपचार रूपसे। उपचार भाषामें कहा जाता है कि यह उसका कर्ता है, ऐसा उपचार मिथ्या है। याने उपचारने जिस भाषामें बोला उस भाषामें ही बात समझे तो मिथ्या है, पर व्यवहार-नयका विषय परकर्तृत्व आदि नहीं। वह घटना बताता है जो कि प्रमाणका अंशरूप है। जैसे दूध नाम गाय भैंसके दूधका भी है और आक, बड़, पीपल इनके दूधका भी नाम दूध है। तो कोई कहे कि दूध खराब है, खाना पीना न चाहिए, तो वह आक आदिकके दूधको ध्यानमें रखकर कहा जा रहा है। कहीं गाय, भैंसके दूधकी बात नहीं कही जा रही। तो इसी प्रकार जहाँ बताया जाय कि व्यवहार स्वयं जैसा कहता है वैसा सत्य नहीं है तो यह बात उपचार वाले व्यवहारकी है। प्रमाणके अंशरूप व्यवहारनयकी बात नहीं है। आप यहाँ यह परखें कि जब निश्चयनयसे स्वभावका दर्शन होता है तो वह तो एक साक्षात् उपाय है, पर निश्चयनयकी ऐसी पात्रता हममें आये कि हम एक दृष्टि करें और अपने स्वभावका दर्शन पायें। उसके लिए क्या करना होता? उसके लिए बताया है अभूतार्थनय। ७ तत्त्व, ६ पदार्थ आदिक जो भी वर्णन हैं, द्रव्य, गुण, पर्याय, यह सब वर्णन अभूतार्थनयसे होता है। अभूतार्थनय प्रतिपादक नहीं है, वर्णन करने वाला नहीं है किन्तु वह तो एक समझे समझाये तत्त्वको निगाहमें लाने वाला है। तो इस प्रकरणमें एक यह बात कही जा रही है कि निमित्तनैमित्तिक भावके ज्ञानसे हम विकारसे हटकर स्वभावमें किस तरह पहुंचते हैं? तो पहले कुछ वर्णन सुनो उनका।

(२०६) **जीवविकारकी व्यक्तिमें निमित्तका द्वैविध्य**—निमित्त बताये गए दो प्रकार के– (१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण। निमित्त सब जगह दो ही प्रकार बताये गए हैं—(१) उपादान और (२) निमित्त। लेकिन जीवके जब प्रकट विकार उत्पन्न होता है वहाँ दो प्रकारके निमित्त होते हैं विकारके प्रसंगके अलावा सर्व स्थितियोंमें निमित्त एक ही प्रकारका है— अन्वयव्यतिरेकी। वहाँ दो भेद नहीं पड़ते, लेकिन जीवमें जब रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिक व्यक्त विकार बनते हैं तो वहाँ दो प्रकारके निमित्त होते हैं—एक अन्वयव्यतिरेकी और दूसरा उपचरित निमित्त। कर्मका अनुभाग खिला, कर्मका उदय हुआ, यह तो है अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, अंतरंग निमित्त और पुत्र मित्र धन वैभव आदिक जिन-

जिनको ख्यालमें लाकर कषाय जगे वे कहलाते हैं उपचरित निमित्त। उपचरित निमित्तका अर्थ यह है कि उनमें उपयोग जोड़ें तो वे निमित्त कहलाते हैं, न उपयोग जोड़ें तो वे निमित्त नहीं कहलाते। इसको कह लीजिए काल्पनिक निमित्त। झूठा निमित्त, क्योंकि उनमें अन्वय व्यतिरेकपना नहीं है। तो जीव जब व्यक्त विकार करता है तो वहां दो प्रकारके निमित्त होते हैं—(१) अन्तरंग निमित्त, (२) बहिरंग निमित्त। बहिरंग निमित्तमें उपचरितपना है। हम उनकी कल्पना करें तो निमित्त बनते हैं, हम उनकी कल्पना न करें तो निमित्त नहीं बनते। लेकिन कर्मोदयमें कल्पनाकी कुछ भी बात नहीं है। हजारों लाखों करोड़ों वर्ष पहले कर्म बंधे हुए थे, वे सत्तामें है। उनकी स्थिति पूर्ण हो ले, उदयमें आये सो जब उदयमें आया तो अनुभाग खिला उसका परिणाम मूलतः कर्ममें है, पर उसकी छाया, माया, प्रतिफलन, यह उपयोगमें हुई। जैसे दर्पणके आगे लाल कपड़ा किया तो लालिमा तो कपड़ेमें है, पर उसका सन्निधान पाकर दर्पणमें भी लाल प्रतिबिम्ब है। तो ऐसे ही जब कर्मका उदयकाल आया तो कर्मकी बात कर्ममें हुई और उपयोग है चूंकि स्वच्छस्वरूप वाला, इसमें झलक गई वह सब कषाय जो कर्ममें प्रकट हुई। अब यह कहलाने लगी जीवरूप कषाय और वह कषाय कहलाती अजीवरूप कषाय। तो यह जो जीवकषाय है यह कषाय नैमित्तिक है। कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ है। मेरा स्वरूप नहीं है। मेरेको क्या इससे मतलब। जिसको सम्यक्त्व जगा। जिसको ज्ञानप्रकाश जगा वह सोचता है कि यह परभाव है, औपाधिक है। नैमित्तिक है। यह मेरा स्वरूप नहीं है। जैसे समयसारमें कहते कि कर्मोदय निष्पन्न है और भी कहते कि कर्मोदयसे ही जीवको सुख दुःख होता, तो यह नैमित्तिक भाव है। इससे मेरेको क्या मतलब मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, चैतन्यस्वरूप हूं। यों परिचय पाकर अपने अभेद ज्ञानप्रकाशमें आता है।

(२११) जीवविपाककी व पुद्गलविपाककी कर्मके निमित्तत्वका विश्लेषण— जीवविकारके निमित्तकी बात चल रही है कि देखो जो कर्म बांधे वे चार प्रकारके हैं— (१) जीवविपाकी, (२) पुद्गलविपाकी, (३) क्षेत्रविपाकी और (४) भवविपाकी। जीव विपाकी कर्म वे कहलाते हैं जिनका फल जीवमें रहता है। जैसे कषाय जगी तो यह जीव विपाकी कर्मोदयके निमित्तसे हुई। पुद्गलविपाकी कर्म वे कहलाते कि जिनका फल पुद्गलमें होता है, शरीरमें होता है। इस शरीरमें जैसे शरीरका रंग बने, स्पर्श बने, लम्बाई चौड़ाई बने, इसकी मजबूती बने जो जो बात शरीरकी बने उसका निमित्तभूत है पुद्गलविपाकी कर्म। बात बताई जा रही है इस आत्मप्रदेशमें होने वाली विडम्बनाकी। तो जीव विपाकी प्रकृतिका विपाक मोह-कषाय और आवरण आदिक रूपमें होता है। जैसे कपड़ा लाल है ना

और दर्पणमें सामने आया तो दर्पण भी लाल, तो लालिमा दो जगह है, ऐसे ही यह समझिये कि जो रागद्वेष क्रोध, मान. माया, लोभ आदिक कहते हैं ना, वे बातें दो जगह हैं (१) कर्ममें भी है (२) जीवमें भी हैं। कर्ममें जो परिणाम हैं उनका उपादान कर्म है। जीवमें जो विकार हैं उनका उपादान जीव है, किन्तु वे विकार नैमित्तिक है। जीवके स्वरूपसे उठ कर नहीं आये तो जीवविपाकी कर्ममें जो मोह जगा, कषाय जगो वह तो कर्ममें हैं और उसका जो प्रतिफलन हुआ विकार प्रतिबिम्ब उपयोगमें आया, उपयोगने फिर उसे भाव्य बन कर या वेदक बनकर भोगा। भाव्य बननेके मायने है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जैसी वृत्तिसे भोगना मोही उन कर्मोंके प्रतिबिंबोंमें एकमेक हो जाता है, अपने स्वरूपका भान नहीं रखता यह तो कहलाता है भाव्य बनकर भोगना और भेदविज्ञान भी रहे। किन्तु कर्मका ऐसा ही उदय है कि यह अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं हो पाता और बाह्य पदार्थोंमें उपयोग जोड़ता है तो यह कहलाता है वेदक बनकर भोगना। सो दोनों विधिसे इस जीवने लगाया तो उपयोग मलिन तो हुआ यह।

(२११) **विभावोंकी नैमित्तिकताके परिचयसे प्राप्तव्य शिक्षा**—देखो परख लिया, जीव विपाककी कर्मका उदय होनेपर होने वाले विकारकी हालत। यहाँ शिक्षा लेना है कि बहिरंग निमित्तका परिचय तो इसलिए है कि तुम इन इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंमें उपयोग मत जोड़ो। इसका संबंध हुआ चरणानुयोगसे। चरणानुयोग यह ही तो कहता है कि तुम त्याग करो, इसमें उपयोग मत जोड़ो। इससे उपयोग हटावो। कैसे हटे उपयोग? तो इसका क्षेत्रसे परिहार करें और ज्ञानको प्रबल बनावें। और इसमें उपयोग मत जोड़ें। और जो अन्तरंग निमित्तका परिचय मिला है कि कर्मका उदय है उस समय यह उपयोग हुआ है, तो यहाँ यह समझें कि ये नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं, मेरे स्वभाव नहीं। ऐसा जानकर उससे हट जायें और शुद्धनयका अवलम्बन करके, परम शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करके अपने ज्ञान-स्वरूपमें मग्न होइये। देखा, जीव विपाकी कर्म किस तरह अपना कार्य करता है और कैसे विकारका निमित्त बनता है।

(२१-) **पुद्गल विपाकी**—अब पुद्गल विपाकी कर्म देखिये यह बात एकदम सहसा नहीं दृष्टिमें आती। कितनी ही बातें ऐसी हैं जो समयसारमें इंगित हैं और वहाँसे झट पकड़ में आती हैं। अजीवाधिकारमें जहाँ यह लिखा है कि बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदिक ये सब नाम कर्मकी प्रकृतियोंसे रचे गए हैं, वहां भाव क्या है कि देखो शब्द तो यह बतलाते हैं कि मानो शरीरका कर्म ही उपादान बन गया, ऐसा वहाँ शब्द डाला। नामकर्मकी प्रकृतिसे निर्वर्त्य-मान है। उदाहरण ऐसा दिया कि जैसे लोहेसे रची गई तलवार लोहामय है, श्री अमृतचन्द्र

सूरिने दृष्टान्त दिया है यह, तो उससे तो ऐसा विदित होता कि मानो इस शरीरका उपादान ही कर्म है. लेकिन इसका रहस्य जानना होगा कि कितना सहयोग है उससे। जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया. उपचारमें तो कहा ही जायगा तो वहाँ घड़ा तो बना मिट्टीसे ना ? घड़ेका उपादान मिट्टी है। लेकिन उसमें पानी लगाया, मिट्टीको गीला किया और उसका घड़ा बना। घड़ा बना चुकनेपर सूखनेपर पानीका अंश वहाँ जरा भी नहीं रहता, लेकिन जैसे घड़ेके बनने में पानीका सहयोग है, इसी प्रकार शरीरके बननेमें उपादान तो है शरीरकी वर्गणा, लेकिन यहाँ इस नामकर्म प्रकृतिका तो सहयोग है और क्षणमात्रको थोड़ा उससे चिपट रखकर फिर अलग होकर अकर्मरूप हो जाता है, इसीलिए पुद्गल विपाकी कर्मप्रकृति नामसे कही गई है। यहाँ निमित्त दो प्रकारके नहीं हुए। यह बात बताते हैं शरीर रचनेमें नामकर्म निमित्त है सो वहाँ उपचरित निमित्त कुछ भी नहीं होता। उपचरित निमित्त केवल जीवके कषाय विकार के प्रसंगमें ही हुआ करता है। सो देखो उपचरित निमित्तमें उपयोग मत जोड़ें। ये कल्पित निमित्त हैं। उपयोग जोड़ें तो निमित्त बनते हैं, न जोड़ें तो नहीं बनते। अच्छा और जो अंतरंग निमित्त है उसका उदय होनेपर अव्यक्त विकार होता तो जरूर, पर इसको मेटनेका उपाय क्या है ? व्यक्त विकार न किया जाय। उपचरित निमित्तमें उपयोग न जोड़ें। व्यक्त विकार न हो तो वहाँ सम्वर और निर्जरा होती है। सो उन कर्मोंमें एक सम्वर निर्जरा होने से क्षीणता होती है।

(२१३) **पारतन्त्र्यविनाश व स्वातन्त्र्य लाभके लिये व्यवहारनयका विरोध न कर निश्चयनयका आलम्बन लेकर ज्ञानानुभवके उपायकी अविफलता**—यहाँ मुख्य दो बातें कही जा रही हैं कि जैसे कोई देश आजाद होता है तो उसमें दो उपाय अपनाये जाते हैं कि विदेशी वस्तुओंका तो असहयोग करें और अपने देशका आग्रह करें ऐसे ही जब अपनेको मुक्ति चाहिए, इन झंझटोंसे छुटकारा चाहिए जो अनादिकालसे अब तक बंधन चले आये हैं, उससे निवृत्त होनेके लिये भी दो उपाय चाहिए कि परभावसे तो असहयोग और स्वभावका आग्रह बनायें। परभाव क्या हैं ? रागादिक विकार। इनका तो असहयोग बनायें, ये मेरे नहीं हैं, मुझे इनसे मतलब नहीं, इनसे तो हमारी परतंत्रता बढ़ती है। जब भारत आजाद हुआ तो बहिष्कार किया, विलायतकी चीजें मत खरीदें, उससे हमारा देश निर्बल होता है। तो इस प्रकार जो परभाव हैं, कषाय हैं, इनको मत अपनावें, इनको समझें परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। इनसे सहयोग मत करें। इनसे पीठ मोड़ें और स्वभाव क्या है, अपना पारिणामिक भावमय अनादि अनन्त निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव उसको समझें कि यह मैं हूं। जो मैं हूं सो मेरा, सो ही मेरा शरण। यह मैं हूं, इस प्रकारका यहाँ आग्रह बनावें। तो निवृत्ति और प्रवृत्ति ये

दोनों ही आवश्यक हो गए इस मुमुक्षुको, इस ज्ञानी संतको, तो विभावनिवृत्तिकी शिक्षा मिली निमित्तनैमित्तिक भावके यथार्थ परिचयसे और स्वभावके आग्रहकी शिक्षा मिली परम शुद्ध निश्चयनय अथवा कहो शुद्धनयसे, इसके आलम्बनसे। इसी कारण बताया है प्रवचनसारमें कि व्यवहारनयका विरोध न कर, मध्यस्थ होकर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करना चाहिए। यह ही एक आम्नायकी निधि है कि जिससे यह जीव अब इस विकारसे हटकर परभावमें मग्न हो सकता है? क्या झट ध्यान दिया जाय? कैसे हम झट अपनी दृष्टि लायें? ये विकार जो हममें झलकत हैं, उछलते हैं, प्रतिबिम्बित होते हैं ये मेरे स्वरूप नहीं। यह तो कर्मविपाककी छाप है। कहा ना समयसारमें, यह सब कर्मका नाच है तो नचो। इसमें मेरा कुछ नहीं। मैं तो इनसे निराला एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूं।

(२१४) जिनवचनामृतसिन्धुसे सहजसिद्धज्ञानस्वभाव सुधारसकी धाराका प्रवाह— जैन सिद्धान्तके जितने भी वचन हैं उनका प्रयोजन है अपने सहजस्वरूपका परिचय पावो और यहां ही यह अनुभव करो कि यह ही मैं हूं अन्य सब कुछ तो विडम्बना है, औपाधिक है। नैमित्तिक है, प्रासंगिक है, यह सब मेरा स्वरूप नहीं, यों विभावसे असहयोग करके अपने स्वभावमें आनेको धर्म पालन कहते हैं। अब ऐसा समझ तो लिया हमने और यह भी जान रहे हैं कि जैसा हमने जाना वैसा हम इसी समय क्यों नही कर डालते? बड़ी उमंग भी हो तब भी नहीं कर पा रहे। तो इसका कारण क्या कि मैंने पहले जो अज्ञानमें वासनायें रखी थी सो अज्ञान तो मिटा मगर अभी वासना नहीं मिटी। उससे हम कलुषित होकर बाहरी विषयोंको अपनाते हैं। उनमें दिल लगाते हैं। तो हमको भेदविज्ञान करना है कि जिनमें हम दिल लगाते ये तो प्रकट भिन्न हैं और काल्पनिक हैं। इनका मेरे विकारके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं कि इन चीजोंके होनेपर राग हो और न होने पर राग न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। देखो कोई ज्ञानी विरक्त हो गया, मुनि हो गए। कभी खुदकी पूर्वकी स्त्री ही आहार दे रही, पर मुनिके विकार नहीं होता। तो अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध भी न रहा और कहो स्त्रीको त्याग भी दिया हो और ख्यालमें स्त्री लाये तो वहाँ उसे विकल्प जगता। जैसे पुष्पडालमुनिका कथानक है। तो वहाँ कल्पनासे निमित्त बना। सो इसमें उपयोग न देना। यह बल बनावें भेदविज्ञान करके और सीधे जो विडम्बना और प्रहार हो रहा है भीतर उपयोगमें कषाय प्रतिफलनका वहाँ भेदविज्ञान बनावें। यह मेरे स्वभावकी चीज नहीं। ये तो नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं। उससे हटना और शुद्धनयका आलम्बन लेकर अपने स्वभावका आश्रय करना, बस यह ही काम पड़ा है, किन्तु नहीं कर पाते हैं, वासनायें सताती हैं। उन वासनाओंको मिटानेके लिए

या उस समयका आक्रमण रोकनेके लिए हम अपना व्यवहार ऐसा पवित्र बनायें, सदाचार का व्रत, संयम, साधनाका कि जिसमें हमारा उपयोग पापमें व्यसनमें न जाय। किसी देव, शास्त्र, गुरुके सत्संग और भावनामें लगें ताकि हमारी पात्रता रह सके कि हम शुद्ध स्वभाव का दर्शन पा लें। तो जितना भी वर्णन है वह आत्माके स्वभावकी उपासनाके लिए होता है। हम प्रत्येक वचनसे यह शिक्षा लें कि मैं अपनेमें यह पहचान बना लूँ कि मैं यह ज्ञान-स्वभावरूप हूं।

—०—

(५०)

(२१५) **व्यवहारसंयमसे अपनी पात्रता बनाकर सहजज्ञानस्वभावकी अनुभूतिकला से चैतन्यचन्द्रका विकास पानेका संदेश**—संसारके संकटोंसे छूटनेके लिए अपनेको काम क्या करना है कि अपना जो सहज स्वभाव है उसमें अनुभव करना है कि यह मैं हूँ। ऐसी दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति हो तो इसकी दृढ़ताके प्रतापसे सर्वसंकट दूर हो जाते हैं। अब दूसरी बात देखो—मैं अपने आत्माके सहज स्वभावका दर्शन करूँ, इसके लिए क्या चाहिए ? तो साक्षात् तो दृष्टि ही चाहिए पर और क्या करना चाहिए कि सारे विकल्प छोड़ देना चाहिए। जब तक किसी भी वस्तुके बारेमें कोई विकल्प रहता है तब तक आत्माके ज्ञानस्वभावका अनुभव नहीं बनता। अच्छा इन सारे विकल्पोंको छोड़नेके लिए क्या चाहिए ? एक बार कुछ क्षण स्वभावकी झलक चाहिए, क्योंकि उपयोग कहाँ लगे कि ये सारे विकल्प झड़ जायें ? यह उपयोग तो कहीं न कहीं लगेगा। अच्छा तो अपने स्वभावकी झलक आये उसके पहले पात्र तो बनें। उस पात्रताके लायक तो हम बनें कि जिसमें हम अपने स्वभावकी झाँकी ले सकें। तो उसके पात्र बननेके लिए दो बातोंका ध्यान रखना जरूरी है—(१) अन्तरंग बातका और (२) बहिरंग बातका। अंतरंग तो यह है कि वस्तुके स्वरूपका अभ्यास बनावें। आत्मा क्या वस्तु है ? एक परमार्थ सत् है। मैं हूं, वह अवक्तव्य हैं, अभेद है, पर उसका परिचय पानेके लिए भेदप्रतिपादक अभूतार्थनयसे द्रव्य गुण पर्याय शक्तियाँ, इन सबको जानना चाहिए। वस्तुस्वरूपके यथार्थ अभ्यास द्वारा स्वभावकी झलक होती है। अब वस्तुस्वरूपका हम यथार्थ अभ्यास कर सकें और स्वभावकी झाँकी ले सकें, इसके लिए बहिरंगमें चाहिए कि अपनी शक्ति माफिक व्यवहारचारित्रमें रहें। कोई पुरुष रात्रिको भी खाये, अभक्ष्य भी खाये, व्यसन में रहे तो ऐसी उद्दण्ड प्रवृत्ति वाला कहीं स्वभावकी झाँकी लेनेका पात्र हो सकता है ? वस

पापका त्याग करना, गुणी जनोंको देखकर हृदयमें हर्ष लाना, विनम्र भावसे रहना, यह है हमारा एक सद्व्यवहार जिसमें हमको मंदकषाय बनी रहे और हम स्वभावदर्शनके पात्र हो सके। मंदकषाय होना बहुत आवश्यक है। और मंद कषायके ही साधक हैं ये सब हमारे नियम व्रत, तप संयम। वैसे भी देखो कि इस शरीरके द्वारा हम अपनी इन्द्रियविषयोंकी पूर्ति के लिए बड़े-बड़े कष्ट भी सह डालते हैं। कामोंमें जगह-जगह डोलते हैं और कष्ट भी सहते हैं, और चाहते हैं कि मेरा यह शरीर बड़े आराममें रहे। जिसको शरीरको आराममें रखनेकी इच्छा नहीं है वह ही पुरुष नियम संयममें प्रवृत्ति कर सकता है और जिसको शरीरका लोभ लगा है, मेरे खानेमें बाधा न आये। मेरे आराममें फर्क न पड़े, अनेक बार झट-झट प्यास लगे तो पानी पियें ऐसे जो अपने शरीरके बहुत आरामके लोभी हैं उनसे संयम नहीं बन सकता, और जब उनसे कुछ संयम नहीं बन सकता, और जब उनसे कुछ संयम नहीं सध सकता तो दूसरोंकी दृष्टिमें हम गिर न जायें इसके लिए ऐसा ही तो समझायेगा कि संयम विष है, व्रत विष है, इनसे पार नहीं होते, क्योंकि खुद तो शरीरके लोभके कारण संयमकी आकांक्षा नहीं रखते तो दूसरोंकी दृष्टिमें हम कैसे महान् कहला सकें उसके लिए यह ही वर्णन किया जा सकेगा, चाहे दूसरोंका अनर्थ हो तो हो, पर एक अपने आपकी बढ़वारी हो।

(२१६) **असंयमकी आसक्ति व उच्च कहलवानेकी आकांक्षा इन दो दुर्भावोंके संगम में स्वपरविध्वंसक प्रवृत्तियां**—कोई समय था जब कि एक उच्च वर्ग बहुत नियम संयमसे रहता था और तब ही तो भरत चक्रवर्तीने ब्रह्मवेदी वर्ण बनाया था कि जो खासकर त्यागी, ज्ञानी, विरक्त संन्यासीसे थे सबके गुरु बना दिए गए थे। कुछ दिन ऐसा ही चलता रहा, बाद में वे गृहस्थ बने, बाल बच्चे हुए, कमाईकी आवश्यकता हुई, दूसरे सब काम करते गए, करते करते कुछ उनको मांस खानेकी इच्छा जगी। सोचा कि लोकमें हम बड़े कहलाते हैं सो ऐसा यत्न करें कि जिससे लोकमें हमारी पूज्यता भी बनी रहे और हम मांसभक्षण भी करते रहें, फिर सोचा कि अगर हम मरे हुए जीवका मांस खाते हैं तो इसमें तो लोकनिन्दा होगी इसलिए ऐसा उपाय रचा कि जिन्दा ही जीव अग्निमें झोंक दें, उसे यज्ञका (धर्मकार्यका) नाम दे दें और उन जिन्दा ही अग्निमें भूने हुए मांसका प्रसाद नाम देकर उनका भक्षण करें, यही यत्न उनका चलता रहा। जिन्दा ही घोड़ा, बकरा, भेड़ आदि पशुओंको अग्निमें होम दिया जाता था और उनका मांस प्रसादरूपमें भक्षण किया जाता था। यों प्रवृत्ति उनकी चली। तो जो बड़े पुरुष होते हैं और उनके मनमें कोई खोटा काम करनेकी इच्छा होती है तो उसका ऐसा रूपक बनाते हैं कि दुनियामें हम गिर न जायें और हम अपना काम बनायें।

(२१७) **संयमके सर्वशा विफलत्वकी असंभावना**—भैया ! सोचो अपने अपने हितकी बात । मेरा देह, यह बेकार घिनावना शरीर यों ही जायगा । इसको छोड़कर जाना पड़ेगा । हम शुद्ध खान पानसे रहें तो । कुछ नियम धर्मसे रहें तो इसे फोकट ही जान लें, तो भी क्या हर्ज है ? जहाँ दसों ही काम फोकट करते हैं वहाँ एक संयमका काम कर लें, जिसे बेकार समझते । तो हमारे सैंकडों काम तो बेकार चल रहे हैं, विषय साधनोंके लिए, एक और सही बेकार, मगर एक पद्धतिमें परम्परामें रहनेसे कुछ तो लाभ होगा, मंद कषाय होगी, सुगतिका लाभ होगा, आगे स्वलक्ष्यमें बढ़ेंगे, हाँ वस्तुस्वरूपके ज्ञानका अभ्यास न छोड़ें । इन दो बातोंको खूब ध्यानमें रखें कि हम शक्ति अनुसार बाहरमें कुछ संयम रखें । रात्रिको न खावें, अभक्ष्य न खावें, शुद्ध भोजन करने आदिक हमारे व्यवहार ठीक रहें और भीतरमें हम अपने सहज ज्ञानस्वरूपको उपासना बनाये रहें, क्योंकि निश्चयतः तो यह ही करना है ना । ये तो बाहरके साधन हैं सो एक जरूरत पड़ गई । उन साधनोंको करते हैं, उन पर साधनोंसे चिपटकर तो नहीं रहना है याने दृष्टि लक्ष्य इन बाहरी प्रवृत्तियोंपर नहीं रखना है, पर इतना साफ स्वच्छ ज्ञान बने कि क्रिया कलाप हमारा सहज चलता रहे । उसमें अधिक दिमाग नहीं लगाना पड़ता और भीतरमें अपने स्वरूपकी आराधनाका काम करते रहें । इस तरह स्वभाव की झाँकी होगी और स्वभावका हम अनुभव कर सके, एक तो ऐसा मनुष्य, और दूसरा ऐसा मनुष्य जो तीव्र कषाय रखता है, अधिक क्रोध, अधिक घमंड, अधिक मायाचार और अपने स्वार्थका लोभ, तो ऐसी जो तीव्र कषाय रखता है, देखो शरीरको ऐश आराममें रखे रहनेका भाव बनाना भी तीव्र कषाय है । यह न समझें कि क्रोध ही तीव्र कषाय है । क्रोध तो द्वेष रूप तीव्र कषाय है । सो वह लोगोंको दिख जाता है, मगर तृष्णा, लोभ, देहमें यशकी चाह यह भीतरी कषाय है जो दूसरोंको नहीं दिखती मगर यह कषाय क्रोधसे भी तीव्र कषाय बन सकती है । इसलिए सोचो, देहको मुझे आराममें रखना है क्या ? नियम कुछ भी न करना, रात्रिको न खाना । भूख लगे तो तुरन्त खाना, चार-पाँच बार खाना, क्या यह जरूरी है ? अरे जब चाहे खाया, जो चाहे खाया, रात दिन न देखा, भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ विचार न किया, ऐसी प्रवृत्ति जिनकी होती है, जरा सोचो तो सही कि देहमें आत्मबुद्धि है तब ही तो यह प्रवृत्ति होती है ? यह देह आराममें रहे, इसे कष्ट न हो, ऐसी जिनकी प्रवृत्ति है उनकी ही अविरतकी प्रवृत्ति ज्यादह रहती है । तो इस शरीरमें इतना मोह न रखें, इसे ऐश आराम में बनाये रखनेकी बुद्धि न रखें । होने दो कष्ट । जब पापका उदय आता और बड़े बड़े कष्ट इसको झेलने पड़ते तो वहाँ तो इसे कुछ ध्यान होता है और यहाँ एक मंद कषायके लिए भी कुछ कष्टसहिष्णु न होना चाहें तो भाई क्या हालत होगी सो आजकी दशा ही प्रमाण है ।

दो बातें अवश्य ध्यानमें रखें, हमारी व्यवहार परम्परा जो आगम चला आया उसमें गड़बड़ी नहीं है और परम्परामें रहते हुए हम भीतरमें अपने ज्ञानस्वभावकी उपासना करें, यह ही ता काम करना है। सो भीतरका काम तो छोड़ दिया और कषाय भी जगा लो कि बाहर बाहर ही देखते रहना, यह दोष है, अमुक यों है, यह यों है, यह यों नहीं है। यह उपयोग भ्रमाते हैं। अरे बाह्य एक मिनटमें निपट लें, अपने सद् व्यवहारमें रहकर और भीतरमें निरन्तर अपने स्वभावकी साधना करें, यह कहलाता है विवेक और भीतरका लक्ष्य छोड़ दें और बाहर ही बाहर घृणा, अमुक तमुक इनमें उपयोग लगायें तो अपनी बात सोचो, अपने कल्याणका मार्ग ऐसा नहीं है। हाँ तो जो तीव्र कषायका लोभी है, जिसके तीव्र कषाय जग रही है, वह तो नियम, तप, व्रत कुछ नहीं ले सकता। वह तो व्यवहार चारित्रका भी अपात्र ही रहता है। वह वस्तुस्वरूपके तथ्यको नहीं प्राप्त हो सकता तो वह स्वभावका दर्शन कैसे करेगा ?

(२१८) अपनेको नियन्त्रित कर ज्ञानमें नियन्त्रित होनेका कर्तव्य—एक बात चित्त में रखो इस जगतमें हम केवल अकेले हैं, अपने ही हम जिम्मेदार हैं। अपना ही हम बुरा कर लें, भला कर लें, पाप करें, पुण्य करें, धर्म करें, संसारमें रुलें, मोक्ष पायें, सब हमको अकेले ही करना हैं। मेरा कोई दूसरा सहायक नहीं है। तो अपनी वृत्ति ऐसी बनायें कि उलझनमें न रहें, शल्यमें न रहें और अपने ज्ञानस्वभावकी आराधनामें उत्तरोत्तर बढ़ते रहें। इसके लिए अगर कोई ज्यादह ज्ञान नहीं पा रहा तो भी घबड़ानेकी बात नहीं। इतना भर जान लें कि संसारके सारे समागम बेकार हैं असार हैं, मैं इनको चित्तमें न बसाऊँगा। इतनी भर बुद्धि जगे और भीतरमें ऐसा पुरुषार्थ करें कि मुझे कुछ भी पदार्थको चित्तमें नहीं बसाना, ऐसा उद्यम करें और जिस क्षण चित्तमें कोई बाहरी पदार्थ न बसे उस क्षण अपने आप अपने भीतर स्वभावका दर्शन हो जायगा। मंद कषायसे रहनेमें बहुत गुण हैं और मंद कषायका ही नाम व्यवहारधर्म है। मंदकषायका ही नाम शुभोपयोग है तो शुभोपयोगमें रह कर हम अपनेको पात्र बनाते है, लायक बनाते हैं कि हम अभेदज्ञानवृत्तिके बलसे स्वभाव का दर्शन कर सकें और ज्ञानका अनुभव बनायें। तो जो पुरुष ज्ञानदृष्टिका पात्र ही नहीं है वह विकल्पको छोड़ कैसे सकेगा ? वह स्वभावका अनुभव नहीं कर सकता। तो अब देखो निष्कर्षमें एक तो ऐसा कहना, कहते ही रहना जिन्दगीभर कि देखो कुछ भी नियम मत लो सम्यक्त्व पहले पैदा हो तब कोई नियम लेना। तो सम्यक्त्व पैदा होनेका कुछ ठिकाना नहीं चिन्ह भी नहीं, पहिचान भी नहीं। हाँ पहिचान तो है कि जिसे सम्यक्त्व हो जाय उसको संयमकी और चटापटी लगी रहती है। कब संयम लें, कब भवसे पार हों ? तो वे चिन्ह भी नहीं दिखते और कुछ ज्ञानकी कोई बात भी न बनी और संयम भी कोई व्यवहारमें नहीं लिया, एक तो ऐसा पुरुष जो यह गाता ही रहे कि सब झूठ है, सब बेकार

है। सम्यक्त्व लें, पीछे व्रत करना। तथा दूसरा ऐसा पुरुष जो सम्यक्त्व प्राप्त करनेके उद्यम में लगा है, ज्ञानस्वरूपकी उपासनाके प्रयासमें लगा है, निरन्तर वस्तुस्वरूपका अभ्यास बनाये रहता है और व्यवहारमें भी अपने नियमसे चलता है। अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाना, रात्रि-भोजन नहीं करता, देवदर्शन करता, गुरुजनोंका, ज्ञानी जनोंका विनय करता, उनमें नम्रताका परिणाम रखता, साधु संतोंकी वैयावृत्तिका भाव रखता, यह भी कर रहा है और भीतरमें सम्यक्त्वका उद्यम भी चल रहा है, ज्ञानसाधनाका काम भी कर रहा है। अब देखो यदि इस संयमप्रवृत्त पुरुषको ज्ञान जग गया, सम्यक्त्व हुआ तो वह संयम मोक्षमार्गका साधक बन जायगा, और सम्यक्त्व न हो तो भी उसका इतना तो परिणाम है कि उसे नरकगतिमें न जाना पड़ेगा। कोई धर्म प्रसंग वाली गति मिल गयी तो वह वहाँ मोक्षोपयोगी बाकी काम कर लेगा, जो धर्मके लिए काम करना है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनकी पूर्ति करना है तो वहाँ कर लेगा। तो यहाँ यह देखो कि व्यवहारधर्ममें शुभोपयोगमें कोई रहता है तो उसका बुरा तो नहीं हुआ। जितना हो सकेगा उतना भला तो होगा पर बुरा न होगा।

(२१६) शुभोपयोग करते हुए शुभरागसे भी निवृत्तिका ज्ञानीका लक्ष्य—हाँ इतना ज्ञान अवश्य रखें कि शुभोपयोग और आत्मध्यान ये ही नहीं करते रहना है। यह तो एक ऐसी औषधि है कि जिसके बलसे ये औषधिके काम छूटें। जैसे कोई रोगी है तो वह दवा पीता है, कड़वी हो या मीठी हो, उसे पीता है। उसके पीनेमें वह राग भी करता है। दवा मिलनेमें जरा देर हो गई तो वह बहुत झुंझलाता है। पर यह बताओ कि क्या उसका आशय यह रहता है कि मुझे ऐसी ही औषधि जीवनभर पीनेको मिलती रहे? अरे उसे न पीना पड़े इस आशयसे वह पीता है, बस यही स्थिति एक ज्ञानी पुरुषकी होती है। ज्ञानी भी तो रोगी है। वह अभी मोक्षमें तो नहीं पहुंच गया। वह अभी बड़े फंसावमें है, अनेक उलझनोंमें, परेशानियोंमें उसे आना पड़ता है। घर भी लगा हुआ है। तो यह ज्ञानी शुभोपयोगको औषधि की तरह पालन करता है और तब ही तो देखो सवेरा होते ही मंदिरमें आता, पूजा करता, गुरुजनोंकी यथाशक्ति सेवा करता, बड़ोंसे नम्र बनकर रहता, इन सब शुभोपयोगोंका पालन कर रहा, औषधि पी रहा यह ज्ञानी गृहस्थ। मगर मनमें यह भाव नहीं रखता कि ऐसा शुभोपयोग मैं अनन्तकाल तक करता रहूं। वह तो यही चाहता कि शुभोपयोगसे छूटकर मैं कब शुद्धोपयोगमें रहूं। जैसे औषधि छूट जाय इसके लिए औषधि पी जाती, ऐसे ही सब प्रकारके राग छूट जायें इसके लिए ही शुभोपयोगको सेवता है। तो आप यह बतावो कि कौनसा बेकार काम होगा? आप १०० काम तो बेकार करते और यहाँ सद्व्यवहारसे घृणा करनेका संकल्प बनाया, शुभोपयोगको पुण्यकी बात कहकर या सुनकर एक अपना चित्त ऐसा विकृत बनाया कि शुद्धोपयोगकी चर्चामें उतना समय नहीं देते जितना निन्दामें ही उपयोग

रखते, संयमकी भावना भी न रही, तो बतलावो कौनसा बड़ा काम कर लिया ? और संयम में रहकर भीतरमें ज्ञानस्वभावकी उपासना बनायें, उसका ज्ञान जग गया तो यह ही संयम मोक्षमार्गका साधक रहेगा। ज्ञान न जगे तो कमसे कम इस संयमके प्रतापसे सद्‌गति तो मिलेगी। तो मुक्तिके लिए जो काम मेरा रह गया था उसे हम वहाँ सम्हाल लेंगे। तो इस तरह व्यवहार विशुद्ध रखना होगा।

(२२०) **सद्व्यवहारसे आत्माको सुरक्षित कर ज्ञानानुभूतिके परमपौरुषका कर्तव्य**— भीतरमें अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि बनावें। खूब सर्वमें समता भाव रखते हुए भीतरमें अपनी स्वभावदृष्टि बनावें। गुणी जनोंको देखकर हर्ष उमंग उठे, ऐसी प्रकृति बनाकर आप अपने ज्ञानस्वभावकी उपासनामें लगें, ऐसा अपने आप काम कर सकेंगे भीतर, मगर दूसरेमें विरोध रखकर ज्ञान आराधनामें लगें यह बात न बन सकेगी। गुणी जनोंसे घृणा रखकर इस ज्ञानाराधनामें लगे, यह बात नहीं बन सकती। इसलिए व्यवहार सद्व्यवहार तो आपके लिए ढालकी तरह है कि आप सुरक्षित तो रह लेंगे, और सुरक्षित रहकर भीतरमें अपने इस ज्ञानको उपासनाके बलसे आप अपनेमें ज्ञान विकास करें, निर्विकल्प बने, ज्ञानानुभूति करें। इस तरहकी वृत्ति बनायें। दुनियामें कोई हमारा शरण नहीं, खुद ही खुदके शरण हैं, इसलिए खुदकी रक्षा और खुदका विकास जिस पद्धतिमें हो उस पद्धतिसे चलें। देह छूटेगा। आगे कुछ भविष्य अच्छा बने और ऐसा धर्मप्रसंग मिलता रहे कि जिससे हम पार हो जायें। अब देखो पूजाके बाद आचार्यदेवने बताया है—समाधिभक्तिमें पूज्यपाद स्वामीने कि ७ भावनायें शास्त्राभ्यासो जिनपतिनतिः संगतिः सर्वदार्यैः। सद्वृत्तानां गुणगण कथा दोषवादे च मौनं। सर्वस्यापि प्रिय हितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः। अर्थात् शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्रदेवकी भक्ति, सदा सज्जनोंको संगति, गुणियोंके गुण बखानना, किसी के दोष न बोलना, सबसे हितमित प्रिय वचन बोलना और अपने आत्मस्वभावकी भावना बनाये रहना। हे प्रभो, ये ७ बातें मुझे भव भवमें मिलें, जब तक कि मेरी मुक्ति न हो। तो ये ७ बातें एक ऐसी रक्षाको उपाय हैं कि जिनसे यह जीव धैर्य, शान्ति, संतोष, समता, ज्ञानानुभव आदि सभी अभीष्ट तत्त्वोंको प्राप्त करता है। इससे जो आचार्य संतोके उपदेश हैं—सबमें मित्रता रखें, गुणियोंमें हर्षभाव रखें, दुखियोंको देखकर दयाका भाव लायें अज्ञानी जनोंमें मध्यस्थता रखें, ६ आवश्यकोंका पालन करें, ऐसा हम व्यवहार बनाकर सुरक्षित रहें और भीतरमें ज्ञानस्वभावकी खूब उपासना बनायें। निश्चयसम्यक्त्व, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्रके लाभके लिए अपने स्वभावका आलम्बन लें, भीतरमें काम अपना बनायें, भीतरमें अपनी रक्षाका साधन बनायें, ऐसी वृत्तिसे हम आप सबका अवश्य कल्याण होगा।

।। सहजानन्द वस्तु—तथ्य प्रवचन समाप्त ।।